

GL H 294 482
SID



120842
LBSNAA

राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी

Academy of Administration

मसूरी

MUSSOORIE

पुस्तकालय

LIBRARY

अवधि मख्या

Accession No. _

वर्ग मख्या

Class No. _

पुस्तक मख्या

Book No. _

120842
13723

H 294.482

सिद्धान्त

SID

रायचंद्रजैनशास्त्रमाला ।



श्रीमन्नेमिचन्द्रसैद्धान्तिकचक्रवर्तिरचित

गोम्मटसार ।

(जीवकाण्ड)

न्या. वा. वा. ग. केसरी स्या. वारिधि पं. गोपालदासजी
वरैयाके अन्यतम शिष्य पं. खूबचन्द्र जैनद्वारारचित

संस्कृतछाया तथा बालबोधिनीटीकासहित ।

(द्वितीयावृत्ति २००० प्रत)

जिसको

श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल बम्बईके स्वत्वाधिकारियोंने

‘मुंबईवैभव प्रेस’में छापाकर

प्रकाशित किया.

श्रीवीरनिर्वाण संवत् २४५३ ईस्वीसन १९२७

मूल्य ३ रुपया.

मुद्रक:—चिंतामण सखाराम देवळे, मुंबईमैमव प्रेस, गव्हर्नर्स ऑफ इंडिया
सोसायटीज् बिल्डिंग, गैडस्ट रोड, गिरगाव, मुंबई.

प्रकाशक—शा. रेवाशंकर जगजीवन जवेरी, आनरेरी व्यवस्थापक, श्री परमश्रुत
प्रभावक मंडल, जवेरीबजार, वम्बई २.



प्रस्तावना.

इस ग्रंथके रचायिता श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती हैं। आपके पवित्र जन्मसे यह भारत भूमि किस समय अर्जकृत हुई यह ठीक २ नहीं कहा जा सकता, तथापि इतिहासान्वेषी विक्रमकी ग्यारहमी शताब्दीके प्रारम्भमें या उसके कुछ पूर्व ही बहुधा आपने अपने भवभंजक उपदेशसे भयोंको कृतार्थ किया था यह सिद्ध करते हैं। इस सिद्धिमें जो प्रमाण दिये जाते हैं उनमेंसे कुछ का हम यहांपर संक्षेपमें उल्लेख करते हैं।

बृहद्द्रव्यसंग्रहकी भूमिकामें पं. जवाहरलालजी शास्त्रीने आपका शक संवत् ६०० (वि. सं. ७३५) निश्चित किया है। क्योंकि श्रीनेमिचंद्र स्वामी तथा श्रीचामुण्डराय दोनोंही समकालीन थे। और श्री चामुण्डरायके विषयमें 'बाहुबलिचरित'में लिखा है कि:—

‘कल्क्यवदे षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पंचम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिविषसे कुम्भलक्ष्मे सुयोगे।
सौभाग्ये हस्तनाम्नि प्रकटितभगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम् ॥ ५५ ॥

अर्थात् शक सं. ६०० में चैत्र शुक्ला ५ रविवारके दिन श्रीचामुण्डरायने श्रीगोमटस्वामीकी प्रतिष्ठा की। परंतु यदि दूसरे प्रमाणोंसे इस कथन की तुलना की जाय तो इसमें बाधा आकर उपस्थित होती है। क्योंकि बाहुबलिचरितमें ही यह बात लिखी हुई है कि ‘देशीयगणके प्रधानभूत श्री अजितसेन मुनिको नमस्कार करके श्रीचामुण्डराय ने श्रीबाहुबली की प्रतिमाके विषयमें वृत्तान्त कहा,’ यथा:—

‘पश्चात्सोजितसेनपण्डितमुनि देशीगणाग्नेसरम्
स्वरयाधिप्यसुखाद्विधधनशशिश्रीनन्दिस्त्वाधिपम्।
श्रीमद्ग।सुरसिहर्नदिमुनिपाङ्गध्याम्भोजरोलम्बकम्
चानम्य प्रवदत्सुपौवनपुरीश्रीदोर्बलेवृत्तकम् ॥’

श्रीमन्नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीने भी गोमटसारमें श्री अजितसेनका स्मरण किया है। और उनको श्रीचामुण्डरायका गुरु बतलाया है। यथा:—

‘जिम्हिगुणा विस्संता गणहरदेवादि इड्डिपत्ताणं।
सो अजियसेणणाहो जस्स गुरु जयउ सो राओ ॥’

१ यहांपर कल्की शब्दसे जो शकका ग्रहण पं. जवाहरलालजी शास्त्रीने किया है वह किस तरह किया यह हमारी समझमें नहीं आया।

और भी—“ अज्जसेणगुणगणसमूहसंधारि अजियसेणगुरु ।

भुवणगुरु जस्स गुरु सो राओ गोम्मटो जयउ ॥ ”

अर्थात् वह श्री चामुण्डराय जयवंता रहो कि जिसके गुरु अजितसेन नाथमें कान्दिपात गणधर देवादिकोंके गुण पाये जाते हैं ॥ आचार्य श्री आर्यसेनके अनेक गुणोंके समूहको धारण करनेवाले तथा तीन लोकके गुरु अजितसेन गुरु जिसके गुरु हैं वह गोम्मट राजा जयवंता रहो ॥

इससे यह बात मालुम होती है कि जिन अजितसेन स्वामीका उल्लेख बाहुबली चरितमें और गोमट्टसारमें किया गया है वे एक ही हैं । परंतु ये अजितसेन कब हुए इस बातका कुछ पता श्रवणवे-लंगालाके एक शिलालेखसे मिलता है ।

उसमें अजितसेनके विषयमें लिखा है कि:—

गुणा- कुंदस्पन्दोद्भुमरसमरा वागमृतवाः ,
प्लवप्रायः प्रेयःप्रसरसरसा कीर्तिरिव सा ।
नखेन्दुज्योत्स्नाऽध्रेर्नृपचयचकोरपणयिनी,
न कासां श्लाघांता पदमजितसेनो व्रतिपतिः ॥

यह शिलालेख कबीर ग्यारहमी शतीका खुदा हुआ है । इससे मालुम होता है कि श्री अजितसेन स्वामी ग्यारहमी शतीके पूर्व हुए हैं, और उसी समय श्री चामुण्डराय भी हुए हैं । परंतु पं. नाथुरामजी प्रेमी द्वारा लिखित ‘चंद्रप्रभचरितकी भूमिका’में श्री चामुण्डरायके परिचयमें लिखा है कि कनड़ी भाषाके प्रसिद्ध कवि रत्नेन शक सम्वत् ९१५ में ‘पुराणतिलक’ नामक ग्रंथकी रचना की है और उसने अपनेको रक्त गंगराजका आश्रित बतलाया है । चामुण्डरायकी भी अपनेपर विशेष कृपा रहनेका वह जिकिर करता है । इससे मालुम होता है कि शक सं. ९१५ या विक्रम सं. १०५० के लगभग ही श्री चामुण्डराय और श्री अजितसेन स्वामी हुए हैं

गोमट्टसारकी श्री चामुण्डरायकृत एक कर्नाटक वृत्ति श्रीनेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीके समक्ष ही वन चुकी थी । उसीके अनुसार श्री केशववर्णिकृत संस्कृत टीका भी है । उसको आदिमें लिखाहुआ है कि:-

‘श्रीमदप्रतिहतप्रभावस्याद्वादशासनगुहाभ्यंतरानिवासिप्रवादिर्सिंधुरासिहायमान-सिंह-नंदनिन्दितगंगवंशलालम-राजसर्वज्ञाद्यनेकगुणनामधेय-श्रीमद्राजमहोदयमही-वल्लभमहा-मात्यपदविराजमान-रणरङ्गमल्लासहायपराक्रम-गुणरत्नभूषण-सम्यक्त्वरत्ननिलयादिविवि-धगुणनामसमासादितकीर्तिकांत-श्रीमच्चामुण्डरायप्रभावतोर्यकचत्वारिंशत्पदानामसत्यप्ररूप-णद्वारेणाशेषविनेयजननिकुरंवसेऽोधनार्थ श्रीमन्नेमिचंद्रसैद्धान्तिक-चक्रवर्ती समस्तसैद्धान्तिकजनप्रख्याताविशदयशाः विशालमातिरसौ भगवान् ... गोमट्टसारपंचसंग्रहप्रपंचमारचयस्तदावै निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्तिनिमित्तं ... देवताविशेषं नमस्करोति ।

राचमल और रवकस गंगराज ये दोनों ही भाई थे । उपर्युक्त गोमट्टसारकी पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि राचमल चामुण्डराय तथा श्री नेमिचंद्रसिद्धांतचक्रवर्ती तीनोंही समकालीन हैं । राचमलका समय विक्रमकी ग्यारहमी शती निश्चित की जाती है । अत एव स्वयं सिद्ध है कि यही समय चामुण्डराय तथा श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीका भी होना चाहिये ।

नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीने कई जगह वीरनंदि आचार्यका स्मरण किया है। यथा:—

“जरस य पायपसाएणणंतसंसारजलहिमुत्तिं ओ ।

वीरिंदणं दिवच्छो णमामि तं अभयणं दिगुरुं ॥”

“णमिऊण अभयणं दिं सुदसागरपारगिंदणं दिगुरुं

वरवीरणं दिणाहं पयडीणं पच्चयं वोच्छं ॥”

“णमह गुणरयणभूसणसिद्धं तामियमहदिधभवभावं ।

वरवीरणं दिचंदं णिम्मल्लगुणभिंदणं दिगुरुं ॥”

इन्ही वीरनंदिका स्मरण वादिगज सूरीने भी किया है। यथा:—

चंद्रप्रभाभिसंबद्धा रसपुष्टा मनःप्रियम् ।

कुमुद्वतीव नो धत्ते भारती वीरनंदिनः ॥ (पार्श्वनाथकाव्य श्लो. ३०)

वादिराज सूरीने पार्श्वनाथ काव्यकी पूर्ति शक सं. ९४७ में की है, यह उसीकी अन्तिम प्रशस्ति के इस पथसे मालुम होता है।

“शाकाब्दे नगवाधिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने,

मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीयादिने ।

सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया,

निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥”

अर्थात् ‘शक सम्वत् ९४७ (क्रोधन सम्वत्सरे) की कार्तिक शुक्ला तृतीयाको पार्श्वनाथ काव्य पूर्ण किया।’ इस कथनसे यद्यपि यह मालुम होता है कि वीरनंदि आचार्य शक संवत् ९४७ के पहले ही होचुके हैं; तथापि जब कि वीरनंदी आचार्य स्वयं अभयनंदीको गुरु स्वीकार करते हैं और नेमिचंद्र सिद्धांत चक्रवर्ती भी उनको गुरुरूपसे स्मरण करते हैं तब यह अवश्य कहा जा सकता है कि वीरनंदि और नेमिचंद्र दोनों ही समकालीन हैं।

गोमट्टसारकी गाथाओंका उल्लेख प्रमेयकमलमार्तण्डमें भी मिलता है—यथा:—

“चिगहगदिभावण्णा केवलिणो समुहदो अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारिणो जीवा ॥” (६६५)

श्रीप्रभाचंद्र आचार्यने प्रमेयकमलमार्तण्डकी रचना भोजराजके समयमें की है, क्योंकि उसके अंतमें यह उल्लेख है कि:—

“श्री भोजदेवराज्ये श्रीमद्भारानिवासिना परापरपरमेष्ठिप्रणामार्जितमलपुण्यनिराकृतनिखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचंद्रपण्डितेन निखिलप्रमाणप्रमेयस्वरूपोद्योतपरीक्षासुखपदमिदं विवृतमिति ।”

धारानगरीके अधिपति भोजराजका समय विक्रमकी ११ वीं शदी निश्चित है। इससे यह मालुम होता है कि नेमिचंद्रस्वामी या तो प्रभाचंद्राचार्यके समकालीन हैं या कुछ पहले होचुके हैं। यद्यपि इस प्रमाणसे यह भी मालुम होसकता है कि श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती प्रभाचंद्राचार्यसे कई शदी पूर्व हुए हैं; परंतु जबकि कवि रत्नने अपनेपर श्रीमान् चामुण्डरायकी कुपा रहनेका जिक्र किया है तथा पुराणतिलककी रचना शक सं. ९१५ में उसने की है यह निश्चित है तब इस शंकाको स्थान नहीं रहता। अत एव इतिहासप्रेमी यह निश्चित करते हैं कि श्रीमान् नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीका समय भी लगभग शक सं. ९१५ के ही है। परंतु यह निश्चय एक प्रकारसे पुराणतिलकके आधारसे ही है। अत एव

अभी इतना संदेह ही है कि यदि पुराणतिलकके कथनको प्रमाण माना जाय तो बाहुबलीचरितके कथनको प्रमाण क्यों न माना जाय ? यदि माना जाय तो किस तरह घटित किया जाय ? इस तरह नेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीका समय एक तरहसे अभीतक हमको संदिग्ध ही है । इसीलिये समयनिर्णयको हम यहीं विराम देते हैं । दूसरी बात यह भी है कि समयकी प्राचीनता या अर्वाचीनतासे प्रमाणता या अप्रमाणताका निर्णय नहीं होता । प्रामाण्य या अप्रामाण्यके निर्णयका हेतु ग्रंथकर्त्ताका ग्रंथ होता है ।

इस ग्रंथके रचयिता साधारण विद्वान् न थे । उनके रचित गोमट्टसार त्रिलोकसार लब्धिसार आदि उपलब्ध ग्रंथ उनकी असाधारण विद्वान् ओर 'सिद्धांतचक्रवर्ती' इस पदवीको सार्थक सिद्ध कर रहे हैं । यद्यपि उपलब्ध ग्रंथोंमें गणितकी प्रचुरता देखकर लोग यह विश्वास कर सकते हैं कि श्री नेमिचंद्र सि. चक्रवर्ती गणितके ही अप्रतिम पिण्डित थे, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि वे सर्वविषयमें पूर्ण निष्णात थे ।

ऊपर जो गोमट्टसार संस्कृत टीकाकी उत्थानिकाका उल्लेख दिया है उसमें यह बात दिखाई गई है कि इस ग्रंथकी रचना श्रीमच्चामुण्डरायके प्रश्नके अनुसार हुई है । इस विषयमें ऐसा सुननेमें आता है कि एक बार श्री नेमिचंद्र सिद्धांतचक्रवर्ती धवलदादि महासिद्धांत ग्रंथोंमेंसे किस सिद्धांत-ग्रंथका स्वाध्याय कर रहे थे । उसी समय गुरुका दर्शन करनेकेलिये श्री चामुण्डराय भी आये । शिष्यको आता हुआ देखकर श्रीनेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीने स्वाध्याय करना बंद कर दिया । जब चामुण्डराय गुरुको नमस्कार करके बैठगये तब उनसे पूछा कि गुरु ! आपने ऐसा क्यों किया ? तब गुरुने कहा कि श्रावकको इन सिद्धांत ग्रंथोंके सुननेका अधिकार नहीं है । इसपर चामुण्डरायने कहा कि हमको इन ग्रंथोंका अवबोध किस तरह होसकता है ? कृपया कोई ऐसा उपाय निकालिये कि जिससे हम भी इनका महावानुभव कर सकें । सुनते हैं कि इसीपर श्रीनेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीने सिद्धांत ग्रंथोंका सार लेकर इस गोमट्टसार ग्रंथकी रचना की है ।

इस ग्रंथका दूसरा नाम पंचसंग्रह भी है । क्योंकि इसमें महाकर्मप्राभूतके सिद्धांतसंबंधी जीवस्थान क्षुद्रबंध बंधस्वामी वेदनाखंड वर्गणाखंड इन पांच विषयोंका वर्णन है । मूलग्रंथ प्राकृतमें लिखा गया है । यद्यपि मूल लेखक श्रीयुत नेमिचंद्र सि. चक्रवर्ती ही हैं; तथापि कहीं २ पर कोई २ गाथा माधवचंद्र त्रैविद्यदेवने भी लिखी हैं । यह टीकामें दी हुई गाथाओंकी उत्थानिका के देखनेसे मालूम होती है । माधवचंद्र त्रैविद्यदेव श्री नेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीके प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे । मालूम होता है कि तीन विद्याओंके अधिपति होनेके कारण ही आपका त्रैविद्यदेवका पद मिला होगा । इससे पाठकोंको यह भी अंदाज करलेना चाहिये कि नेमिचंद्र सि. चक्रवर्तीकी विद्वान् कितनी असाधारण थी ।

इस ग्रंथराजके ऊपर अभीतक चार टीका लिखी गई हैं । जिसमें सबसे पहले एक कर्नाटक वृत्ति बनी है । उसके रचयिता ग्रंथकर्त्ताके अन्यतम शिष्य श्रीचामुण्डराय हैं । इसी टीकाके आधारपर एक संस्कृत टीका बनी है, जिसके निर्माता केशववर्णी हैं; ओर यह टीका भी इसी नामसे प्रसिद्ध है । दूसरी संस्कृत टीका श्रीमदभयचंद्र सिद्धांतचक्रवर्तीकी बनाई हुई है जो कि 'मंदप्रबोधिनी' नामसे प्रख्यात है । उपर्युक्त दोनों टीकाओंके आधारसे श्रीमद्विद्वद् टोडरमल्लजीने 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' नामकी हिंदी टीका बनाई है । उक्त कर्नाटक वृत्तिके सिवाय तीनों टीकाओंके आधारपर यह संक्षिप्त बालबोधिनी टीका लिखी है । 'मंदप्रबोधिनी' हमको पूर्ण नहीं मिलसकी इसलिये जहांतक मिल सकी वहांतक तीनों टीकाओंके आधारसे ओर आगे 'केशववर्णी' तथा 'सम्यग्ज्ञानचंद्रिका' के आधारसे ही हमने इसको लिखा है ।

इस ग्रंथके दो भाग हैं—एक जीवकाण्ड दूसरा कर्मकाण्ड । जीवकाण्डमें जीवकी अनेक अवस्थाओंका या भावोंका वर्णन है । कर्मकाण्डमें कर्मोंकी अनेक अवस्थाओंका वर्णन है । कर्मकाण्डकी संक्षिप्त हिंदी टीका श्रीयुत पं. मनहरलालजी शास्त्री द्वारा सम्पादित इसी ग्रंथमालाके द्वारा पहले प्रकाशित हो चुकी है । जीवकाण्डकी संक्षिप्त हिंदी टीका अभीतक नहीं हुई थी । अत एव आज विद्वानोंके समक्ष उसके उपास्थित करनेका मैंने साहस किया है ।

जिस समय श्रीयुत प्रातःभरणीय न्यायवाचस्पति म्यादादवारिधि वादिगजेंद्रसरी गुरुवर्य पं. गोपालदासजीके चरणोंमें विद्याध्ययन करता था उसी समय गुप्तकी आज्ञानुसार इसके लिखनेका मैंने प्रारम्भ किया था । यद्यपि इसके लिखनेमें प्रमाद या अज्ञानवश भ्रष्टस कितनी ही अशुद्धियाँ रह गई होंगी; तथापि मज्जन पाठकोंके गुणग्राही स्वभावपर दृष्टि देनेसे इस विषयमें मुझे अपने उपहासका बिलकुल भय नहीं होता । ग्रंथके पूर्ण करनेमें मैं सर्वथा असमर्थ था तथापि किसीभी तरह जो मैं इसको पूर्ण कर सका हूँ उसका कारण केवल गुरुप्रसाद है । अत एव इस कृतज्ञताके निदर्शनार्थ गुरुके चरणोंका चिरंतन चिंतन करना ही श्रेय है ।

प्राचीन टीकाएं समुद्रसमान गम्भीर हैं—सहसा उनका कोई अवगाहन नहीं कर सकता । जो अवगाहन नहीं कर सकते उनकेलिये कुल्याके समान इस क्षुद्र टीकाका निर्माण किया है । आशा है कि इसके अभ्याससे प्राचीन सिद्धांत तिर्तीपुंओंको अवश्य कुछ सरलता होगी । पाठकेंसे यह निवेदन है कि यदि इस कृतिमें कुछ सार भाग मालुम हो तो उसे मेरे गुरुका समस्त हृदयगत करें । और यदि कुछ निःसारता या विपरीतता मालुम पड़े तो उसे मेरी कृति समझें, और मेरी अज्ञानतापर क्षमाप्रदान करें ।

यह टीका स्व. श्रीमान् रायचंद्रजीद्वारा स्थापित 'परमश्रुतप्रभावकमंडल'की तरफसे प्रकाशित की गई है । अत एव उक्त मंडल तथा उसके ऑनरेरी व्यवस्थापक शा. रेवाशंकर जगजीवनदासजीका साधुवादन करता हूँ ।

इस तुच्छ कृतिको पढ़नेके पूर्व “गच्छतः स्वल्पं क्वापि भवत्येव प्रमादतः । हसंति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः” इस श्लोकके दृष्टिपथ करनेके लिये विद्वानोंस प्रार्थना करनेवाला—

७-७-१९१६ ई. }
२ रा पांजरापाळ-ववई नं. ४ }

रुचचं वै जैन
वेरनी (एटा) निवासी



विषयसूची ।

विषय.	पृ. सं.	विषय.	पृ. सं.
मंगलका प्रयोजन	११ १	छोटे गुणस्थानका लक्षण	१४१२२
मंगल और प्रतिज्ञा	११ ५	प्रमादके ११ भेद	११११ ७
बीस अधिकारोंके नाम	२१ १	प्रमादके विषयमें ५ प्रकार	१५११५
गुणस्थान और मार्गणाकी उत्पत्ति	२११८	संख्या	१५१२५
निमित्त और उनके पचास वाचक शब्द	२११८	प्रस्तारका पहला क्रम	१६१११
गुणस्थान संज्ञाको मोहयोगमत्वा क्यों	३१ १	प्रस्तारका दूसरा क्रम	१६१२५
कहा ? इसका उत्तर	३१ १	प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षपरिवर्तन	१७११०
दो प्ररूपणा और बीस प्ररूपणाकी मिश्र	३१ ५	दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षसंचार	१७१२४
२ अपेक्षा	३१ ५	नष्टकी विधि	१८१ ६
मार्गणाप्ररूपणामें दूसरी प्ररूपणाओंका	३११४	उद्दिष्टका स्वरूप	१८१२३
अंतर्भाव	४१ १	प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा नष्ट उद्दिष्टका	१९११०
संज्ञाओंका अंतर्भाव	४११३	गूढयंत्र	१९१२२
उपयोगका अंतर्भाव	४१२५	दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा गूढयंत्र	२०१ ३
गुणस्थानका लक्षण	५१ ६	सातमे गुणस्थानका स्वरूप	२०१११
चौदह गुणस्थानोंके नाम	६१ १	सातमे गुणस्थानके दो भेदोंका स्वरूप	२११ १
चार गुणस्थानोंमें होनेवाले पांच भाव	६११६	अधःकरणका लक्षण	२३११५
४ गुणस्थानोंके पांच भावोंकी अपेक्षा	७१ १	अपूर्वकरण गुणस्थान	२५१ ३
पांचमे आदि गुणस्थानोंमें होनेवाले	७१ १	अपूर्वकरण परिणामोंका कार्य	२५१२३
भाव और उनकी अपेक्षा	८११४	नवमे गुणस्थानका स्वरूप	२७१ ८
मिथ्यात्वका लक्षण और भेद	८१२३	दशमे गुणस्थानका स्वरूप	२८१२८
मिथ्यात्वके पांच भेदोंका दृष्टांत	९१ ५	ग्यारहमे गुणस्थानका स्वरूप	२८११४
प्रकारांतरसे मिथ्यात्वका लक्षण	९११४	बारहमा गुणस्थान	२९१ ४
मिथ्यादृष्टिके बाह्य चिन्ह	९१२५	तेरहमा गुणस्थान	२९११६
सासादन गुणस्थानका लक्षण	१०१११	चौदहमा गुणस्थान	३०११२
सासादनका दृष्टांत	१०१२०	गुणस्थानोंमें होनेवाली गुणश्रेणिनिर्जरा	३०१२३
तीसरे मिश्र गुणस्थानका लक्षण	१११ ८	सिद्धोंका स्वरूप	३१११७
तीसरे गुणस्थानका दृष्टान्त	१२१ १	सिद्धोंका स्वरूप	३२१११
तीसरे गुणस्थानकी कुछ विशेषता	१२१ १	जीवसमास-अधिकार १	३२११९
वेदक सम्यक्त्वका लक्षण	१३१ १	जीवसमासका लक्षण	३२१२९
औपशमिक और क्षाधिक सम्यक्त्वका	१३१ १	जीवसमासके चौदह भेद	३३११०
लक्षण	१३१ १	जीवसमासके ५७ भेद	३३११०
चतुर्थ गुणस्थानकी कुछ विशेषता	१४१ १	जीवसमासके विषयमें स्थानादि ४ अधि-	३३११०
पांचमे गुणस्थानका लक्षण	१४१ १	कार	३३११०
विरताविरतकी उपपत्ति	१४१ १	स्थानाधिकार	३३११०

विषय.	पृ. पं.	विषय.	पृ. पं.
योनिअधिकार	३५१२७	संज्ञाओंके स्वामी	५७१ ६
तीन प्रकारका जन्म	३६११५	मार्गणा-महाधिकार	
जन्मका योनिसे साथ सम्बन्ध	३७१ ४	भंगलाचरण और मार्गणाधिकारके वर्ण-	
गुणयानिकी संख्या	३७१२४	नकी प्रतिज्ञा	५७१२१
गतिकी अपेक्षा जन्म	३८११२	मार्गणाका निश्चितपूर्वक लक्षण	५८१ १
गतिकी अपेक्षा वेदोंका नियम	३९१ ७	चौदह मार्गणाओंके नाम	५८११०
अवगाहनाअधिकार	३९११९	अंतरमार्गणाओंके भेद और उनके काल-	
अवगाहनाओंके स्वामी और उनकी न्यु-		का नियम	५८११७
नाधिकताका गुणाकार	४११ ७	अंतरमार्गणा विशेष	५९१ ७
चतुःस्थानपतित वृद्धि और अवगाहनाके		गतिमार्गणा अ-६	
मध्यके भेद	४३११४	गति शब्दकी निश्चित और उसके भेद	५९१२१
बायुकायकी अवगाहना	४५११३	नारकादि ४ गतियोंका भिन्न २ स्वरूप	६०१ १
तैजस्यादिदीकी अवगाहनाओंके गुणाका-		सिद्धगतिका स्वरूप	६२१ ३
रकी उत्पत्तिका क्रम	४६१२३	गतिमार्गणामें जीवसंख्या	६२११८
अवगाहनाके विषयमें मत्स्थरचना	४७१ ३	इन्द्रियमार्गणा अ-७	
कुलअधिकार	४७११६	इन्द्रियका निश्चितसिद्ध अर्थ	६६१२३
पर्याप्ति-अधिकार ३		इन्द्रियके द्रव्य भावरूप दो भेद और	
दृष्टांतद्वारा पर्याप्त अपर्याप्तका स्वरूप	४८१२२	उनका स्वरूप	६७१ ५
पर्याप्तिके छह भेद और उनके स्वामी	४९१ ५	इन्द्रियकी अपेक्षा जीवोंके भेद	६७११४
पर्याप्तिका काल	५०१ १	इन्द्रियवृद्धिका क्रम	६८१ १
अपर्याप्तिकका स्वरूप	५०१२६	इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र	६८१११
अपर्याप्तिकके उत्कृष्ट भव	५११ १	इन्द्रियोंका आकार	७०१ १
केवलियोंकी अपर्याप्तिताकी शंकाका परि-		इन्द्रियगत आत्मप्रदेशोंका अवगाहना-	
हार	५२११०	प्रमाण	७०१ ८
गुणस्थानोंकी अपेक्षा पर्याप्त अपर्याप्त		अतीन्द्रियज्ञानियोंका स्वरूप	७११ १
अवस्था	५२१२८	एकेन्द्रियादि जीवोंकी संख्या	७१११७
सासादन और सम्यक्त्वके अभावका		कायमार्गणा अ-८	
नियम	५३११०	कायका लक्षण और भेद	७३१२७
प्राण-अधिकार ४		पृथ्वी आदि ४ स्थावरोंकी उत्पत्तिका	
प्राणका लक्षण	५३१२१	कारण	७४१ ६
प्राणके भेद	५४१ ५	शरीरके भेद और लक्षण	७४११६
प्राणोंकी उत्पत्तिकी सामग्री	५४११२	शरीरका प्रमाण	७४१२५
प्राणोंके स्वामी	५४१२७	वनस्पतिका स्वरूप और भेद	७५१ ४
एकेन्द्रियादि जीवोंके प्राणोंका नियम	५५१ ६	त्रसोंका स्वरूप भेद क्षेत्र आदि	७९१२६
संज्ञा-अधिकार ५		वनस्पतिके समान दूसरे जीवोंमें प्रतिष्ठित	
संज्ञाका स्वरूप और भेद	५५१२४	अप्रतिष्ठित भेद	८०१२६
क्रमसे आहारादि संज्ञाका स्वरूप	५६१ ४	स्थावर और त्रस जीवोंका आकार	८११ ५

दृष्टांतद्वारा कायका कार्य
कायरहित-सिद्धोंका स्वरूप
पृथ्वीकायिकादि जीवोंकी संख्या

योगमार्गणा अ-९

योगका सामान्य लक्षण
योगका विशेष लक्षण
दश प्रकारका सत्य
अनुभय वचनके भेद
चार प्रकारके मनोयोग और वचनयो- गके कारण
सयोगकेवलीके मनोयोगकी संभवता
काययोगके प्रत्येक भेदका स्वरूप
योगप्रवृत्तिका प्रकार
अयोगी जिन
शरीरमें कर्म नोकर्मका विभाग
औदारिकादिके समयप्रबद्धकी संख्या
औदारिकादिके समयप्रबद्ध और वर्गणा- का अवगाहन प्रमाण
विस्रसोपचयका स्वरूप
कर्म नोकर्मका उत्कृष्ट संचय और स्थान	...
उत्कृष्ट संचयकी सामग्रीविशेष
शरीरोंकी उत्कृष्ट स्थिति
उत्कृष्ट स्थितिका गुणहानि आयाम
शरीरोंके समयप्रबद्धका बंध उदय सत्व अवस्थामें द्रव्यप्रमाण
औदारिक और वैकृतिक शरीरकी विरो- धता
औदारिक शरीरके उत्कृष्ट संचयका स्वामी	...
वैकृतिक शरीरके उत्कृष्ट संचयका स्थान	...
तैजस कर्मणके उत्कृष्ट संचयका स्थान	...
योगमार्गणामें जीवोंकी संख्या

वेदमार्गणा अ-१०

तीन वेदोंके दो भेदोंका कारण और उनकी समविषमता
भावभेद और उनके तीन भेदोंका स्वरूप	...
वेदरहित जीव
वेदकी अपेक्षा जीवसंख्या

पृ. पं.

८११५

८१२६

८२१०

८७१९

८७२३

८८१३

९०१२४

९११७

९१२५

९२१७

९६१४

९६११

९६१८

९६१२६

९७१३

९८११

९८१२

९८१५

९९१३

९९१४

९९१२२

१००१११

१००१२८

१०११५

१०११६

१०१२५

१०६११

१०६११३

१०७११५

१०७१२३

विषय.

कषायमार्गणा अ-११

कषायके निश्चितसिद्ध लक्षण ...	१०९१४
शक्तिकी अपेक्षा कोषादिके ४ भेद ...	११०१ ६
गतियोंके प्रथम समयमें कोषादिका नियम ...	११११४

कषायरहित जीव ...	११११६
कषायोंके स्थान ...	११२१ ४
कषायकी अपेक्षा जीवसंख्या ...	११४१३

ज्ञानमार्गणा अ-१२

ज्ञानका निश्चितसिद्ध सामान्य लक्षण ...	११५१२८
पांच ज्ञानोंका क्षायोपशमिक क्षायिकरू- पसे विभाग ...	११६१ ६
मिथ्याज्ञानका कारण और स्वामी ...	११६१३

मिश्रज्ञानका कारण और मनःपर्ययज्ञान- का स्वामी ...	११६१२२
दृष्टांतद्वारा तीन मिथ्याज्ञानका स्वरूप ...	११७१ ३
मतिज्ञानका स्वरूप उत्पत्ति आदि ...	११८१ ३

श्रुतज्ञानका सामान्य लक्षण ...	१२११२३
श्रुतज्ञानके भेद ...	१२२१ २
पर्यायज्ञान ...	१२२१२८
पर्यायसमास ...	१२४१ ३

छह वृद्धियोंकी छह संज्ञा ...	१२४१२०
छह वृद्धियोंकी कुछ विशेषता ...	१२४१२८
अर्थोक्षर श्रुतज्ञान ...	१२७११०
श्रुतनिबद्ध विषयका प्रमाण ...	१२७१२१

अक्षरसमास और पदज्ञान ...	१२८१ ३
पदके अक्षरोंका प्रमाण ...	१२८१११
पदसमास और संघात श्रुतज्ञान ...	१२८१२४
संघातसमास आदि १३ प्रकारके श्रुतज्ञा- नका विस्तृत स्वरूप ..	१२९१ ४

अंगबाह्य श्रुतके भेद ...	१४०१ ७
श्रुतज्ञानका माहात्म्य ...	१४०११९
अवधिज्ञानका स्वरूप और दो भेद ...	१४११ १
दो प्रकारकी अवधिका स्वामी और स्वरूप ...	१४१११५

गुणप्रत्यय और सामान्य अवधिके भेद	१४११२६
अवधिका द्रव्यादिचतुष्टयकी अपेक्षा वर्णन ...	१४३१ ८

विषय.	पृ. पं.	विषय.	पृ. पं.
अवधिका सबसे जघन्य द्रव्य ...	१४३।१७	विपुलमत्तिका द्रव्य ...	१६५।२१
अवधिका जघन्य क्षेत्र ...	१४३।२८	दोनों भेदोंके क्षेत्रादिका प्रमाण ...	१६६।११
जघन्यक्षेत्रका विशेष कथन ...	१४४। ७	केवल ज्ञानका स्वरूप ...	१६७।१६
अवधिका समयप्रबद्ध ...	१४५।२७	ज्ञानमार्गणमें जीवसंख्या ...	१६७।२९
ध्रुवहारका प्रमाण ...	१४६। ५	संयममार्गणा अ-१३	
मनोद्रव्य-वर्गेणाका जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण ...	१४६।१४	संयमका स्वरूप और उसके पांच भेद ...	१६९। १
प्रकारान्तरसे ध्रुवहारका प्रमाण ...	१४६।२३	संयमकी उत्पात्तिका कारण ...	१६९।१०
देशावधिके द्रव्यकी अपेक्षा भेद ...	१४७। ६	देशाध्यय और असंयमका कारण ...	१७०। ३
क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण ...	१४७।१५	सामाजिक संयम ...	१७०।१०
वर्गेणाका प्रमाण ...	१४७।२४	छेदोपस्थापना संयम ...	१७०।१९
परमावधिके भेद ...	१४८। ३	परिहारविद्युद्धि संयम ...	१७०।२८
देशावधिके विकल्प और उनके विषयभूत क्षेत्रादिके प्रमाण निकालनेके क्रम...	१४८।१२	सूक्ष्मसांपराय संयम ...	१७१।१७
उर्ध्वस काष्ठकमें दोनों क्रमोंका स्वरूप...	१५०।१०	यथाह्यात संयम ...	१७१।२६
ध्रुववृद्धिका प्रमाण ...	१५२। ४	देशविरत ...	१७२। ९
अध्रुववृद्धिका प्रमाण ...	१५२।१६	असंयत ...	१७२।२५
उत्कृष्ट देशावधिके विषयभूत द्रव्यादिका प्रमाण ...	१५३। १	इन्द्रियोंके अशरीर विषय ...	१७३। ३
परमावधिके जघन्य द्रव्यका प्रमाण ...	१५३।२५	संयमकी अपेक्षा जीवसंख्या ...	१७३।१२
उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण ...	१५४। ३	दर्शनमार्गणा अ-१४	
सर्वावधिका विषयभूत द्रव्य ...	१५४।११	दर्शनका लक्षण...	१७४। १
परमावधिके क्षेत्र कालकी अपेक्षा भेद ...	१५४।२२	चक्षुदर्शन आदि ४ भेदोंका क्रमसे स्वरूप ...	१७४।१७
विषयके असंख्यातगुणितक्रमका प्रकार...	१५४।२८	दर्शनकी अपेक्षा जीवसंख्या ...	१७५।१३
प्रकारान्तरसे गुणाकारका प्रमाण ...	१५५।१७	लेख्यामार्गणा अ-१५	
परमावधिके विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र और कालका प्रमाण निकालनेके लिये दो करणसूत्र ...	१५६।१३	लेख्याका लक्षण...	१७६।११
जघन्य देशावधिसे सर्वावधिपर्यंत भावका प्रमाण ...	१५६।३०	लेख्याओंके निर्देश आदि १६ अधिकांश ...	१७७। १
नरकगतिमें अवधिका क्षेत्र ...	१५७।२०	१ निर्देश ...	१७७।१३
तिर्य्येक और मनुष्यगतिमें अवधि ...	१५७।३०	२ वर्ण ...	१७७।२४
देवगतिमें अवधिका क्षेत्रादि ...	१५८। ९	३ परिणाम ...	१७९। ६
मनःपर्यय ज्ञानका स्वरूप ...	१६१।२८	४ संक्रम ...	१८०।१८
मनःपर्ययके भेद ...	१६२। ७	५ कर्म ...	१८२। ९
मनःपर्ययके दो भेदोंका विशेष स्वरूप ...	१६२।२६	६ लक्षण ...	१८३। १
मनःपर्ययका स्वामी आदि ...	१६४। १	७ गति ...	१८५। ९
ऋतुमत्तिका जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्य ...	१६५।१४	८ स्वामी ...	१८९।१८
		९ साधन ...	१९२। १
		१० संख्या ...	१९२।१२
		११ क्षेत्र ...	१९४।२७
		१२ स्पर्श ...	१९६। ६
		१३ काल ...	१९८।१६
		१४ अंतर ...	१९९।१९

विषय.	पृ. पं.
१५-१६ भाव और अल्पबहुत्व ...	२००।२७
लेश्यारहित जीव ...	२०१।११
भव्यमार्गणा अ-१६	
भव्यअभव्यका स्वरूप ...	२०१।२४
भव्यत्व अभव्यत्वसे रहित जीव ...	२०२।२४
भव्यमार्गणमें जीवसंख्या...	२०३। ५
पांच परिवर्तन...	२०३।१२
सम्यक्त्वमार्गणा अ-१७	
सम्यक्त्वका स्वरूप ...	२०८।१३
सात अधिकारोंके द्वारा छह द्रव्यका	
निरूपण ...	२०८।२७
१ नाम ...	२०९। ५
२ उपलक्षण ...	२०९।२२
३ स्थिति ...	२१५।१२
४ क्षेत्र ...	२१६। ३
५ संख्या ...	२१७।२५
६ स्थानस्वरूप ...	२१८।२३
७ फल ...	२२३। ४
परमाणुके स्वरूप परिणमनका कारण	२२४।२१
पंचास्तिकाय ...	२२८।२६
नव पदार्थ ...	२२९।१४
गुणस्थानक्रमसे जीवसंख्या ...	२३०। ६
अजीवादि-तत्वोंका संक्षिप्त स्वरूप ...	२३८। ७
क्षायिक सम्यक्त्व ...	२३९। ७
वेदक सम्यक्त्व ...	२४०।२६
उपशम सम्यक्त्व ...	२४१। ७
पांच लब्धि ...	२४१।२२
सम्यक्त्व ग्रहणके योग्य जीव ...	२४२। ६
सम्यक्त्वमार्गणाके दूसरे भेद ...	२४२।२७
सम्यक्त्वमार्गणमें जीवसंख्या	२४४। १
संज्ञी मार्गणा अ-१८	
संज्ञी असंज्ञीका स्वरूप ...	२४५। १

विषय.	पृ. पं.
संज्ञी असंज्ञीकी परीक्षा-विन्ध ...	२४५।१२
संज्ञी मार्गणमें जीवसंख्या...	२४६। १
आहारमार्गणा अ-१९	
आहारका स्वरूप ...	२४६।१०
आहारक अनाहारकका विभेद ...	२४६।२५
समुद्धातके भेद ...	२४७। ४
समुद्धातका स्वरूप ...	२४७।१२
आहारक और अनाहारकका कालप्रमाण	२४७।२६
आहारमार्गणमें जीवसंख्या ...	२४८। ५
उपयोगाधिकार-२०	
उपयोगका स्वरूप और दो भेद ...	२४८।१४
दोनों उपयोगोंके उत्तर भेद ...	२४८।२२
साकार उपयोगकी विशेषता ...	२४९। १
अनाकार उपयोगकी विशेषता ...	२४९।१३
उपयोगाधिकारमें जीवसंख्या ...	२४९।२७
अंतर्भावाधिकार १	
गुणस्थान और मार्गणमें शेष प्ररूपणा-	
ओंका अंतर्भाव ...	२५०। ७
मार्गणाओंमें गुणस्थानादि...	२५०।१७
गुणस्थानोंमें जीवसमासादि ...	२५०।२०
आलापाधिकार १	
नमस्कार और आलापाधिकारके कहनेकी	
प्रतिज्ञा ...	२६३।१६
गुणस्थान और मार्गणाओंके आलापोंकी	
संख्या ...	२६३।२४
गुणस्थानोंमें आलाप ...	२६४। १
मार्गणाओंमें आलाप ...	२६५। १
जीवसमासकी विशेषता ...	२६९।२७
बीस भेदोंकी योजना ...	२७०।११
आवश्यक नियम ...	२७०।२९
गुणस्थानातीत सिद्धोंका स्वरूप ...	२७२। १
बीस भेदोंके जाननेका उपाय ...	२७२।२१
अंतिम आशीर्वाद ...	२७३।१८

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालाद्वारा प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषाटीका यह श्रीभगवन् चन्द्रस्वामी विरचित प्रसिद्ध शास्त्र है। इसमें आचार-संबन्धी बड़े २ गूढ़ रहस्य हैं। विशेष कर हिंसाका स्वरूप बहुत खूबीकेसाथ दर्शाया गया है। यह एक बार छपकर विक्रमगयाथा इसकारण फिरसे संशोधन कराके दूसरीबार छपाया गया है। न्यौं. १ रु.

२ पञ्चास्तिकाय संस्कृत भा. टी. यह श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल और श्रीभगवन् चन्द्रसूरीकृत संस्कृतटीकासहित पहले छपा था। अबकी बार इसकी दूसरी आवृत्तिमें एक संस्कृतटीका तात्पर्यवृत्ति नामकी जो कि श्रीजयसेनाचार्यने तनाई है अथकी सरलताकेलिये लगादी गई है। तथा पहली संस्कृतटीकाके सूक्ष्म अक्षरोंको मोटा करादिया है और गाथासूची व विषयसूची भी देखनेकी सुगमताके लिये लगादी है। इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म और आकाश इन पांच द्रव्योंका तो उत्तम रीतिसे वर्णन है तथा कालद्रव्यका भी संक्षेपसे वर्णन किया गया है। इसकी भाषा टीका स्वर्गीय पांडे हेमराजकी भाषाटीकाके अनुसार नवीन सरल भाषाटीकाके परिवर्तन कीगई है। इसपर भी न्यौं. २ रु.

३ ज्ञानार्णव भा. टी. इसके कर्ता श्रीशुभचन्द्रस्वामीने ध्यानका वर्णन बहुत ही उत्तमतासे किया है। प्रकरणवश ब्रह्मचर्यव्रतका वर्णन भी बहुत दिखलाया है। यह एकवार छपकर विक्रमगया था अब द्वितीयवार संशोधन कराके छपाया गया है। न्यौं. ४ रु.

४ सप्तभङ्गीतरंगिणी भा. टी. यह न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है इसमें ग्रंथकर्ता श्रीविमलदासजीने स्यादस्ति, स्यान्नास्ति आदि सप्तभङ्गी नयका विवेचन नव्यन्यायकी रीतिसे किया है। स्याद्वादमत क्या है यह जाननेकेलिये यह ग्रंथ अवश्य पढना चाहिये। इसकी पहली आवृत्तिमें की एक भी प्रति नहीं रही अब दूसरी आवृत्ति शीघ्र छपकर प्रकाशित होगी। न्यौं. १ रु.

५ बृहद्द्रव्यसंग्रह संस्कृत भा. टी. श्रीनेमिचन्द्रस्वामीकृत मूल और श्रीब्रह्मदेवजीकृत संस्कृतटीका तथा उसपर उत्तम बनाई गई भाषाटीका सहित है। इसमें छह द्रव्योंका स्वरूप अतिस्पष्टरीतिसे दिखाया गया है। न्यौं. २ रु.

६ द्रव्यानुरयोगतर्कणा इस ग्रंथमें शास्त्रकार श्रीमन्नोजसागरजीने सुगमतासे मन्दबुद्धिजीवोंको द्रव्य-ज्ञान होनेकेलिये 'अथ, "गुणपर्ययवद्रव्यम्" इस महाशास्त्र तत्त्वार्थसूत्रके अनुकूल द्रव्य—गुण तथा अन्य पदार्थोंका भी विशेष वर्णन किया है और प्रसंगवश 'स्यादस्ति' आदि सप्तभङ्गोंका और दिग्बराचार्यवैयर्थ्य श्रीदेवसेनस्वामीविरचित नयचक्रके आधारसे नय, उपनय तथा मूलनयोंका भी विस्तारसे वर्णन किया है। न्यौं. २ रु.

७ सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र इसका दूसरा नाम तत्त्वार्थाधिगम मोक्षशास्त्र भी है। जैनियोंका यह परममान्य और मुख्य ग्रन्थ है। इसमें जैनधर्मके संपूर्णसिद्धान्त आचार्यवैयर्थ्य श्रीउमास्वाति (मी) जीने बड़े लाघवसे संग्रह किये हैं। ऐसा कोई भी जैनसिद्धान्त नहीं है जो इसके सूत्रोंमें गर्भित न हो। सिद्धान्तसागरकी एक अत्यन्त छोटेसे तत्त्वार्थरूपी चटमें भरदेना यह कार्य अनुपमसामर्थ्यवाले इसके रचयिताका ही था। तत्त्वार्थके छोटे २ सूत्रोंके अर्थगाम्भीर्यको देखकर विद्वानोंको विस्मित होना पड़ता है। न्यौं. २ रु.

८ स्याद्वादमञ्जरी संस्कृत भा. टी. इसमें छोड़ो मतोंका विवेचनकरके टीका कर्ता विद्वद्भार्य श्रीम-क्षिपेणसूरीजीने स्याद्वादको पूर्णरूपसे शिद्ध किया है। न्यौं. ४ रु.

९ गोम्मतसार (कर्मकाण्ड) संस्कृतछाया और संक्षिप्त भाषाटीका सहित। यह महान् ग्रन्थ श्रीनेमिचन्द्राचार्यसिद्धान्तचक्रवर्तीका बनाया हुआ है, इसमें जैनतत्त्वोंका स्वरूप कहते हुए जीव तथा

कर्मका स्वरूप इतना विस्तारसे है कि वचनद्वारा प्रशंसा नहीं होसकती देखनेसेही मालूम होसकता है । और जो कुछ संसारका झगडा है वह इन्हीं दोनों (जीव-कर्म) के संबन्धसे है सो इन दोनोंका स्वरूप दिखा-नेकेलिये अपूर्व सूर्य है । न्यो० २ क.

१० प्रवचनार—श्रीअश्वत्थचन्द्रसूक्तित तत्त्वप्रदीपिका सं. टी., “ जो कि युनिवर्सिटीके कोर्समें दाखिल है ” तथा श्रीजयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति सं. टी. और बालाबोधिनी भाषाटीका इन तीन टीकाओं सहित छपाया गया है इसके मूलकर्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य हैं । यह अध्यात्मिक ग्रन्थ है । न्यो० ३ क.

११ मोक्षमाळा—कर्त्ता मरहुम सतावधानी कवी श्रीमदराजचंद्र छे. आ एक स्याद्वाद तत्वावबोध-वृक्षतुं बीज छे. आ ग्रन्थ तत्त्व पामवानी जिज्ञासा उत्पन्न करीशके एतुं एमां कई अंशे पण दैवत रहुं छे. आ पुस्तक प्रसिद्ध करवानो मुख्य हेतु उछरता बाळ युवानो अविवेकी विया पामी जे आत्मसिद्धीथी भ्रष्ट थाय छे ते भ्रष्टता अटकाववानो छे. आ मोक्षमाळा मोक्षमेळववानां कारण रूप छे. आ पुस्तकनी बे बे आवृत्तिओ खलास धई गइछे अने प्राहकोनी बहोळी मागणी थी आ श्रीजी आवृत्ति छपावी छे. कौमत आना बार.

१२ भावनाबोध—आ ग्रन्थना कर्ता पण उक्त महापुरुष छे. वैराग्य ए आ ग्रन्थनो मुख्यविषय छे. पात्रता पामक्वानुं अने कपायमल दूर करवानुं आ ग्रन्थ उत्तम साधन छे. आत्मगवेविओने आ ग्रन्थ आनंदोलास आपनार छे. आ ग्रन्थनी पण बे आवृत्तिओ खपी जवाथी अने प्राहकोनी बहोळी मागणी थी आ श्रीजी आवृत्ति छपावी छे. कौमत आना चार. आवेने ग्रन्थो गुजराती भाषामां अने बालबोध टाइपमां छपावेल छे.

१३ परमात्मप्रकाश—यह ग्रंथ श्रीयोगीन्द्रदेव रचित प्राकृतदोहाओंमें है इसकी संस्कृतटीका श्रीब्रह्मदेवकृत है तथा भाषाटीका पं० दौलतरामजीने की है उसके आधारसे नवीन प्रचलित हिंदीभाषा अन्वयार्थ भावार्थ पृथक् करके बनाई गई है । इसतरह दो टीकाओं सहित छपगया है । ये अध्यात्मग्रंथ निष्क-यमोक्षमार्गका साधक होनेसे बहुत उपयोगी है । न्यो० ३ क.

१४ षोडशकप्रकरण—यह ग्रन्थ श्वेताम्बराचार्य श्रीमद्धरिभद्रसूक्तिका बनाया हुआ संस्कृत आर्यों छन्होंमें है. इसमें सोलह धर्मोपदेशके प्रकरण हैं । इसका संस्कृत टीका तथा हिंदीभाषाटीका सहित प्रकाशन होरहा है । एक वर्षमें लगभग तैयार होजायगा ।

१५ लब्धिसार (क्षणसार सहित)—यह ग्रन्थ भी श्रीनेमिचंद्राचार्य सिद्धांत चक्रवर्त्तिका बनाया हुआ है और गोमटसारका परिशिष्ट भाग है । इसीसे गोमटसारक स्वाध्याय करनेकी सफलता होती है । इसमें मोक्षका मूलकारण सम्यक्त्वके प्राप्त होनेकी पांच लब्धियोंका वर्णन है फिर सम्यक्त्व होनेके बाद कर्मोंके नाश होनेका बहुत अच्छा क्रम बतलाया गया है कि सम्यक्जीव शीघ्र ही कर्मोंसे छूट अनंत सुखको प्राप्त होकर अवि-नाशी पदको पासकते हैं । यह भी मूल गाथा छाया तथा संक्षिप्त भाषाटीका सहित छपाया जा रहा है । छह महीनेके लगभग तैयार होजायगा ।

इस शास्त्रमालाकी प्रशंसा मुनिमहाराजोंने तथा विद्वानोंने बहुत की है उसको हम स्थानाभावे लिख नहीं सकते । और यह संस्था किसी स्वार्थकेलिये नहीं है केवल परोपकारकेवास्ते है । जो द्रव्य आता है वह इसी शास्त्रमालामें उत्तमग्रन्थोंके उद्धारकेवास्ते लगाया जाता है ॥ इति शम् ॥

ग्रंथोंके मिलनेका पत्ता—

शा० रेवाशंकर जगज्जीवन जौहरी

ऑनरैरी व्यवस्थापक श्रीपरमश्रुतप्रभावकमंडल

जौहरी बाजार खाराकुवा पो० नं० २ बंबई. ।



श्रीमन्नेमिचन्द्राय नमः ।

अथ छायाभाषाटीकोपेतः

गोम्मटसारः ।



जीवकाण्डम् ।

अथ श्रीनेमिचन्द्र सैद्धान्तिकचक्रवर्ती गोम्मटसार ग्रन्थके लिखनेके पूर्व ही निर्विघ्न समाप्ति नास्तिकतापरिहार, शिष्टाचारपरिपालनं और उपकारस्मरण—इन चार प्रयोजनोंसे इष्टदेवको नमस्कार करते हुए इस ग्रन्थमें जो कुछ वक्तव्य है उसकी “ सिद्ध ” इत्यादि गाथासूत्रद्वारा प्रतिज्ञा करते हैं:—

सिद्धं सुद्धं पणमिय जिणिन्दवरणेमिचन्द्रमकलंकं ।

गुणरयणभूसणुदयं जीवस्स परूदणं वोच्छं ॥ १ ॥

सिद्धं शुद्धं प्रणम्य जिनेन्द्रवरनेमिचन्द्रमकलङ्कम् ।

गुणरत्नभूषणोदयं जीवस्य प्ररूपणं वक्ष्ये ॥ १ ॥

अर्थ—जो सिद्ध अवस्था अथवा स्वात्मोपलब्धिको प्राप्त हो चुका है, अथवा न्यायके अनेक प्रमाणोंसे जिसकी सत्ता सिद्ध है, और जो चार घातिया—द्रव्यकर्मके अभावसे शुद्ध, और मिथ्यात्वादि भावकर्मोंके नाशसे अकलङ्क हो चुका है, और जिसके हमेशाही सम्यक्त्वादि गुणरूपी रत्नोंके भूषणोंका उदय रहता है, इस प्रकारके श्रीजिनेन्द्रवरनेमिचन्द्र-स्वामीको नमस्कार करके, जो उपदेशद्वारा पूर्वाचार्य परम्परासे चला आ रहा है इस लिये सिद्ध, और पूर्वापर विरोधादि दोषोंसे रहित होनेके कारण शुद्ध, और दूसरेकी निन्दा आदि न करनेके कारण तथा रागादिका उत्पादक न होनेसे निष्कलङ्क है, और जिससे सम्यक्त्वादि गुणरूपी रत्नभूषणोंकी प्राप्ति होती है—जो विकथा आदिकी तरह रागका कारण नहीं है इस प्रकारके जीवप्ररूपण नामक ग्रन्थको अर्थात् जिसमें अशुद्ध जीवके स्वरूप भेद प्रभेद आदि दिखलये हैं इस प्रकारके ग्रन्थको कहूँ गा ।

इस प्रकार नमस्कार और विवक्षित ग्रंथकी प्रतिज्ञा कर इस जीवकाण्डमें जितने अधिकारोंके द्वारा जीवका वर्णन करेंगे उनके नाम और संख्या दिखाते हैं ।

गुणजीवा पञ्जत्ती पाणा सण्णाय मग्गणाओ य ।

उबओगोवि य कमसो वीसं तु परूबणा भणिदा ॥ २ ॥

गुणजीवाः पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाश्च मार्गणाश्च ।

उपयोगोपि च क्रमशः विंशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः ॥ २ ॥

अर्थ—गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा, और उपयोग इस प्रकार ये वीस प्ररूपणा पूर्वाचार्योंने कही हैं । **भावार्थ** इनहीके द्वारा आगे जीवद्रव्यका निरूपण किया जायगा । इसलिये इनका लक्षण यद्यपि अपने अपने अधिकारमें स्वयं आचार्य कहेंगे तथापि यहांपर संक्षेपसे इनका लक्षण कहदेना भी उचित है । मोह और योगके निमित्तसे होनेवाली आत्माके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्रगुणोंकी अवस्थाओंको **गुणस्थान** कहते हैं । जिन सदृशधर्मोंके द्वारा अनेक जीवोंका सङ्ग्रह किया जासके उन सदृशधर्मोंका नाम **जीवसमास** है । शक्तिविशेषकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं । जिनका संयोग रहनेपर जीवमें ' यह जीता है ' और वियोग होनेपर ' यह मरगया ' ऐसा व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं । आहारदिकी वाञ्छाको संज्ञा कहते हैं । जिनके द्वारा अनेक अवस्थाओंमें स्थित जीवोंका ज्ञान हो उनको मार्गणा कहते हैं । बाह्य तथा अम्यंतर कारणोंके द्वारा होनेवाली आत्माके चेतना गुणकी परिणतिको उपयोग कहते हैं ।

उक्त वीस प्ररूपणाओंका अन्तर्भाव गुणस्थान और मार्गणा इन दो प्ररूपणाओंमेंही हो सकता है, इस कथनके पूर्व दोनों प्ररूपणाओंकी उत्पत्तिका निमित्त तथा उनके पर्यायवाचक शब्दोंको दिखाते हैं ।

संखेओ ओघोत्ति य गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा ।

वित्थारादेसोत्ति य मग्गणसण्णा सकम्मभवा ॥ ३ ॥

संक्षेप ओघ इति गुणसंज्ञा सा च मोहयोगभवा ।

विस्तार आदेश इति च मार्गणसंज्ञा स्वकर्मभवा ॥ ३ ॥

अर्थ—संक्षेप और ओघ यह गुणस्थानकी संज्ञा है और वह मोह तथा योगके निमित्तसे उत्पन्न होती है, इसी तरह विस्तार तथा आदेश यह मार्गणाकी संज्ञा है और यह भी अपने २ कर्मोंके उदयादिसे उत्पन्न होती है । यहांपर चकारका ग्रहण किया है इससे गुणस्थानकी सामान्य और मार्गणाकी विशेष यह भी संज्ञा समझना । यहांपर यह शङ्का होसकती है कि मोह तथा योगके निमित्तसे गुणस्थान उत्पन्न होते हैं, नकि ' गुणस्थान '

१ नामके एकदेशसे भी सम्पूर्ण नाम समझा जाता है इस लिये गुणशब्दसे गुणस्थान और जीवशब्दसे जीवसमास समझना ।

यह संज्ञा; फिर संज्ञाको मोहयोगभवा (मोह और योगसे उत्पन्न) , यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि परमार्थसे मोह और योगके द्वारा गुणस्थान ही उत्पन्न होते हैं न कि गुण-स्थानसंज्ञा, तथापि यहांपर वाच्यवाचकमें कथंचित् अभेदको मानकर उपचारसे संज्ञाको भी मोहयोगभवा कहा है ।

उक्त वीस प्ररूपणाओंका अन्तर्भाव दो प्ररूपणाओंमें किस अपेक्षासे हो सकता है और वीसप्ररूपणा किस अपेक्षासे कही हैं यह दिखाते हैं ।

आदेसे संलीणा जीवा पज्जत्तिपाणसण्णाओ ।

उबओगोवि य भेदे वीसं तु परूबणा भणिदा ॥ ४ ॥

आदेशे संलीना जीवाः पर्याप्तिप्राणसंज्ञाश्च ।

उपयोगेऽपि च भेदे विंशतिस्तु प्ररूपणा भणिताः ॥ ४ ॥

अर्थ—मार्गणाओंमें ही जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा और उपयोग इनका अन्तर्भाव हो सकता है, इस लिये अभेद विवक्षासे गुणस्थान और मार्गणा ये दो प्ररूपणा ही माननी चाहिये; वीस प्ररूपणा जो कही हैं वे भेद विवक्षासे हैं ।

किस मार्गणामें कौन २ प्ररूपणा अन्तर्भूत हो सकती हैं यह बात तीन गाथाओंद्वारा दिखाते हैं ।

इन्द्रिकायाे लीणा जीवा पज्जत्तिआणमासमणो ।

जोगे काओ णाणे अक्खा गदिमग्गणे आऊ ॥ ५ ॥

इन्द्रिकायायोर्लीना जीवाः पर्याप्त्यानभाषामनांसि ।

योगे कायः ज्ञाने अक्षीणि गतिमार्गणायामायुः ॥ ५ ॥

अर्थ—इन्द्रियमार्गणामें तथा कायमार्गणामें स्वरूपस्वरूपवत्सम्बन्धकी अपेक्षा, अथवा सामान्यविशेषकी अपेक्षा जीवसमासका अन्तर्भाव हो सकता है; क्योंकि इन्द्रिय तथा काय जीवसमासके स्वरूप हैं और जीवसमास स्वरूपवान् हैं । तथा इन्द्रिय और काय विशेष हैं जीवसमास सामान्य है । इसीप्रकार धर्मधर्मि सम्बन्धकी अपेक्षा पर्याप्ति भी अन्तर्भूत हो सकती है, क्योंकि इन्द्रिय धर्मी है और पर्याप्ति धर्म है । कार्यकारणसम्बन्धकी अपेक्षा श्वासोच्छ्वास प्राण, वचनबल प्राण, तथा मनोबलप्राणका, पर्याप्तिमें अन्तर्भाव हो सकता है; क्योंकि प्राण कार्य है और पर्याप्ति कारण है । कायबल प्राण विशेष है और योग सामान्य है इसलिये सामान्यविशेषकी अपेक्षा योगमार्गणामें कायबलप्राण अन्तर्भूत हो सकता है । कार्यकारण सम्बन्धकी अपेक्षासेही ज्ञानमार्गणामें इन्द्रियोंका अन्तर्भाव हो सकता है । क्योंकि ज्ञानकार्यके प्रति लैब्धीन्द्रिय कारण हैं । इसीप्रकार गतिमार्गणामें आयुप्राणका अन्तर्भाव साहचर्यसम्बन्धकी अपेक्षा हो सकता है, क्योंकि इन दोनोंका उदय साथही होता है ।

संज्ञाओंका अन्तर्भाव किस प्रकार होता है सो दिखाते हैं ।

मायालोहे रदिपुब्बाहारं कोहमाणगह्मि भयं ।

वेदे मेहुणसण्णा लोहह्मि परिग्रहे सण्णा ॥ ६ ॥

मायालोभयो रतिपूर्वकमाहारं क्रोधमानकयोर्भयम् ।

वेदे मैथुनसंज्ञा लोभे परिग्रहे संज्ञा ॥ ६ ॥

अर्थ—रतिपूर्वक आहार अर्थात् आहारसंज्ञा रागविशेष होनेसे रागका स्वरूपही है और माया तथा लोभकषाय दोनोंही स्वरूपवान् हैं इसलिये स्वरूपस्वरूपवत्सम्बन्धकी अपेक्षा माया और लोभकषायमें आहारसंज्ञाका अन्तर्भाव होता है । इसीप्रकार (स्वरूपस्वरूपवत्सम्बन्धकी अपेक्षा) क्रोध तथा मानकषायमें भयसंज्ञाका अन्तर्भाव होता है । कार्यकारणसम्बन्धकी अपेक्षा वेदकषायमें मैथुनसंज्ञाका और लोभकषायमें परिग्रहसंज्ञाका अन्तर्भाव होता है; क्योंकि वेदकषाय तथा लोभकषाय कारण हैं और मैथुनसंज्ञा तथा परिग्रहसंज्ञा कार्य हैं ।

उपयोगका अन्तर्भाव दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

सागारो उबजोगो णाणे मग्गह्मि दंसणे मग्गे ।

अणगारो उबजोगो लीणोत्ति जिणेहिं णिब्बिट्ठं ॥ ७ ॥

साकार उपयोगो ज्ञानमार्गणायां दर्शनमार्गणायाम् ।

अनाकार उपयोगो लीन इति जिनेर्निर्दिष्टम् ॥ ७ ॥

अर्थ—उपयोग दो प्रकारका होता है एक साकार दूसरा अनाकार । साकार उपयोग उसको कहते हैं जिसमें पदार्थ ' यह घट है, यह पट है ' इत्यादि विशेषरूपसे प्रतिभासित हों । इसीको ज्ञान कहते हैं । इसलिये इसका ज्ञानमार्गणामें अन्तर्भाव होता है । जिसमें कोई भी विशेष पदार्थ प्रतिभासित न होकर केवल महासत्ताही विषय हो उसको अनाकार उपयोग तथा दर्शन कहते हैं । इसका दर्शनमार्गणामें अन्तर्भाव होता है ।

यद्यपि यहांपर उपर सब जगह अभेद विवक्षासे दो ही प्ररूपणाओंमें शेष प्ररूपणाओंका अन्तर्भाव दिखलादिया है तथापि आगे प्रत्येक प्ररूपणाका निरूपण भेदविवक्षासे ही करेंगे ।

प्रतिज्ञाके अनुसार प्रथम क्रमप्राप्त गुणस्थानका सामान्य लक्षण करते हैं ।

जेहिं दु लक्खिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।

जीवा ते गुणसण्णा णिद्धिठा सव्वदरसीहिं ॥ ८ ॥

यैस्तु लक्ष्यन्ते उदयादिषु सम्भवैर्भावैः ।

जीवास्ते गुणसंज्ञा निर्दिष्टाः सर्वदर्शिभिः ॥ ८ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीयादि कर्मोंकी उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि अवस्थाके

होनेपर होनेवाले जिन परिणामोंसे युक्त जो जीव देखे जाते हैं उन जीवोंको सर्वज्ञदेवने उसी गुणस्थानवाला और परिणामोंको गुणस्थान कहा है ।

भावार्थः—जिस प्रकार किसी जीवके दर्शन मोहनीय कर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे मिथ्यात्व (मिथ्यादर्शन) रूप परिणाम हुए तो उस जीवको मिथ्यादृष्टि और उन परिणामोंको मिथ्यात्व गुणस्थान कहेंगे ।

गुणस्थानोंके १४ चौदह भेद हैं । उनके नाम दो गाथाओंद्वारा दिखाते हैं ।

मिच्छो सासन मिस्सो अविरदसम्मो य देसविरदो य ।

विरदा पमत्त इदरो अपुव्व अणियदु सुहमो य ॥ ९ ॥

१ मिथ्यात्वं २ सासनः ३ मिश्रः । ४ अविरतसम्यक्त्वं च ५ देशविरतश्च ।

विरताः ६ प्रमत्तः ७ इतरः ८ अपूर्वः ९ अनिवृत्तिः १० सूक्ष्मश्च ॥ ९ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरतसम्यग्दृष्टि, देशविरत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्त-विरत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसांपराय । इस सूत्रमें चौथे गुणस्थानके साथ अविरतशब्द अन्त्यदीपक है इसलिये पूर्वके तीन गुणस्थानोंमेंभी अविरतपना समझना चाहिये । तथा छठे गुणस्थानके साथका विरत शब्द आदि दीपक है इस लिये यहांसे लेकर सम्पूर्ण गुणस्थान विरत ही होते हैं ऐसा समझना ।

उबसंत खीणमोहो सजोगकेवलजिणो अजोगी य ।

चउदस जीवसमासा क्रमेण सिद्धा य णादव्वा ॥ १० ॥

११ उपशान्तः, १२ क्षीणमोहः, १३ संयोगकेवलजिनः, १४ अयोगी च ।

चतुर्दश जीवसमासाः क्रमेण सिद्धाश्च ज्ञातव्याः ॥ १० ॥

अर्थ—उपशान्तमोह, क्षीणमोह, संयोगकेवलजिन, अयोगकेवली ये १४ चौदह जीवसमासा (गुणस्थान) हैं । और सिद्ध जीवसमासांसे रहित हैं । अर्थात् इस सूत्रमें क्रमेण शब्द जो पड़ा है उससे यह सूचित होता है कि जीवसामान्यके दो भेद हैं, एक संसारी दूसरा मुक्त । मुक्तअवस्था संसारपूर्वक ही होती है ! संसारियोंके गुणस्थानकी अपेक्षा चौदह भेद हैं । इसके अनन्तर क्रमसे गुणस्थानोंसे रहित मुक्त या सिद्ध अवस्था प्राप्त होती है । इस गाथामें संयोग शब्द अन्त्यदीपक है इसलिये पूर्वके मिथ्यादृष्ट्यादि सबही गुणस्थानवर्ती जीव योगसहित होते हैं । और जिन शब्द मध्यदीपक है इससे असंयतसम्यग्दृष्टिसे लेकर अयोगी पर्यन्त सभी जिन होते हैं । केवलि शब्द आदिदीपक है इसलिये संयोगी अयोगी तथा सिद्ध तीनों ही केवली होते हैं यह सूचित होता है ।

इस प्रकार सामान्यसे गुणस्थानोंका निर्देशकर अब प्रत्येक गुणस्थानोंमें जो २ भाव होते हैं उनका उल्लेख करते हैं ।

मिच्छे खलु ओदइओ विदिये पुण पारणामिओ भावो ।

मिस्से खओबसमिओ अविरदसम्महि तिण्णेव ॥ ११ ॥

मिथ्यात्वे खलु औदयिको द्वितीय पुनः पारणामिको भावः ।

मिश्रे क्षायोपशमिकः अविरतसम्यक्त्वे त्रय एव ॥ ११ ॥

अर्थ—प्रथम गुणस्थानमें औदयिक भाव होते हैं । और द्वितीय गुणस्थानमें पारणामिक भाव होते हैं । मिश्रमें क्षायोपशमिक भाव होते हैं । और चतुर्थ गुणस्थानमें औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक इस प्रकार तीनोंही भाव होते हैं ।

कर्मके उदयसे जो आत्माके परिणाम हों उनको औदयिक भाव कहते हैं । जो कर्मके उपशम होनेसे भाव होते हैं उनको औपशमिक भाव कहते हैं । सर्वघातिस्पर्धकोंके वर्तमान निषेधोंके बिना फल दिये ही निर्जरा होनेपर और उसीके (सर्वघातिस्पर्धकोंके) आगामिनिषेधोंका सदैवस्थारूप उपशम होनेपर देशघाति स्पर्धकोंका उदय होनेपर जो आत्माके परिणाम होते हैं उनको क्षायोपशमिक भाव कहते हैं । जिनमें कर्मके उदय उपशमादिकी कुछ भी अपेक्षा न हो उनको पारणामिक भाव कहते हैं ।

उक्त चारों ही गुणस्थानके भाव किस अपेक्षासे कहे हैं उसको दिखानेके लिये सूत्र कहते हैं ।

एदे भावा णियमा वंसणमोहं पडुच्च भणिदा हु ।

चारित्तं णत्थि जदो अविरदअन्तेसु ठाणेसु ॥ १२ ॥

एते भावा नियमा दर्शनमोहं प्रतीत्य भणिताः खलु ।

चारित्रं नास्ति यतो अविरतान्तेषु स्थानेषु ॥ १२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानोंमें जो नियमबद्ध औदयिकादि भाव कहे हैं वे दर्शनमोहनीय कर्मकी अपेक्षासे हैं; क्योंकि चतुर्थगुणस्थानपर्यन्त चारित्र नहीं होता । अर्थात् मिथ्यादृष्ट्यादि गुणस्थानोंमें यदि सामान्यसे देखा जाय तो केवल औदयिकादि भाव ही नहीं होते किन्तु क्षायोपशमिकादि भाव भी होते हैं तथापि यदि केवल दर्शनमोहनीय कर्मकी अपेक्षा देखा जाय तो औदयिकादि भाव ही होते हैं; क्योंकि प्रथमगुणस्थानमें दर्शनमोहनीय-कर्मकी मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयमात्रकी अपेक्षा है इसलिये औदयिक भाव ही हैं । द्वितीयगुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकी अपेक्षा ही नहीं है इसलिये पारणामिकभाव हैं । तृतीयगुणस्थानमें जात्यन्तर सर्वघाति मिश्रप्रकृतिका उदय है इसलिये क्षायोपशमिक भाव होते हैं । इसीप्रकार चतुर्थ गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकर्मके उपशम क्षय क्षायोपशम तीनोंका सद्भाव है इसलिये तीनों ही प्रकारके भाव होते हैं ।

पञ्चमादिगुणस्थानोंमें जो २ भाव होते हैं उनको दो गाथाओंद्वारा दिखाते हैं ।

देसविरदे प्रमत्ते इदरे य खओबसमियभावो दु ।

सो खलु चरित्तमोहं पडुच्च भणियं तथा उवार्हें ॥ १३ ॥

देशविरते प्रमत्ते इतरे च क्षायोपशमिकभावस्तु ।

स खलु चारित्रमोहं प्रतीत्य भणितस्तथा उपरि ॥ १३ ॥

अर्थ—देशविरत प्रमत्त अप्रमत्त इन गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिक भाव होते हैं । तथा इनके आगे अपूर्वकरणादि गुणस्थानोंमें भी चारित्रमोहनीयकी अपेक्षा ही भावोंको कहेंगे ।

तत्तो उवरिं उवसमभावो उवसामगेसु खबगेसु ।

खइओ भावो णियमा अजोगिचरिमोत्ति सिद्धे य ॥ १४ ॥

तत उपरि उपशमभावः उपशमकेषु क्षपकेषु ।

क्षायिको भावो नियमात् अयोगिचरिम इति सिद्धे च ॥ १४ ॥

अर्थ—सातवें गुणस्थानके ऊपर उपशमश्रेणिवाले आठवें नौवें दशवें गुणस्थानमें तथा ग्यारहवेंमें औपशमिकभाव ही होते हैं, इसीप्रकार क्षपकश्रेणिवाले उक्त तीन गुणस्थान तथा क्षीणमोह, सयोगकेवली अयोगकेवली गुणस्थानोंमें और सिद्धोंके नियमसे क्षायिक भाव ही होते हैं । क्योंकि उपशम श्रेणीवाला तीनों गुणस्थानोंमें चारित्रमोहनीय कर्मकी इक्कीस प्रकृतियोंका उपशम करता है और ग्यारहवेंमें सम्पूर्ण चारित्रमोहनीयका उपशम करचुकता है इसलिये यहांपर औपशमिक भाव ही होते हैं । इसीतरह क्षपकश्रेणिवाला इक्कीस प्रकृतियोंका क्षय करता है और क्षीणमोह, सयोगी, अयोगी और सिद्ध यहांपर क्षय होचुका है इसलिये क्षायिक भाव ही होते हैं ।

इसप्रकार संक्षेपसे सम्पूर्ण गुणस्थानोंमें होनेवाले भाव और उनके निमित्तको दिखाकर गुणस्थानोंका लक्षण अब क्रमप्राप्त है, इसलिये पहले प्रथमगुणस्थानका लक्षण और उसके भेदोंको कहते हैं ।

मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसद्वहणं तु तच्चअत्थाणं ।

एयंतं विवरीयं विणयं संसायिदमण्णाणं ॥ १५ ॥

मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यात्वमश्रद्धानं तु तत्त्वार्थानाम् ।

एकान्तं विपरीतं विनयं संशयितमज्ञानम् ॥ १५ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे तत्त्वार्थके विपरीत श्रद्धानको मिथ्यात्व कहते हैं । इसके पांच भेद हैं एकान्त विपरीत विनय संशयित अज्ञान । अनेक धर्मात्मक पदार्थको किसी एक धर्मात्मक मानना इसको एकान्त मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे वस्तु सर्वथा क्षणिकही है, अथवा नित्य ही है, वक्तव्य ही है, अवक्तव्य ही है इत्यादि ।

धर्मादिकके स्वरूपको विपर्ययरूप मानना इसको विपरीत मिथ्यात्व कहते हैं; जैसे हिंसासे स्वर्गादिककी प्राप्ति होती है ।

सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि देव गुरु तथा उनके कहे हुए शास्त्रोंमें समान बुद्धि रखनेको विनयमिथ्यात्व कहते हैं । जैसे जिन और बुद्ध तथा उनके धर्मको समान समझना ।

समीचीन तथा असमीचीन दोनों प्रकारके पदार्थोंमेंसे किसी भी एकका निश्चय न होना इसको संशय मिथ्यात्व कहते हैं । जैसे समग्र्य लिङ्ग मोक्षका साधन है या निर्ग्रन्थ लिङ्ग, अथवा सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्य इनकी एकता मोक्षका साधन है अथवा यागादि कर्म, तथा कर्मोंके सर्वथा अभावसे अनन्तगुणविशिष्ट आत्माकी शुद्ध अवस्थाविशेषको मोक्ष कहते हैं यद्वा बुद्धि आदि विशेषगुणोंके अभावको मोक्ष कहते हैं ।

जीवादि पदार्थोंको “ यही है ” “ इसी प्रकार है ” इस तरह विशेषरूपसे न समझनेको अज्ञानमिथ्यात्व कहते हैं ।

इस प्रकार सामान्यसे मिथ्यात्वके ये पांच भेद हैं विस्तारसे असंख्यातलोकप्रमाणतक भेद हो सकते हैं ।

उक्त मिथ्यात्वके पांच भेदोंके दृष्टान्तोंको दिखते हैं ।

एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बह्व तावसो विणओ ।

इंदो विय संसइयो मक्कडियो चेव अण्णाणी ॥ १६ ॥

एकान्तो बुद्धदर्शी विपरीतो ब्रह्म तापसो विनयः ।

इन्द्रोपि च संशयितो मस्करी चैवाज्ञानी ॥ १६ ॥

अर्थ—ये केवल दृष्टान्तमात्र हैं इसलिये प्रत्येकके साथ आदि शब्द लगा लेना चाहिये । अर्थात् बौद्धादिमतवाले एकान्तमिथ्यादृष्टि हैं । याज्ञिक ब्राह्मणादि विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं । तापसादि विनयमिथ्यादृष्टि हैं । इन्द्रनामक श्वेताम्बर गुरु प्रभृति संशयमिथ्यादृष्टि हैं । और मस्करी आदिक अज्ञानी हैं ।

उक्त मिथ्यात्वके लक्षणको दूसरे प्रकारसे कहते हैं ।

मिच्छंतं वेदंतो जीवो विवरीयदंसणो होदि ।

ण य धम्मं रोचेदि हु महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥ १७ ॥

मिथ्यात्वं विदन् जीवो विपरीतदर्शनो भवति ।

न च धम्मं रोचते हि मधुरं खलु रसं यथा ज्वरितः ॥ १७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न होनेवाले मिथ्या परिणामोंका अनुभव करनेवाला जीव विपरीत श्रद्धानेवाला हो जाता है । उसको जिसप्रकार पित्तज्वरसे युक्त जीवको मीठा रस भी अच्छा मालुम नहीं होता उस ही प्रकार यथार्थ धम्म अच्छा मालुम नहीं होता है । **भावार्थ**—मिथ्यात्वप्रकृतिके उदयसे जो जीव देवगुरुशास्त्रके यथार्थ स्वरूपका

श्रद्धान न करके विपरीत श्रद्धान करता है उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं । यहाँपर जो च शब्द डाला है उससे यह अभिप्राय समझना चाहिये कि यदि कोई जीव बाहिरसे सम्पद-दृष्टिके समान आचरण करै और अन्तरङ्गसे उसके विपरीत परिणाम हों तो वह यथार्थमें मिथ्यादृष्टि ही है ।

इस अर्थको दृढ़ करनेके लिये ही मिथ्यादृष्टिके बाह्य चिह्नोंको दिखाते हैं ।

मिच्छाद्विही जीवो उबइदं पवयणं ण सद्वहदि ।

सद्वहदि असम्भावं उबइदं वा अणुबइदं ॥ १८ ॥

मिथ्यादृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्धाति ।

श्रद्धाति असद्भावमुपदिष्टं वाऽनुपदिष्टम् ॥ १८ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि जीव समीचीन गुरुओंके पूर्वापर विरोधादि दोषोंसे रहित और हितके करनेवाले भी वचनका यथार्थ श्रद्धान नहीं करता । किन्तु आचार्याभासेकेद्वारा उपदिष्ट या अनुपदिष्ट असद्भावका अर्थात् पदार्थके विपरीत स्वरूपका इच्छानुसार श्रद्धान करता है ।

इस प्रकार प्रथम गुणस्थानका स्वरूप, उसके भेद, और उनके दृष्टान्त, तथा बाह्य चिह्नोंको दिखाकर अब दूसरे सासादन गुणस्थानको कहते हैं ।

आदिमसम्मत्तद्धा समयादो छावलिचि वा सेसे ।

अणअणदरुदयादो णासियसम्मोत्ति सासणक्खो सो ॥ १९ ॥

आदिमसम्यक्त्वाद्धा आसमयतः षड्वालिरिति वा शेषे ।

अनान्यतरोदयात् नाशितसम्यक्त्व इति सासनारुयः सः ॥ १९ ॥

अर्थ—प्रथमोपशम सम्यक्त्वके अथवा यहाँपर वा शब्दका ग्रहण किया है इसलिये द्वितीयोपशम सम्यक्त्वके अन्तर्मुहूर्तमात्र कालमेंसे जब जघन्य एक समय तथा उत्कृष्ट छह आवली प्रमाण काल शेष रहे उतने कालमें अनन्तानुबन्धी कोष, मान, माया, लोभमेंसे किसीके भी उदयसे सम्यक्त्वकी विराधना होनेपर सम्यग्दर्शनगुणकी जो अव्यक्त अतत्त्वश्रद्धानरूप परिणति होती है उसको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं ।

अब इस गुणस्थानको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं ।

सम्मत्तरयणपव्वयसिहरादो मिच्छभूमिसमभिमुहो ।

णासियसम्मत्तो सो सासणणामो मुणोयव्वो ॥ २० ॥

सम्यक्त्वरत्नपर्वतशिखरात् मिथ्यात्वभूमिसमभिमुखः ।

नाशितसम्यक्त्वः सः सासननामा मन्तव्यः ॥ २० ॥

अर्थ—सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वतके शिखरसे गिरकर जो जीव मिथ्यास्वरूप भूमिके सम्मुख गो० २

हो चुका है, अत एव जिसने सम्यक्त्वकी विराधना (नाश) करदी है और मिथ्यात्वको प्राप्त नहीं किया है उसको सासन या सासादन गुणस्थानवर्ती कहते हैं । भावार्थ—जिसप्रकार पर्वतसे गिरनेपर और भूमिपर पहुँचनेके पहले मध्यका जो काल है वह न पर्वतपर ठहरनेकाही है और न भूमिपर ही ठहरनेका है; किन्तु अनुभय काल है । इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषायमेंसे किसी एकके उदय होनेसे सम्यक्त्वपरिणामोंके छूटनेपर, और मिथ्यात्व प्रकृतिके उदय न होनेसे मिथ्यात्व परिणामोंके न होनेपर मध्यके अनुभयकालमें जो परिणाम होते हैं उनको सासन या सासादन गुणस्थान कहते हैं । यहापर जो सम्यक्त्वको रत्नपर्वतकी उपमा दी है उसका अभि- प्राय यह है कि जिसप्रकार रत्नपर्वत अनेक रत्नोंका उत्पन्न करनेवाला और उन्नतस्थान पर पहुँचानेवाला है उसही प्रकार सम्यक्त्व भी सम्यग्ज्ञानादि अनेक गुणरत्नोंको उत्पन्न करनेवाला है और सबसे उन्नत मोक्षस्थानपर पहुँचानेवाला है ।

क्रमप्राप्त तृतीयगुणस्थानका लक्षण करते हैं ।

सम्भामिच्छुदयेण य जत्तंतरसव्वघादिकज्जेण ।

णय सम्मं मिच्छं पि य सम्मिस्सो होदि परिणामो ॥ २१ ॥

सम्यग्मिथ्यात्वोदयेन च जात्यन्तरसर्वघातिकार्येण ।

नच सम्यक्त्वं मिथ्यात्वमपि च सम्मिश्रो भवति परिणामः ॥ २१ ॥

अर्थ—जिसका प्रतिपक्षी आत्माके गुणको सर्वथा घातनेका कार्य दूसरी सर्वघाति प्रकृतियोंसे विलक्षण जातिका है उस जात्यन्तर सर्वघाति सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके उदयसे केवल सम्यक्त्वरूप या मिथ्यात्वरूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं । (शङ्का) यह तीसरा गुणस्थान बन नहीं सकता; क्योंकि मिश्र-रूप परिणाम ही नहीं हो सकते । यदि विरुद्ध दो प्रकारके परिणाम एकही आत्मा और एकही कालमें माने जाय तो शीतउष्णकी तरह परस्पर सहावस्थान लक्षण विरोध दोष आवेगा । यदि क्रमसे दोनों परिणामोंकी उत्पत्ति मानीजाय तो मिश्ररूप तीसरा गुणस्थान नहीं बनता । (समाधान) यह शङ्का ठीक नहीं है, क्योंकि मित्रामित्रन्यायसे एककाल और एकही आत्मामें मिश्ररूप परिणाम हो सकते हैं । भावार्थ—जिसप्रकार देवदत्तनामक किसी मनुष्यमें यज्ञदत्तकी अपेक्षा मित्रपना और चैत्रकी अपेक्षा अमित्रपना ये दोनों धर्म एकही कालमें रहते हैं और उनमें कोई विरोध नहीं है । उस ही प्रकार सर्वज्ञ निरूपित पदार्थके स्वरूपके श्रद्धानकी अपेक्षा समीचीनता और सर्वज्ञाभासकथित अतत्त्वश्रद्धानकी अपेक्षा मिथ्यापना ये दोनों ही धर्म एक काल और एक आत्मामें घटित हो सकते हैं इसमें कोई भी विरोधादि दोष नहीं हैं ।

उक्त अर्थको ही दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं ।

वह्निगुडमिव वामिस्सं पुहभावं णंघ कारितुं सक्कं ।

एवं मिस्सयभावो सम्मामिच्छोत्तिगादब्धो ॥ २२ ॥

दधिगुडमिव व्यामिश्रं पृथग्भावं नैव कर्तुं शक्यम् ।

एवं मिश्रकभावः सम्यग्मिथ्यात्वमिति ज्ञातव्यम् ॥ २२ ॥

अर्थ—जिसप्रकार दही और गुडको परस्पर इस तरहसे मिलानेपर कि फिर उन दोनोंको पृथक् २ नहीं करसकें, उस द्रव्यके प्रत्येक परमाणुका रस मिश्ररूप (खट्टा और मीठा मिला हुआ) होता है । उस ही प्रकार मिश्रपरिणामोंमें भी एकही कालमें सम्यक्त्व और मिथ्यात्वरूप परिणाम रहते हैं ऐसा समझना चाहिये ।

इस गुणस्थानमें होनेवाली विशेषताको दिखाते हैं ।

सो संजमं ण गिण्हदि देसजमं वा ण बंधे आउं ।

सम्मं वा मिच्छं वा पडिबज्जिय मरदि णियमेण ॥ २३ ॥

स संयमं न गृह्णाति देशयमं वा न बध्नाति आयुः ।

सम्यक्त्वं वा मिथ्यात्वं वा प्रतिपद्य म्रियते नियमेन ॥ २३ ॥

अर्थ—तृतीय गुणस्थानवर्ती जीव सकल संयम या देशसंयमको ग्रहण नहीं करता, और न इस गुणस्थानमें आयुर्कर्मका बन्ध ही होता है । तथा इस गुणस्थानवाला जीव यदि मरण करता है तो नियमसे सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूप परिणामोंको प्राप्त करके ही मरण करता है, किन्तु इस गुणस्थानमें मरण नहीं होता ।

उक्त अर्थको और भी स्पष्ट करते हैं ।

सम्मत्तमिच्छपरिणामेसु जहिं आउगं पुरा बद्ध ।

तहिं मरणं मरणंतसमुद्घादो वि य ण मिस्सम्मि ॥ २४ ॥

सम्यक्त्वमिथ्यात्वपरिणामेषु यत्रायुष्कं पुरा बद्धम् ।

तत्र मरणं मारणान्तसमुद्घातोपि च न मिश्रे ॥ २४ ॥

अर्थ—तृतीयगुणस्थानवर्ती जीवने तृतीयगुणस्थानको प्राप्त करने से पहले सम्यक्त्व या मिथ्यात्वरूपके परिणामोंमेंसे जिस जातिके परिणाम कालमें आयुर्कर्मका बन्ध किया हो उस ही तरहके परिणामोंके होने पर उसका मरण होता है, किन्तु मिश्रगुणस्थानमें मरण नहीं होता । और न इस गुणस्थानमें मारणान्तिक समुद्घात ही होता है ।

१ घूल शरीरको बिना छोड़े ही आत्माके प्रदेशोंका बाहिर निकलना इसको समुद्घात कहते हैं । उसके सात भेद हैं—वेदना कषाय वैक्रियक मारणान्तिक तेजस आहार और केवल । मरणसे पूर्व समयमें होनेवाले समुद्घातको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं ।

चतुर्थ गुणस्थानका लक्षण बताने के पूर्व उसमें होनेवाले सम्यग्दर्शन के औपशमिक क्षायिक क्षायोपशमिक इन तीन भेदोंमेंसे प्रथम क्षायोपशमिकका लक्षण करते हैं ।

सम्मत्तदेसघादिस्सुदयादो वेदगं हवे सम्मं ।

चलमलिनमगाढं तं णिञ्चं कम्मक्खवणहेदु ॥ २५ ॥

सम्यक्त्वदेशघातेरुदयाद्वेदकं भवेत्सम्यक्त्वम् ।

चलं मलिनमगाढं तन्नित्यं कर्मक्षपणहेतु ॥ २५ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनगुणको विपरीत करनेवाली प्रकृतियोंमेंसे देशघाति सम्यक्त्व प्रकृतिके उदय होने पर (तथा अनन्तानुबन्धि चतुष्क और मिथ्यात्व मिश्र इन सर्वघाति प्रकृतियोंके आगामि निषेकोंका सदवस्थारूप उपशम और वर्तमान निषेकोंकी विना फल दिये ही निर्जरा होनेपर) जो आत्माके परिणाम होते हैं उनको वेदक या क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । वे परिणाम चल मलिन या अगाढ होते हुए भी नित्य ही अर्थात् जघन्य अन्तर्मुहूर्तसे लेकर उत्कृष्ट छयासठ सागरपर्यन्त कर्मोंकी निर्जराको कारण हैं ।

जिसप्रकार एकही जल अनेक कल्लोलरूपमें परिणत होता है उसही प्रकार जो सम्यग्दर्शन सम्पूर्ण तीर्थकर या अर्हन्तोंमें समान अनन्त शक्तिके होने पर भी ' श्रोशान्तिनयनी शान्तिकेलिये और श्रीपार्श्वनाथजी रक्षा करनेके लिये समर्थ हैं ' इस तरह नाना विषयोंमें चलयमान होता है उस को चल सम्यग्दर्शन कहते हैं । जिस प्रकार शुद्ध सुवर्ण भी मलके निमित्तसे मलिन कहा जाता है उसही तरह सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे जिसमें पूर्ण निर्मलता नहीं है उसको मलिन सम्यग्दर्शन कहते हैं । जिस तरह वृद्ध पुरुषके हाथमें ठहरी हुई भी लाठी कांपती है उसही तरह जिस सम्यग्दर्शनके होते हुए भी अपने वनवाये हुए मन्दिरादिमें ' यह मेरा मन्दिर है ' और दूसरेके वनवाये हुए मन्दिरादिमें ' यह दूसरेका है ' ऐसा भ्रम हो उसको अगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अब औपशमिक या क्षायिक सम्यग्दर्शनका लक्षण कहते हैं ।

सत्तण्हं उबसमदो उबसमसम्मो खयादु खइयो य ।

विदियकसायुदयादो असंजदो होदि सम्मो य ॥ २६ ॥

सत्तानामुपशमत उपशमसम्यक्त्वं क्षयात्तु क्षायिकं च ।

द्वितीयकषायोदयादसंयतं भवति सम्यक्त्वं च ॥ २६ ॥

अर्थ—तीन दर्शनमोहनीय अर्थात् मिथ्यात्व मिश्र और सम्यक्त्व तथा चार अनन्तानुबन्धी कषाय इन सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम और सर्वथा क्षयसे क्षायिक सम्यग्दर्शन होता है । इस (चतुर्थगुणस्थानवर्ती) सम्यग्दर्शन के साथ संयम बिल्कुल ही नहीं होता; क्योंकि यहाँ पर दूसरी अप्रत्याख्यानावरणकषायका उदय है । अत एव इस गुणस्थानवर्ती जीवको असंयतसम्यग्दृष्टि कहते हैं ।

इस गुणस्थानमें जो कुछ विशेषता है उसको दिखाते हैं ।

सम्माइटी जीवो उबहट्टं पबयणं तु सद्दहदि ।

सद्दहदि असम्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा ॥ २७ ॥

सम्यग्दृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं तु श्रद्धधाति ।

श्रद्धात्पुनस्तद्भावमज्ञायमानो गुरुनियोगात् ॥ २७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव आचार्योंके द्वारा उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान करता है, किन्तु अज्ञानतावशा गुरुके उपदेशसे विपरीत अर्थका भी श्रद्धान करलेता है । भावार्थ “ अरिहंत-देवका ऐसा ही उपदेश है ” ऐसा समझकर यदि कोई पदार्थका विपरीत श्रद्धान भी करता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि ही है; क्योंकि उसने अरिहंतका उपदेश समझकर उस पदार्थका वैसा श्रद्धान किया है । परन्तु—

सुत्तादो तं सम्मं दूरसिज्जंतं जदा ण सद्दहदि ।

सो चेव हवह मिच्छाइटी जीवो तदो पट्टदी ॥ २८ ॥

सूत्रात्तं सम्यक् दर्शयन्तं यदा न श्रद्धधाति ।

स चैव भवति मिथ्यादृष्टिर्भावस्तदा प्रभृति ॥ २८ ॥

अर्थ—गणधरादिकथित सूत्रके आश्रयसे आचार्यादिके द्वारा भलेप्रकार समझाये जाने पर भी यदि वह जीव उस पदार्थका समीचीन श्रद्धान न करे तो वह जीव उस ही कालसे मिथ्यादृष्टि होजाता है । भावार्थ—आगममें दिखाकर समीचीन पदार्थके समझाने पर भी यदि वह जीव पूर्वमें अज्ञानसे किये हुए अतत्त्वश्रद्धानको न छोड़े तो वह जीव उसही कालसे मिथ्यादृष्टि कहा जाता है ॥

चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीवका और भी विशेष स्वरूप दिखाते हैं ।

णो इन्द्रियेषु विरदो णो जीवे थावरे तसे वापि ।

जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइटी अविरदो सो ॥ २९ ॥

नो इन्द्रियेषु विरतो नो जीवे स्थावरे तसे वापि ।

यः श्रद्धधाति जिनोक्तं सम्यग्दृष्टिरविरतः सः ॥ २९ ॥

अर्थ—जो इन्द्रियोंके विषयोंसे तथा त्रस स्थावर जीवोंकी हिंसासे विरक्त नहीं है, किन्तु जिनेन्द्रदेवद्वारा कथित प्रवचनका श्रद्धान करता है वह अविरतसम्यग्दृष्टि है । भावार्थ—संयम दो प्रकारका होता है, एक इन्द्रियसंयम दूसरा प्राणसंयम । इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त होनेको इन्द्रियसंयम, और अपने तथा परके प्राणोंकी रक्षाको प्राणसंयम कहते हैं । इस गुणस्थानमें दोनों संयमोंमेंसे कोई भी संयम नहीं होता अत एव इसको अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं । परन्तु इस गुणस्थानमें जो अपि शब्द पड़ा है उससे सूचित होता है कि बिना प्रयोजन किसी हिंसामें प्रवृत्त भी नहीं होता ।

पंचमगुणस्थानका लक्षण कहते हैं ।

पञ्चकखाणुदयादो संजमभावो ण होदि णवरिं तु ।
थोववदो होदि तदो देसवदो होदि पंचमओ ॥ ३० ॥

प्रत्याख्यानोदयात् संयमभावो न भवति नवरिं तु ।

स्तोकव्रतो भवति ततो देशव्रतो भवति पञ्चमः ॥ ३० ॥

अर्थ—यहां पर प्रत्याख्यानानावरण कषायका उदय होनेसे पूर्ण संयम तो नहीं होता, किन्तु यह विशेषता है कि अप्रत्याख्यानानावरणकषायका उदय न होनेसे देशव्रत होता है, अतः एव इस पंचमगुणस्थानका नाम देशव्रत है ।

इस गुणस्थानको विरताविरत भी कहते हैं । सो क्यों ? इसकी उपपत्तिको कहते हैं ।

जो तसबहाउविरदो अविरदओ तहय थावरबहादो ।

एकसमयम्हि जीवो विरदाविरदो जिणेक्कमई ॥ ३१ ॥

यखसबधाद्विरतः अविरतस्तथा च स्थावरबधात् ।

एकसमये जीवो विरताविरतो जिनैकमतिः ॥ ३१ ॥

अर्थ—जो जीव जिनेन्द्रदेवमें अद्वितीय श्रद्धाको रखता हुआ त्रसकी हिंसासे विरत और उस ही समयमें स्थावरकी हिंसासे अविरत होता है उस जीवको विरताविरत कहते हैं । भाषार्थ—यहां पर जिन शब्द उपलक्षण है इसलिये जिनशब्दसे जिनेन्द्रदेव, और उनके उपदेशरूप आगम, तथा उसके अनुसार चलनेवाले गुरुओंका ग्रहण करना चाहिये । अर्थात् जिनदेव, जिन आगम, जिनगुरुओंका श्रद्धान करनेवाला जो जीव एकही समयमें त्रस हिंसाकी अपेक्षा विरत और स्थावरहिंसाकी अपेक्षा अविरत होता है इसलिये उसको एकही समयमें विरताविरत कहते हैं । यहांपर जो तथा च शब्द पड़ा है उसका यह अभिप्राय है कि बिना प्रयोजन स्थावरहिंसाको भी नहीं करता ।

छठे गुणस्थानका लक्षण कहते हैं ।

संजलणणोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।

मलजणणपमादो वि य तम्हा हु पमत्तविरदो सो ॥ ३२ ॥

संज्वलननोकषायाणामुदयात्संयमो भवेद्यस्मात् ।

मलजननपमादोपि च तस्मात्खलु प्रमत्तविरतः सः ॥ ३२ ॥

अर्थ—सकलसंयमको रोकनेवाली प्रत्याख्यानानावरण कषायका उपशम होने से पूर्ण संयम तो हो चुका है; किन्तु उस संयम के साथ संज्वलन और नो कषायके उदयसे संयममें मलको उत्पन्न करनेवाला प्रमाद भी होता है, अतः एव इस गुणस्थानको प्रमत्तविरत कहते हैं ।

वत्तावत्तपमादे जो वसइ पमत्तसंजदो होदि ।

सयलगुणशीलकलिओ महव्वई चित्तलायरणो ॥ ३३ ॥

व्यक्ताव्यक्तप्रमादे यो वमति प्रमत्तसंयतो भवति ।

सकलगुणशीलकलितो महाव्रती चित्रलाचरणः ॥ ३३ ॥

अर्थ—जो महाव्रती सम्पूर्ण मूलगुण (२८) और शीलसे युक्त होता हुआ भी व्यक्त और अव्यक्त दोनों प्रकारके प्रमादोंको करता है उस प्रमत्तसंयतका आचरण चित्रल होता है ।

प्रकरणमें प्राप्त प्रमादोंका वर्णन करते हैं ।

विकहा तहा कसाया इंदियाणिडा तहेव पणयोय ।

चटु चटु पणमेगेगं हाति पमादा हु पण्णरस ॥ ३४ ॥

विकथास्तथा कषाया इन्द्रियनिद्रास्तथैव प्रणयश्च ।

चतुःचतुःपञ्चैकैकं भवन्ति प्रमादाः खलु पञ्चदश ॥ ३४ ॥

अर्थ—चार विकथा (स्त्रीकथा भक्तकथा राष्ट्रकथा अवनिपालकथा) चार कषाय (क्रोध मान माया लोभ) पांच इन्द्रिय (स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु और श्रोत्र) एक निद्रा और एक प्रणय (स्नेह) ये पंद्रह प्रमादोंकी संख्या है ।

अब प्रमादोंका विशेष वर्णन करनेके लिये उनके पांच प्रकारोंका वर्णन करते हैं ।

संखा तह पत्थारो परियट्टण णडु तह समुद्धिं ।

एदे पंच पयारा पमदसमुक्कित्तणे णेया ॥ ३५ ॥

संख्या तथा प्रस्तारः परिवर्तनं नष्टं तथा समुद्दिष्टम् ।

एते पञ्च प्रकाराः प्रमादसमुत्कीर्तने ज्ञेयाः ॥ ३५ ॥

अर्थ—प्रमादके विशेष वर्णनके विषयमें इन पांच प्रकारोंको समझना चाहिये । संख्या, प्रस्तार, परिवर्तन, नष्ट, और समुद्दिष्ट । आलापोंके भेदों की गणनाको संख्या कहते हैं । संख्याके रखने या निकालनेके क्रमको प्रस्तार, और एक भेदसे दूसरे भेदपर पहुंचनेके क्रमको परिवर्तन, संख्याके द्वारा भेदके निकालनेको नष्ट, और भेदको रखकर संख्याके निकालनेको समुद्दिष्ट कहते हैं ।

संख्याकी उत्पत्तिका क्रम बताते हैं ।

सव्वेपि पुव्वभंगा उव्वरिमभंगेसु एक्कमेक्केसु ।

मेलंतित्ति य कमसो गुणिदे उप्पज्जदे संखा ॥ ३६ ॥

१-२ जिसका स्वयं अनुभव हो उसको व्यक्त और उससे विपरीतको अव्यक्त प्रमाद कहते हैं ।

३ वितकबरा अर्थात् जिसमें किसी दूसरे रंगका भी सद्भाव हो । छेदे गुणस्थानवर्ती मुनिका आचरण कषाययुक्त होनेसे चित्रल कहा जाता है ।

सर्वेपि पूर्वभङ्गा उपरिमभङ्गेषु एकैकेषु ।

मिलन्ति इति च क्रमशो गुणिते उत्पद्यते संख्या ॥ ३६ ॥

अर्थ—पूर्वके सब ही भङ्ग आगेके प्रत्येक भङ्गमें मिलते हैं, इसलिये क्रमसे गुणा-
कार करने पर संख्या उत्पन्न होती है । भावार्थ—पूर्वके विक्रियाओंके प्रमाण चारको आगेकी
कषायोंके प्रमाण चारसे गुणा करना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक विक्रिया प्रत्येक कषायके साथ पाई
जाती है । इससे जो राशि उत्पन्न हो (जैसे १६) उसको पूर्व समझकर उसके आगेकी
इन्द्रियोंके प्रमाण पांचसे गुणा करना चाहिये, क्योंकि प्रत्येक विक्रिया या कषाय प्रत्येक इन्द्रि-
यके साथ पाई जाती है । इसके अनुसार सोलहको पांचसे गुणने पर अस्सी प्रमादोंकी संख्या
निकलती है । निद्रा और प्रणय ये एक ही एक हैं इसलिये इन के साथ गुणा करनेपर
संख्यामें वृद्धि नहीं हो सकती ।

अब प्रस्तारक्रमको दिखाते हैं ।

पढमं पमदपमाणं क्रमेण णिक्खिविय उवरिमाणं च ।

पिंडं पडि एक्केकं णिक्खित्ते होदि पत्थारो ॥ ३७ ॥

प्रथमं प्रमादप्रमाणं क्रमेण निक्षिप्य उपरिमाणं च ।

पिण्डं प्रति एकैकं निक्षिप्ते भवति प्रस्तारः ॥ ३७ ॥

अर्थ—प्रथम प्रमादके प्रमाणका विरलन कर क्रमसे निक्षेपण करके उसके एक एक
रूपके प्रति आगेके पिण्डरूप प्रमादके प्रमाणका निक्षेपण करनेपर प्रस्तार होता है । भावार्थ—
प्रथम विक्रिया प्रमादका प्रमाण ४, उसका विरलन कर क्रमसे ११११ इसतरह निक्षेपण
करना । इसके उपर कषायप्रमादके प्रमाण चारको प्रत्येक एकके उपर ११११ इसतरह निक्षे-
पण करना, ऐसा करनेके अनंतर परस्पर (कषायको) जोड़ देने पर १६ सोलह होते हैं ।
इन सोलहका भी पूर्वकी तरह विरलन कर एक २ करके सोलह जगह रखना तथा प्रत्येक
एकके उपर आगेके इन्द्रियप्रमादका प्रमाण पांच २ रखना । ऐसा करनेसे पूर्वकी तरह परस्पर
जोड़ने पर अस्सी प्रमाद होते हैं । इसको प्रस्तार कहते हैं । इससे यह मालूम हो जाता है
कि पूर्वके समस्त प्रमाद, आगेके प्रमाद के प्रत्येक भेदके साथ पाये जाते हैं ।

प्रस्तारका दूसरा क्रम बताते हैं ।

णिक्खित्तु बिदियमेत्तं पढमं तस्सुवरि बिदियमेक्केक्कं ।

पिंडं पडि णिक्खेओ एवं सव्वत्थ कायव्वो ॥ ३८ ॥

निक्षिप्त्वा द्वितीयमात्रं प्रथमं तस्योपरि द्वितीयमेकैकम् ।

पिण्डं प्रति निक्षेप एवं सर्वत्र कर्तव्यः ॥ ३८ ॥

अर्थ—दूसरे प्रमादका जितना प्रमाण है उतनी जगहपर प्रथम प्रमादके पिण्डको रखकर, उसके ऊपर एक २ पिण्ड प्रति आगेके प्रमादमेंसे एक २ का निक्षेपण करना, और आगे भी सर्वत्र इसी प्रकार करना । भावार्थ—दूसरे कषाय प्रमादका प्रमाण चार है इसलिये चार जगह पर प्रथम विकथाप्रमादके पिण्डका स्थापन करके उसके ऊपर पिण्ड पिण्डके प्रति एक २ कषायका (११११) स्थापन करना । इनको परस्पर जोड़नेसे सोलह होते हैं । इन सोलहको प्रथम समझकर, इनसे आगेके इन्द्रिय प्रमादका प्रमाण पांच है इस लिये सोलहके पिण्डको पांच जगह रखकर पीछे प्रत्येक पिण्डपर क्रमसे एक २ इन्द्रियका स्थापन करना (१६ १६ १६ १६ १६) इन सोलहको इन्द्रियप्रमादके प्रमाण पांचसे गुणा करने पर या पांच जगहपर रखे हुए, सोलहको परस्पर जोड़नेसे प्रमादोंकी संख्या अस्सी निकलती है ।

प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षपरिवर्तनको कहते हैं ।

तदियक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि विदियक्खो ।

दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि पढमक्खो ॥ ३९ ॥

तृतीयाक्ष अन्तगत आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः ।

द्वावपि गत्वान्तमादिगते संक्रामति प्रथमाक्षः ॥ ३९ ॥

अर्थ—प्रमादका तृतीयस्थान अन्तको प्राप्त होकर जब फिरसे आदिस्थानको प्राप्त हो-जाय तब प्रमादका दूसरा स्थान भी बदलजाता है । इसी प्रकार जब दूसरा स्थान भी अन्तको प्राप्त होकर फिर आदि को प्राप्त होजाय तब तीसरा प्रमादका स्थान बदलता है । भावार्थ—तीसरा इन्द्रियस्थान जब स्पर्शनादिके क्रमसे क्रोध और प्रथम विकथापर घूमकर अन्तको प्राप्त होजाय तब दूसरे कषायस्थानमें क्रोधका स्थान छूटकर मानका स्थान होता है । इसी प्रकार क्रमसे जब कषायका स्थान भी पूर्ण होजाय तब विकथामें स्त्रीकथाका स्थान छूटकर राष्ट्र-कथाका स्थान होता है । इस क्रमसे स्त्रीकथालापी क्रोधी स्पर्शनेन्द्रियवशंगतो निद्रालुः स्नेहवान् आदि अस्सी हू भट्ट निकलते हैं । निद्रा और स्नेह इनका दूसरा भेद नहीं है, इसलिये इनमें अक्षसंचार नहीं होता ।

दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा अक्षसंचारको कहते हैं

पढमक्खो अंतगदो आदिगदे संकमेदि बिदियक्खो ।

दोण्णिवि गंतूणंतं आदिगदे संकमेदि तदियक्खो ॥ ४० ॥

प्रथमाक्ष अन्तगत आदिगते संक्रामति द्वितीयाक्षः ।

द्वावपि गत्वान्तमादिगते संक्रामति तृतीयाक्षः ॥ ४० ॥

१ एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानपर जानेको परिवर्तन कहते हैं ।

अर्थ—प्रथमाक्ष जो विकथारूप प्रमादस्थान वह घूमता हुआ जब क्रमसे अंततक पहुँचकर फिर स्त्रीकथारूप आदि स्थानपर आता है तब दूसरा कषायका स्थान क्रोधको छोड़कर मानपर आता है। इसी प्रकार जब दूसरा कषायस्थान भी अन्तको प्राप्त होकर फिर आदि (क्रोध) स्थानपर आता है तब तीसरा इन्द्रियस्थान बदलता है। अर्थात् स्पर्शनको छोड़कर रसनापर आता है।

आगे नष्टके लानेकी विधि बताते हैं।

सगमाणेहिं विभत्ते सेसं लक्खित्तु जाण अक्खपदं ।

लद्धे रूवं पक्खिव सुद्धे अंते ण रूवपक्खेवो ॥ ४१ ॥

स्वकमानैर्विभक्ते शेषं लक्षयित्वा जानीहि अक्षपदम् ।

लब्धे रूपं प्रक्षिप्य शुद्धे अन्ते न रूपप्रक्षेपः ॥ ४१ ॥

अर्थ—किसीने जितनेवां प्रमादका भङ्ग पूछा हो उतनी संख्याको रखकर उसमें क्रमसे प्रमादप्रमाणका भाग देना चाहिये। भाग देनेपर जो शेष रहे उसको अक्षस्थान समझ जो लब्ध आवे उसमें एक मिलाकर, दूसरे प्रमादके प्रमाणका भाग देना चाहिये, और भाग देनेसे जो शेष रहै उसको अक्षस्थान समझना चाहिये। किन्तु शेष स्थानमें यदि शून्य हो तो अन्तका अक्षस्थान समझना चाहिये, और उसमें एक नहीं मिलाना चाहिये। जैसे किसीने पूछा कि प्रमादका वीसवा भङ्ग कौनसा है? तो वीसकी संख्याको रखकर उसमें प्रथम विकथाप्रमादके प्रमाण चारका भाग देनेसे लब्ध पांच आये, और शून्य शेषस्थानमें है इसलिये पांचमें एक नहीं मिलाना, और अन्तकी विकथा (अवनिपालकथा) समझना चाहिये। इसी प्रकार आगे भी कषायके प्रमाण चारका भाग देनेसे लब्ध और शेष एक २ ही रहा इस लिये प्रथम क्रोधकषाय, और लब्ध एकमें एक और मिलानेसे दो होते हैं इसलिये दूसरी रस-नेन्द्रिय समझनी चाहिये। अर्थात् २० वां भङ्ग अवनिपालकथालापी क्रोधी रसनेन्द्रियवशांगतो निद्रालुः स्नेहवान् यह हुआ।

अब उद्दिष्टका स्वरूप कहते हैं।

संठाविदूण रूवं उबरीदो संगुणित्तु सगमाणे ।

अबणिज्ज अणंकिदयं कुज्जा एमेव सव्वत्थ ॥ ४२ ॥

संस्थाप्य रूपमुपरितः संगुणित्वा स्वकमानम् ।

अपनीयानङ्कितं कुर्यात् एवमेव सर्वत्र ॥ ४२ ॥

अर्थ—एकका स्थापन करके आगेके प्रमादका जितना प्रमाण है उसके साथ गुणाकार करना चाहिये। और उसमें जो अनङ्कित हो उसका त्याग करै। इसीप्रकार आगे भी करनेसे उद्दिष्टका प्रमाण निकलता है। भावार्थ—प्रमादके भङ्गको रखकर उसकी संख्याके निकालने

को उद्दिष्ट कहते हैं । उसके निकालने का क्रम यह है कि किसीने पूछा कि राष्ट्रकथालपी मायी घ्राणेन्द्रियवशंगतः निद्रालुः स्नेहवान् यह प्रमादका भङ्ग कितनेमा है ? तो एक (१) संख्या को रखकर उसको प्रमादके प्रमाणसे गुणा करना चाहिये और जो अनंकित हो उसको उसमेंसे घटादेना चाहिये । जैसे १ एकका स्थापनकर उसको इन्द्रियोंके प्रमाण पांचसे गुणा करनेपर पांच हुए उसमेंसे अनंकित चक्षुः श्रोत्र दो हैं; क्योंकि भङ्ग पूछनेमें घ्राणेन्द्रिय का ग्रहण किया है, इसलिये दोको घटाया तो शेष रहे तीन, उनको कषायके प्रमाण चारसे गुणा करनेपर बारह होते हैं, उनमें अनंकित एक लोभका..य है, इसलिये एक घटादिया तो शेष रहे ग्यारह । उनको विकथाओंके प्रमाण चारसे गुणनेपर चत्वारिस होते हैं, उसमेंसे एक अवनिपालकथाको घटा दिया तो शेष रहे तेतालीस, इसलिये उक्त भङ्ग तेतालीसमां हुआ ।

प्रथम प्रस्तारकी अपेक्षा जो अक्षपरिवर्तन बताया था उसके आश्रयसे नष्ट और उद्दिष्टके गूढयन्त्रको दिखाते हैं ।

इगिवितिचपणखपणदशपणपरसं खवीसतालसट्टी य ।

संठविय पमदठाणे णट्टुद्धिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ॥ ४३ ॥

एकद्वित्रिचतुःपंचखपणदशपणदश खर्विशच्चत्वारिंशत् पष्टीश्च ।

संस्थाप्य प्रमादस्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने ॥ ४३ ॥

अर्थ—तीन प्रमादस्थानोंमें क्रमसे प्रथम पांच इन्द्रियोंके स्थानपर एक दो तीन चार पांचको क्रमसे स्थापन करना । चार कषायोंके स्थानपर शून्य पांच दश पन्द्रह स्थापन करना । तथा विकथाओंके स्थानपर क्रमसे शून्य वीस चालीस साठ स्थापन करना । ऐसा करनेसे नष्ट उद्दिष्ट अच्छीतरह समझमें आसकते हैं । क्योंकि जो भङ्ग विवक्षित हो उसके स्थानोंपर रखी हुई संख्याको परस्पर जोड़नेसे, यह कितनेवां भङ्ग है अथवा इस संख्यावाले भङ्गमें कौन २ सा प्रमाद आता है यह समझमें आसकता है ।

दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा गूढयन्त्रको कहते हैं ।

इगिवितिचखचडवारं खसोलरागठदालचउसट्ठिं ।

संठविय पमदठाणे णट्टुद्धिट्ठं च जाण तिट्ठाणे ॥ ४४ ॥

एकद्वित्रिचतुःखचतुरष्टद्वादश खषोडशरौगाष्टचत्वारिंशच्चतुःषष्टिम् ।

संस्थाप्य प्रमादस्थाने नष्टोद्दिष्टे च जानीहि त्रिस्थाने ॥ ४४ ॥

अर्थ—दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा तीनों प्रमादस्थानोंमें क्रमसे प्रथम विकथाओंके स्थानपर १।२।१।४ स्थापन करना, और कषायोंके स्थानपर ०।४।८।१२ स्थापन करना, और

१—रागाष्टादसे ३२ लिये जाते हैं; क्योंकि “कटपयपुरःस्थवर्णैः” इत्यादि नियमसूत्रके अनुसार गका अर्थ ३ और इका अर्थ २ होता है । और यह नियम है कि “अङ्कोंकी विपरीत गति होती है” ।

इन्द्रियोंकी जगहपर ०।१६।२२।४८।६४। स्थापन करना । ऐसा करनेसे दूसरे प्रस्तारकी अपेक्षा भी पूर्वकी तरह नष्टोद्दिष्ट समझमें आसकते हैं ।

सप्तमगुणस्थानका स्वरूप बताते हैं ।

संजलणणोकसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि ।

अपमत्तगुणो तेण य अपमत्तो संजदो होदि ॥ ४५ ॥

संज्वलननोकपायाणामुदयो मन्दो यदा तदा भवति ।

अप्रमत्तगुणस्तेन च अप्रमत्तः संयतो भवति ॥ ४५ ॥

अर्थ—जब संज्वलन और नोकपायका मन्द उदय होता है तब सकल संयमसे युक्त मुनिके प्रमादका अभाव हो जाता है । इसहीलिये इस गुणस्थानको अप्रमत्तसंयत कहते हैं । इसके दो भेद हैं—एक स्वस्थानाप्रमत्त दूसरा सातिशयाप्रमत्त ।

स्वस्थानाप्रमत्तसंयतका निरूपण करते हैं ।

णढासेसपमादो वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।

अणुबसमओ अखवओ ज्ञाणणिलीणोहु अपमत्तो ॥ ४६ ॥

नष्टाशेषप्रमादो व्रतगुणशीलवलिमण्डितो ज्ञानी ।

अनुपशमक अक्षपको ध्याननिलीनो हि अप्रमत्तः ॥ ४६ ॥

अर्थ—जिस संयतके सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त प्रमाद नष्ट हो चुके हैं, और जो समग्र ही महाव्रत अट्टाईस मूलगुण तथा शीलसे युक्त है, और शरीर आत्माके भेदज्ञानमें तथा मोक्षके कारणभूत ध्यानमें निरन्तर लीन रहता है, ऐसा अप्रमत्त जबतक उपशमक या क्षपक श्रेणिका आरोहण नहीं करता तबतक उसको स्वस्थान अप्रमत्त अथवा निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं ।

सातिशय अप्रमत्तका स्वरूप कहते हैं ।

इगवीसमोहखवणुबसमणामित्तानि तिकरणाणि तर्हि ।

पढमं अधापवत्तं करणं तु करोदि अपमत्तो ॥ ४७ ॥

एकविंशतिमोहक्षपणोपशमनानिमित्तानि त्रिकरणानि तेषु ।

प्रथममधःप्रवृत्तं करणं तु करोति अप्रमत्तः ॥ ४७ ॥

अर्थ—अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान संज्वलन सम्बन्धी क्रोधमानमायालोभ तथा हास्यादिक नव नोकपाय मिलकर इक्कीस मोहनीयकी प्रकृतियोंके उपशम या क्षय करनेको आत्माके ये तीन करण अर्थात् तीन प्रकारके विशुद्ध परिणाम निमित्तभूत हैं, अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्ति-करण । उनमेंसे सातिशय अप्रमत्त—अर्थात् जो श्रेणि चढ़नेके सम्मुख है वह प्रथमके अधः-प्रवृत्त करणको ही करता है ।

अधःप्रवृत्तकरणका लक्षण कहते हैं ।

जह्या उवरिमभावा हेद्विमभावेहिं सरिसगा ह्वेति ।

तह्या पढमं करणं अधापवत्तोत्ति णिदिद्वं ॥ ४८ ॥

यस्मादुपरितनभावा अधस्तनभावैः सदृशका भवन्ति ।

तस्मात्प्रथमं करणमधःप्रवृत्तमिति निर्दिष्टम् ॥ ४८ ॥

अर्थ—अधःप्रवृत्तकरणके कालमेंसे ऊपरके समयवर्ती जीवोंके परिणाम गचिके समयवर्ती जीवोंके परिणामके सदृश—'र्थात् संख्या और विशुद्धि की अपेक्षा समान होते हैं इसलिये प्रथम करणको आगममें अधःप्रवृत्त करण कहा है ।

अधःप्रवृत्तकरणके काल और उसमें होनेवाले परिणामोंका प्रमाण बताते हैं ।

अंतोमुहुत्तमेत्तो तक्कालो होदि तत्थ परिणामा ।

लोगणमसंखमिदा उवरुवरिं सरिसवद्धिगया ॥ ४९ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रस्तत्कालो भवति तत्र परिणामाः ।

लोकानामसंख्यमिता उपर्युपरिसदृशवृद्धिगताः ॥ ४९ ॥

अर्थ—इस अधःप्रवृत्तकरणका काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है, और उसमें परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण होते हैं, और ये परिणाम ऊपर ऊपर सदृश वृद्धिको प्राप्त होते गये हैं । अर्थात् यह जीव चारित्र्यमोहनीयकी शेष ११ प्रकृतियोंका उपशम या क्षय करनेके लिये अधःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तकरणोंको करता है । उसमें से अधःकरण श्रेणि चढ़नेके सम्मुख सातिशय अप्रमत्तके होता है, और अपूर्वकरण आठवें और अनिवृत्तकरण नववें गुणस्थानमें होता है । **भावार्थ—**करण नाम आत्माके परिणामोंका है । इन परिणामोंमें प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धता होती जाती है । जिसके बलसे कर्मोंका उपशम तथा क्षय और स्थितिखण्डन तथा अनुभागखण्डन होते हैं । इन तीनों करणोंका काल यद्यपि सामान्यालपसे अन्तर्मुहूर्तमात्र है, तथापि अधःकरणके कालके संख्यातवें भाग अपूर्वकरणका काल है, और अपूर्वकरणके कालसे संख्यातवें भाग अनिवृत्तकरणका काल है । अधःप्रवृत्तकरणके परिणाम असंख्यातलोक प्रमाण हैं । अपूर्वकरणके परिणाम अधःकरणके परिणामोंसे असंख्यातलोकगुणित हैं । और अनिवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्या उसके कालके समयोंके समान है । अर्थात् अनिवृत्तकरणके कालके जितने समय हैं उतने ही उसके परिणाम हैं । पूर्वोक्त कथनका खुलासा विना दृष्टान्तके नहीं हो सकता इसलिये इसका दृष्टान्त इसप्रकार समझना चाहिये किः—कल्पना करो कि अधःकरणके कालके समयोंका प्रमाण १६, अपूर्वकरणके कालके समयोंका प्रमाण ८, और अनिवृत्तकरणके कालके समयोंका प्रमाण ४ है । अधःकरणके परिणामोंकी संख्या ३०७२, अपूर्वकरणके परिणामोंकी संख्या ४०९२, और

अनिवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्या ४ है। एक समयमें एक जीवके एकही परिणाम होता है इसलिये एक जीव अधःकरणके १६ समयोंमें १६ परिणामोंको ही धारण कर सकता है। अधःकरणके और अपूर्वकरणके परिणाम जो १६ और ८ से अधिक कहे हैं, वे नाना जीवोंकी अपेक्षासे कहे गये हैं। यहां इतना विशेष है कि अधःकरणके १६ समयोंमेंसे प्रथम समयमें यदि कोई भी जीव अधःकरण मांडेगा तो उसके अधःकरणके समस्त परिणामोंमेंसे पहले १६२ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा। अर्थात् तीन कालमें जब कभी चाहे जब चाहे जो अधःकरण मांडेगा तो उसके पहले समयमें नम्बर १ से लगाकर नम्बर १६२ तकके परिणामोंमेंसे उसकी योग्यताके अनुसार कोई एक परिणाम होगा। इसही प्रकार किसी भी जीवके उसके अधःकरण मांडनेके दूसरे समयमें नम्बर ४० से लगाकर नम्बर २०९ तक १६६ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा। इसही प्रकार तीसरे चौथे आदि समयोंमें भी क्रमसे नम्बर ८० से लगाकर २४९ तक १७० परिणामोंमेंसे कोई एक और १२१ से लगाकर २९४ तकके १७४ परिणामोंमेंसे कोई एक परिणाम होगा। इसीतरह आगेके समयोंमें होनेवाले परिणाम गोष्मटसारकी बड़ी टीकामें, या सुशीला उपन्यासमें दिये हुए यन्त्रद्वारा समझलेने चाहिये। अधःकरणके अपनुरुक्त परिणाम केवल ९१२ हैं। और समस्त समयोंमें होनेवाले पुनरुक्त और अपनुरुक्त परिणामोंका जोड़ ३०७२ है। इस अधःकरणके परिणाम समानवृद्धिको लिये हुए हैं—अर्थात् पहले समयके परिणामसे द्वितीय समयके परिणाम जितने अधिक हैं उतने ही उतने द्वितीयादिक समयोंके परिणामोंसे तृतीयादिक समयोंके परिणाम अधिक हैं। इस समानवृद्धिको ही चय कहते हैं। इस दृष्टान्तमें चयका प्रमाण ४ है, स्थानका प्रमाण १६, और सर्व धनका प्रमाण ३०७२ है। प्रथमस्थानमें वृद्धिका अभाव है इसलिये अन्तिमस्थानमें एक घाटि पद (स्थान) प्रमाण चय वर्द्धित हैं। अतएव एक घाटि पदके आधेको चय और पदसे गुणाकरनेपर $\frac{१५ \times २ \times १६}{४} = ४८०$ चयधनका प्रमाण होता है। भावार्थ—प्रथम समयके समान समस्त समयोंमें परिणामोंको भिन्न समझकर वर्द्धित प्रमाणके जोड़को चयधन वा उत्तरधन कहते हैं। सर्वधनमेंसे चयधनको घटाकर शेषमें पदका भागदेनेसे प्रथम समयसम्बन्धी परिणाम पुंजका प्रमाण $\frac{३०७२ - ४८०}{४} = १६२$ होता है। इसमें क्रमसे एक २ चय जोड़नेपर द्वितीयादिक समयोंके परिणामपुंजका प्रमाण होता है। एक घाटि पदप्रमाण चय मिलानेसे अंतसमयसम्बन्धी परिणामपुंजका प्रमाण $१६२ + १९ \times ४ = २२२$ होता है। एक समयमें अनेक परिणामोंकी सम्भावना है इसलिये एक समयमें अनेक जीव अनेक परिणामोंको ग्रहण कर सकते हैं। अतएव एक समयमें नाना जीवोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें विस्तृशता है। एकसमयमें अनेक जीव एक परिणामको ग्रहण कर सकते हैं इसलिये एक समयमें नानाजीवोंकी अपेक्षासे परिणामोंमें सटृशता है। भिन्न समयोंमें अनेक जीव अनेक परिणामोंको ग्रहण कर सकते हैं इसलिये भिन्न समयोंमें नानाजीवोंकी

अपेक्षासे परिणामोंमें विसदृशता है । जो परिणाम किसी एक जीवके प्रथम समयमें हो सकता है वही परिणाम किसी दूसरे जीवके दूसरे समयमें, और तीसरे जीवके तीसरे समयमें, तथा चौथे जीवके चौथे समयमें हो सकता है, इसलिये भिन्नसमयवर्ती अनेक जीवोंके परिणामोंमें सदृशता भी होती है । जैसे १६ : नम्बरका परिणाम प्रथम द्वितीय तृतीय चतुर्थ समयमें होसकता है । प्रथम समयसम्बन्धी परिणामपुंजके भी ३९, ४०, ४१, ४२, इसतरह चार खण्ड किये गये हैं । अर्थात् नम्बर १ से लेकर ३९ नम्बर तकके ३९ परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम समयमें पाये जाते हैं, द्वितीयादिक समयोंमें नहीं; इनही ३९ परिणामोंके पुंजको प्रथम खण्ड कहते हैं । दूसरे खण्डमें नम्बर ४० से ७९ तक ४० परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम और द्वितीय समयमें पाये जाते हैं इसको द्वितीय खण्ड कहते हैं । तीसरे खण्डमें नम्बर ८० से १२० तक ४१ परिणाम ऐसे हैं जो प्रथम द्वितीय तृतीय समयोंमें पाये जाते हैं । और चतुर्थ खण्डमें नम्बर १२१ से १६२ तक ४२ परिणाम ऐसे हैं जो आदिके चारोंही समयोंमें पाये जा सकते हैं । इसही प्रकार अन्य समयोंमेंभी समझना । अधःकरणके ऊपर २ के समस्त परिणाम पूर्वपूर्व परिणामकी अपेक्षा अनन्त २ गुणी विशुद्धता लिये हुए हैं ।

अब अपूर्वकरण गुणस्थानको कहते हैं ।

अंतोमुहुत्तकालं गमिऊण अधापवत्तकरणं तं ।

पडिसमयं सुज्झंतो अपुव्वकरणं समल्लियइ ॥ ५० ॥

अन्तर्मुहूर्तकालं गमयित्वा अधःप्रवृत्तकरणं तत् ।

प्रतिसमयं शुध्यन् अपूर्वकरणं समाश्रयति ॥ ५० ॥

अर्थ—जिसका अन्तर्मुहूर्तमात्र काल है ऐसे अधःप्रवृत्तकरणको बिताकर वह सातिशय अप्रमत्त जब प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धिको लिये हुए अपूर्वकरण जातिके परिणामोंको करता है तब उसको अपूर्वकरणनामक अष्टमगुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

अपूर्वकरणका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं ।

एदं हि गुणट्ठाणे विसरिससययट्ठियेहिं जीवेहिं ।

पुव्वमपत्ता जह्मा होंति अपुव्वा ह्य परिणामा ॥ ५१ ॥

एतस्मिन् गुणस्थाने विसदृशसमयस्थितैर्जीवैः ।

पूर्वमप्राप्ता यस्मात् भवन्ति अपूर्वा हि परिणामाः ॥ ५१ ॥

अर्थ—इस गुणस्थानमें भिन्नसमयवर्ती जीव, जो पूर्वसमयमें कभी भी प्राप्त नहीं हुए थे ऐसे अपूर्व परिणामोंको ही धारण करते हैं इसलिये इस गुणस्थानका नाम अपूर्वकरण है ।
भावार्थ—जिसप्रकार अधःकरणमें भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम सदृश और विसदृश दोनों

ही प्रकारके होते हैं, वैसा अपूर्वकरणमें नहीं है; किन्तु यहांपर भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणाम विसदृश ही होते हैं सदृश नहीं होते ।

इस गुणस्थानका दो गाथाओंद्वारा विशेष स्वरूप दिखाते हैं ।

भिण्णसमयट्ठियेहिं दु जीवेहिं ण होदि सव्वदा सरिसो ।

करणेहिं एक्कसमयट्ठियेहिं सरिसो विसरिसो वा ॥ ५२ ॥

भिन्नसमयस्थितैस्तु जीवैर्न भवति सर्वदा सादृश्यम् ।

करणैरेकसमयस्थितैः सादृश्यं वैसादृश्यं वा ॥ ५२ ॥

अर्थ—यहांपर (अपूर्वकरणमें) भिन्नसमयवर्ती जीवोंमें विशुद्ध परिणामोंकी अपेक्षा कभी भी सादृश्य नहीं पाया जाता; किन्तु एक समयवर्ती जीवोंमें सादृश्य और वैसादृश्य दोनोंही पाये जाते हैं ।

अंतोमुहुत्तमेत्ते पडिसमयमसंखलोगपरिणामा ।

कमउट्ठा पुव्वगुणे अनुकट्ठी णत्थि णियमेण ॥ ५३ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रे प्रतिसमयमसंख्यलोकपरिणामाः ।

क्रमवृद्धा अपूर्वगुणे अनुकृष्टिर्नास्ति नियमेन ॥ ५३ ॥

अर्थ—इस गुणस्थानका काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है, और इसमें परिणाम असंख्यात लोक-प्रमाण होते हैं, और वे परिणाम उत्तरोत्तर प्रतिसमय समानवृद्धिको लिये हुए हैं । तथा इस गुणस्थानमें नियमसे अनुकृष्टिरचना नहीं होती है । **भावार्थ—**अधःप्रवृत्तकरणके कालसे अपूर्वकरणका काल यद्यपि संख्यातगुणा ही है; तथापि सामान्यसे अन्तर्मुहूर्तमात्रही है । और इसमें परिणामोंकी संख्या अधःप्रवृत्तकरणके परिणामोंकी संख्यासे असंख्यातलोकगुणी है । और इन परिणामोंमें उत्तरोत्तर प्रतिसमय समान वृद्धि होती गई है । अर्थात् प्रथम समयके परिणामोंसे जितने अधिक द्वितीय समयके परिणाम हैं उतने २ ही अधिक द्वितीयादि समयके परिणामोंसे तृतीयादि समयके परिणाम हैं । तथा जिसप्रकार अधःप्रवृत्तकरणमें भिन्नसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें सादृश्य पाया जाता है इसलिये वहांपर अनुकृष्टि रचना की है उस प्रकार अपूर्वकरणमें अनुकृष्टि रचना नहीं होती; क्योंकि भिन्न-समयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें यहांपर सादृश्य नहीं पाया जाता । इसकी अंकसंदष्टि इस प्रकार है । सर्वधनका प्रमाण ४०९६ है, चयका प्रमाण १६ और स्थानका प्रमाण ८ है । एक घाटिपदके आधेको चय और पदसे गुणाकरनेपर चयधनका प्रमाण $4096 \times 8 = 32768$ होता है । सर्वधनमेंसे चयधनको घटाकर पदका भाग देनेसे प्रथमसमयसम्बन्धी परिणाम-पुंजका प्रमाण $\frac{32768}{4096} = 8$ होता है । इसमें एक २ चय जोड़नेपर द्वितीयादिक

समयमें होनेवाले परिणामोंका प्रमाण निकलता है । इसमें एक वाटि पदप्रमाण चय जोड़नेसे अंतसमयसंबन्धी परिणामोंका प्रमाण $४९६ + ७ \times १६ = ९६८$ होता है ।

इन अपूर्वकरण परिणामोंके द्वारा क्या कार्य होता है? यह दो गाथाओंद्वारा स्पष्ट करते हैं ।

तारिसपरिणामद्वियजीवा हु जिणेहिं गलियतिमिरेहिं ।

मोहस्सपुण्वकरणः खण्णुवसमणुज्जया भणिया ॥ ५४ ॥

तादृशपरिणामस्थितजीवा हि जिनैर्गलिततिमिरैः ।

मोहस्यापूर्वकरणाः क्षणोपशमनोद्यताः भणिता ॥ ५४ ॥

अर्थ—अज्ञान अन्धकारसे सर्वथा रहित जिनेन्द्रेवने कहा है कि उक्त परिणामोंको धारण करनेवाले अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती जीव मोहनीय कर्मकी शेष प्रकृतियोंका क्षण अथवा उपशमन करनेमें उद्यत होते हैं ।

णिदापयले णट्टे सदि आऊ उवसमंति उवसमया ।

खबयं दुक्के खवया णियमेण खबंति मोहं तु ॥ ५५ ॥

निद्राप्रचले नष्टे सति आयुषि उपशमयन्ति उपशमकाः ।

क्षपकं दौकमानाः क्षपका नियमेन क्षपयन्ति मोहं तु ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिनके निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छिति हो चुकी है, तथा जिनका आयुर्कर्म अभी विद्यमान है, ऐसे उपशमश्रेणिका आरोहण करनेवाले जीव शेषमोहनीयका उपशमन करते हैं, और जो क्षपकश्रेणिका आरोहण करनेवाले हैं वे नियमसे मोहनीयका क्षपण करते हैं । भावार्थ—जिसके अपूर्वकरणके छह भागोंमेंसे प्रथम भागमें निद्रा और प्रचलाकी बन्धव्युच्छिति होगई है, और जिसका आयुर्कर्म विद्यमान है (जो मरणके सम्मुख नहीं है), अर्थात् जो श्रेणिको चढ़नेवाला है, क्योंकि श्रेणिसे उतरते समय यहांपर मरणकी सम्भावना है^१; इसप्रकारके उपशमश्रेणिको चढ़नेवाले जीवके अपूर्वकरण परिणामोंके निमित्तसे मोहनीयका उपशम और क्षपकश्रेणियाँके क्षय होता है^२ ।

नवमें गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं ।

एकस्मि कालसमये संठाणादीहिं जह णिवट्ठंति ।

ण णिवट्ठंति तहावि य परिणामेहिं मिहो जेहिं ॥ ५६ ॥

१ इस विशेषणसे उनके कहे हुए वचनमें प्रामाण्य दिखलाया है, क्योंकि यह नियम है कि जो परिपूर्ण ज्ञानका धारक है वह मिथ्या भाषण नहीं करता । २ इन दोनों कर्मोंकी बन्धव्युच्छिति यहीं पर होती है । इस कथनसे अष्टमगुणस्थानका प्रथम भाग लेना चाहिये; क्योंकि उपशम या क्षयका प्रारम्भ यहींसे होजाता है । ३ मरणके समयसे पूर्वसमयमें होनेवाले गुणस्थानको भी उपचारसे मरणका गुणस्थान करते हैं । ४ इस गाथामें तु ' शब्द पड़ा है इससे सूचित होता है कि क्षपकश्रेणिमें मरण नहीं होता ।

एकस्मिन् कालसमये संस्थानादिभिर्यथा निवर्तन्ते ।

न निवर्तन्ते तथापि च परिणामैर्मिथो यैः ॥ ५१ ॥

अर्थ—अन्तर्मुहूर्तमात्र अनिवृत्तिकरणके कालमेंसे आदि या मध्य या अन्तके एक समयवर्ती अनेक जीवोंमें जिस प्रकार शरीरकी अवगाहना आदि बाह्य कारणोंसे तथा ज्ञानावरणादिकर्मके क्षयोपशमादि अन्तरङ्ग कारणोंसे परस्परमें भेद पाया जाता है, उस प्रकार जिन परिणामोंके निमित्तसे परस्परमें भेद नहीं पाया जाता:—

ह्येति अणियद्विणो ते पडिसमयं जेस्सिमेक्कपरिणामा ।

विमलयरझाणहुयवहसिहाहिं णिद्वड्ढ कम्मवणा ॥५७॥ (जुम्मम)

भवन्ति अनिवर्तिनस्ते प्रतिसमयं येषामेकपरिणामाः ।

विमलतरङ्गानहुतवहशिखाभिर्निर्दग्धकर्मवनाः ॥ ५७ ॥ (गुम्मम्)

अर्थ—उनको अनिवृत्तिकरण परिणाम कहते हैं । और अनिवृत्तिकरणका जितना काल है उतनेही उसके परिणाम हैं । इसलिये उसके कालके प्रत्येक समयमें अनिवृत्तिकरणका एक २ ही परिणाम होता है । तथा ये परिणाम अत्यन्तनिर्मल ध्यानरूप अशिकी शिखा-ओंकी सहायतासे कर्मवनको भस्म करदेते हैं । भावार्थ—अनिवृत्तिकरणका जितना काल है उतनेही उसके परिणाम हैं, इसलिये प्रत्येक समयमें एक ही परिणाम होता है । अतएव यहांपर भिन्नसमयवर्ती परिणामोंमें सर्वथा विसदृशता और एकसमयवर्ती जीवोंके परिणामोंमें सर्वथा सदृशता ही होती है । इन परिणामोंसेही आयुर्कर्मको छेड़कर शेष सात कर्मोंकी गुणश्रेणिनिर्जरा, गुणसंक्रमण, स्थितिखण्डन, अनुभागकाण्डकखण्डन होता है, और मोहनीय कर्मकी बादरकृष्टि सूक्ष्मकृष्टि आदि होती हैं ।

नवमें गुणस्थानके संख्यात भागोंमेंसे अन्तके भागमें होनेवाले कार्यको कहते हैं ।

पुड्वापुव्वप्फेड्डयबादरसुहमगयकिद्विअणुभागा ।

हीणकमाणांतगुणेणवरादु वरं च हेट्ठस्स ॥ ५८ ॥

पूर्वापूर्वस्पर्धकबादरसूक्ष्मगतकृष्टचनुभागाः ।

हीनक्रमा अनन्तगुणेन अवरातु वरं चाधस्तनस्य ॥ ५८ ॥

अर्थ—पूर्वस्पर्धकसे अपूर्व स्पर्धकके और अपूर्वस्पर्धकसे बादरकृष्टिके तथा बादरकृष्टिसे सूक्ष्मकृष्टिके अनुभाग क्रमसे अनन्तगुणे २ हीन हैं । और ऊपरके (पूर्व २ के) जघन्यसे नीचेका (उत्तरोत्तरका) उत्कृष्ट और अपने २ उत्कृष्टसे अपना २ जघन्य अनन्तगुणा २ हीन है । भावार्थ:—अनेक प्रकारकी अनुभागशक्तिसे युक्त कार्मणवर्गणाओंके समूहको स्पर्धक कहते हैं । जो स्पर्धक अनिवृत्तिकरणके पूर्वमें पायेजाय उनको पूर्वस्पर्धक कहते हैं । जिनका अनिवृत्तिकरणके निमित्तसे अनुभाग क्षीण हो जाता है उनको अपूर्वस्पर्धक कहते हैं । तथा जिनका

अनुभाग अपूर्व स्पर्धकसेभी क्षीण हो जाय उनको बादरकृष्टि, और जिनका अनुभाग बादरकृष्टिकी अपेक्षामी क्षीण हो जाय उनको सूक्ष्मकृष्टि कहते हैं । पूर्वस्पर्धकके जघन्य अनुभागसे अपूर्वस्पर्धकका उत्कृष्ट अनुभाग भी अनन्तगुणा हीन है । इसीप्रकार अपूर्वस्पर्धकके जघन्यसे बादरकृष्टिका उत्कृष्ट और बादरकृष्टिके जघन्यसे सूक्ष्मकृष्टिका उत्कृष्ट अनुभाग अनन्तगुणा २ हीन है । और जिस प्रकार पूर्वस्पर्धकके उत्कृष्टसे पूर्वस्पर्धकका जघन्य अनन्तगुणाहीन है उसही प्रकार अपूर्वस्पर्धक आदिमें भी अपने २ उत्कृष्टसे अपना २ जघन्य अनुभाग अनन्तगुणा २ हीन है ।

दशर्वे गुणस्थानका स्वरूप कहते हैं ।

धुदकोसुंभयवत्थं होदि जहा सुहमरायसंजुतं ।

एवं सुहमकसाओ सुहमसरागोत्ति णादव्वो ॥ ५९ ॥

धौतकौमुभ्वक्खं भवति यथा सूक्ष्मरागसंयुक्तम् ।

एवं सूक्ष्मकषायः सूक्ष्मसराग इति ज्ञातव्यः ॥ ५९ ॥

अर्थ—जिस प्रकार धुले हुए कसुमी वस्त्रमें ललिमा (सुर्खी) सूक्ष्म रहजाती है, उसही प्रकार जो अत्यन्तसूक्ष्म राग (लोभ) से युक्त है उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामक दशम गुणस्थानवर्ती कहते हैं । भावार्थः—जहांपर पूर्वोक्त तीन करणके परिणामसे क्रमसे लोभकषायके बिना चारित्रमोहनीयकी शेष बीस प्रकृतियोंका उपशम अथवा क्षय होनेपर सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त लोभकषायका उदय पाया जाय उसको सूक्ष्मसाम्पराय नामका दशवां गुणस्थान कहते हैं ।

इस सूक्ष्मलोभके उदयसे होनेवाले फलको दिखाते हैं ।

अणुलोहं वेदंतो जीवो उबसामगो व खबगो वा ।

सो सुहमसंपराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥ ६० ॥

अणुलोभं विदन् जीव उपशमको व क्षपको वा ।

स सूक्ष्मसाम्परायो यथाख्यातेनोनः किञ्चित् ॥ ६० ॥

अर्थ—चाहे उपशमश्रेणिका आरोहण करनेवाला हो अथवा क्षपकश्रेणिका आरोहण करनेवालाहो; परन्तु जो जीव सूक्ष्मलोभके उदयका अनुभव कर रहा है ऐसा दशमे गुणस्थानवर्ती जीव यथाख्यात चारित्रसे कुछही न्यून रहता है । भावार्थ—यहांपर सूक्ष्म लोभका उदय रहनेसे यथाख्यात चारित्रके प्रकट होनेमें कुछ कमी रहती है ।

ग्यारहमे गुणस्थानका स्वरूप दिखाते हैं ।

कदकफलजुदजलं वा सरए सरवाणियं व णिम्मलयं ।

सयलोवसंतमोहो उबसंतकसायओ होदि ॥ ६१ ॥

कतकफलयुतजलं वा शरदि सरःपानीयं व निर्मलम् ।

सकलोपशान्तमोह उपशान्तकपायको भवति ॥ ६१ ॥

अर्थ—निर्मली फलसे युक्त जलकी तरह, अथवा शरदक्रतुमें होनेवाले सरोवरके जलकी तरह, सम्पूर्ण मोहनीयकर्मके उपशमसे उत्पन्न होनेवाले निर्मल परिणामोंको उपशान्तकपाय ग्याहरमां गुणस्थान कहते हैं ।

बारहमें गुणस्थानको कहते हैं ।

णिस्सेसखीणमोहो फलिहामलभायणुद्यसमचित्तो ।

खीणकसाओ भण्णदि णिगंथो वीयरयेहिं ॥ ६२ ॥

निःशेषक्षीणमोहः स्फटिकामलभाजनोदकसमचित्तः ।

क्षीणकषायो भण्यते निर्ग्रन्थो वीतरागैः ॥ ६२ ॥

अर्थ—जिस निर्ग्रन्थका चित्त मोहनीय कर्मके सर्वथा क्षीण होनेसे स्फटिकके निर्मल पात्रमें रखे हुए जलके समान निर्मल होगया है उसको वीतरागदेवने क्षीणकपायनामक बारहमे गुणस्थानवर्ती कहा है ।

दो गाथाओंद्वारा तेरहवें गुणस्थानको कहते हैं ।

केवलणाणदिवायरकिरणकलाबण्णणासियण्णणो ।

णवकेवललब्धुग्गमसुजणियपरमप्पववएसो ॥ ६३ ॥

केवलज्ञानदिवाकरकिरणकलाप्रणालिताज्ञानः ।

नवकेवललब्धयुद्धमसुजनितपरमात्मव्यपदेशः ॥ ६३ ॥

अर्थ—जिसका केवलज्ञानरूपी सूर्यकी अविभागप्रतिच्छेदरूप किरणोंके समूहसे (उत्कृष्ट अनन्तानन्तप्रमाण) अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट होगया हो, और जिसको नव केवललब्धियोंके (शायिक—सम्यक्त्व चारित्र ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग वीर्य) प्रकट होनेसे “ परमात्मा ” यह व्यपदेश (संज्ञा) प्राप्त होगया है, वहः—

असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण—

जुत्तोत्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥ ६४ ॥

असहायज्ञानदर्शनसहित इति केवली हि योगेन—

युक्त इति सयोगिजिनः अनादिनिधनार्थे उक्तः ॥ ६४ ॥

अर्थ—इन्द्रिय आलोक आदिकी अपेक्षा न रखनेवाले ज्ञान दर्शनसे युक्त होनेके कारण केवली, और काययोगसे युक्त रहनेके कारण सयोगी, तथा घातिकर्मोंसे रहित होनेके कारण जिन कहा जाता है । ऐसा अनादिनिधन आर्ष आगममें कहा है । भावार्थ—बारहमे गुणस्था-

नका विनाश होतेही जिसके ज्ञानावरणादि तीन घाति और सोलह अघाति प्रकृति, सम्पूर्ण मिलाकर ६३ प्रकृतियोंके नष्ट होनेसे अनन्त चतुष्टय तथा नव केवललब्धि प्रकट हो चुकी है और काय योगसे युक्त है उस अरहंतको तेरहमे गुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

चौदहमे अयोगकेवली गुणस्थानको कहते हैं ।

सीलेसिं संपत्तो निरुद्धणिस्सेसआसवो जीवो ।

कम्मरयाविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥ ६५ ॥

शीलैश्यं संप्राप्तः निरुद्धनिःशेषास्त्रवो जीवः ।

कर्मरजोविप्रमुक्तो गतयोगः केवली भवति ॥ ६५ ॥

अर्थ—जो अठारह हजार शीलके भेदोंका स्वामी हो चुका है । और जिसके कर्मोंके आनेका द्वाररूप आश्रय सर्वथा बन्द होगया । तथा है सत्त्व और उदय अवस्थाको प्राप्त कर्मरूप रजकी सर्वोत्कृष्ट निर्जरा होनेसे, जो उस कर्मसे सर्वथा मुक्त होनेके सम्मुख है, उस काय योगरहित केवलीको चौदहमे गुणस्थानवर्ती अयोगकेवली कहते हैं । भावार्थ—शीलकी पूर्णता यहीपर होती है, इसलिये जो शीलका स्वामी होकर पूर्ण संवर और निर्जराका पात्र होनेसे मुक्त अवस्थाके सम्मुख है, ऐसे काययोगसे भी रहित केवलीको चौदहमें गुणस्थानवर्ती कहते हैं ।

इसप्रकार चौदह गुणस्थानोंको कहकर, अब उनमें होनेवाली आयुर्कर्मके विना शेष सातकर्मोंकी गुणश्रेणिनिर्जराको दो गाथाओं द्वारा कहते हैं ।

सम्मज्जुप्पत्तीये सावयविरदे अणंतकम्मंसे ।

दंसणमोहक्खबगे कसायउबसामगे य उवसंते ॥ ६६ ॥

सम्यक्त्वोत्पत्तौ श्रावकविरते अनन्तकर्मशे ।

दर्शनमोहक्षपके कषायोपशामके चोपशान्ते ॥ ६६ ॥

खबगे य क्षीणमोहे जिणेषु दव्वा असंखगुणिदकमा ।

तत्त्विरीया काला संखेज्जगुणक्कमा होंति ॥ ६७ ॥ (जुम्मं)

क्षपके च क्षीणमोहे जिनेषु द्रव्याण्यसंख्यगुणितक्रमाणि ।

तद्विपरीताः कालाः संख्यातगुणक्रमा भवन्ति ॥ ६७ ॥ (जुम्मं)

अर्थ—सातिशय मिथ्यादृष्टि, श्रावक, विरत, अनन्तानुबन्धी कर्मका विसंयोजन करने-वाला, दर्शनमोहनीयकर्मका क्षय करनेवाला, कषायोंका उपशम करनेवाले ८-९-१० गुणस्थान-वर्ती जीव, उपशान्तकषाय, कषायोंका क्षयण करनेवाले ८-९-१० गुणस्थानवर्ती जीव, क्षीण-मोह, सयोगी अयोगी दोनोंप्रकारके जिन, इन ग्यारह स्थानोंमें द्रव्यकी अपेक्षा कर्मकी निर्जरा

क्रमसे असंख्यातगुणी २ अधिक होती है। और उसका काल इससे विपरति है—क्रमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणा २ हीन है। भावार्थ—सादि अथवा अनादि दोनोंही प्रकारका मिथ्या-दृष्टि जब करणलब्धिको प्राप्त कर उसके अधःकरणपरिणामोंको भी विताकर अपूर्वकरण परिणामोंको ग्रहण करता है, उस समयसे गुणश्रेणिनिर्जराका प्रारम्भ होता है। इस सातिशय मिथ्यादृष्टिके जो कर्मोंकी निर्जरा होती है वह पूर्वकी निर्जरासे असंख्यातगुणी अधिक है। श्रावक अवस्था प्राप्त होनेपर जो कर्मकी निर्जरा होती है वह सातिशयमिथ्यादृष्टिकी निर्जरासे भी असंख्यातगुणी अधिक है। इसप्रकार विरतादिस्थानोंमें भी उत्तरोत्तर क्रमसे असंख्यात-गुणी २ कर्मकी निर्जरा होती है। तथा इस निर्जराका काल उत्तरोत्तर संख्यातगुणा २ हीन है। अर्थात् सातिशय मिथ्यादृष्टिकी निर्जरामें जितना काल लगता है, श्रावककी निर्जरामें उससे संख्यातगुणा कम काल लगता है। इसी प्रकार विरतादिमें भी समझना चाहिये।

इस प्रकार चौदहगुणस्थानोंमें रहनेवाले जीवोंका वर्णन करके अब गुणस्थानोंका अतिक्रमण करनेवाले सिद्धोंका वर्णन करते हैं।

अष्टविहकम्मवियला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।

अट्टगुणा किदकिच्चा लोयग्गणिवासिणो सिद्धा ॥ ६८ ॥

अष्टविहकर्मविकलाः शीतीभूता निरञ्जना नित्याः ।

अष्टगुणाः कृतकृत्याः लोकाग्रनिवासिनः सिद्धाः ॥ ६८ ॥

अर्थ—जो ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मोंसे रहित हैं, अनन्तसुखरूपी अमृतके अनुभव करनेवाले—शान्तिमय हैं, नवीन कर्मबन्धको कारणभूत मिथ्यादर्शनादि भावकर्मरूपी अञ्जनसे रहित हैं, नित्य हैं, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य अव्याबाध अवगाहन सूक्ष्मत्व अगुरुलघु ये आठ मुख्यगुण जिनके प्रकट हो चुके हैं, कृतकृत्य (जिनको कोई कार्य करना बाकी नहीं रहा है) हैं, लोकके अग्रभागमें निवास करनेवाले हैं, उनको सिद्ध कहते हैं।

सिद्धोंको दियेहुये इन सात विशेषणोंका प्रयोजन दिखाते हैं।

सदाशिव संखो मक्कडि बुद्धो गेयाइयो य वेसेसी ।

ईसरमण्डलिदंसणविदूसणद्वं कथं एदं ॥ ६९ ॥

सदाशिवः सांख्यः मस्करी बुद्धो नैयायिकश्च वैशेषिकः ।

ईश्वरमण्डलिदर्शनविदूषणार्थं कृतमेतत् ॥ ६९ ॥

अर्थ—सदाशिव, सांख्य, मस्करी, बौद्ध, नैयायिक और वैशेषिक, कर्तृवादी (ईश्वरको कर्ता माननेवाले), मण्डली इनके मतोंका निराकारण करनेके लिये ये विशेषण दिये

हैं । भावार्थ—संदाशिव मतवाला जीवको सदा कर्मसे रहितही मानता है, उसके निराकरणके लिये ही ऐसा कहा है कि सिद्ध अवस्था प्राप्त होनेपर ही जीव कर्मोंसे रहित होता है—सदा नहीं । सिद्ध अवस्थासे पूर्व संसार अवस्थामें कर्मोंसे सहित रहता है । सांख्यमतवाला मानता है कि “ बन्ध मोक्ष सुख दुःख प्रकृतिको होते हैं, आत्माको नहीं ” । इसके निराकरणके लिये “ सुखस्वरूप ” ऐसा विशेषण दिया है । मस्करीमतवाला मुक्तजीवोंका लौटना मानता है, उसको दूषित करनेके लिये ही कहा है कि “ सिद्ध निरञ्जन हैं ” अर्थात् मिथ्यादर्शन क्रोध मानादि भावकर्मोंसे रहित हैं । क्योंकि बिना भावकर्मके नवीन कर्मका ग्रहण नहीं हो सकता और बिना कर्मग्रहणके जीव निरहेतुक संसारमें लौट नहीं सकता । बौद्धोंका मत है कि “सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक अर्थात् क्षणध्वंसी हैं ” उसको दूषित करनेके लिये कहा है कि वे “ नित्य ” हैं । नैयायिक तथा वैशेषिकमतवाले मानते हैं कि “मुक्तिमें बुद्ध्यादिगुणोंका विनाश होजाता है,” उसको दूर करनेके लिये “ ज्ञानादि आठगुणोंसे सहित हैं ” ऐसा कहा है । ईश्वरको कर्ता माननेवालोंके मतके निराकरणके लिये “ कृतकृत्य ” विशेषण दिया है । अर्थात् अब (मुक्त होनेपर) जीवको सृष्टि आदि बनानेका कार्य शेष नहीं रहा है । मण्डली मतवाला मानता है कि “ मुक्तजीव सदा उपरको गमन ही करता जाता है, कभी ठहरता नहीं ” उसके निराकरणके लिये “ लोकके अग्रभागमें स्थित हैं ” ऐसा कहा है ।

इति गुणस्थानप्ररूपणा नामा प्रथमोऽधिकारः ।

कमप्राप्त जीवसमासप्ररूपणाका निरुक्तिपूर्वक सामान्य लक्षण कहते हैं ।

जेहिं अणेया जीवा णज्जंते बहुविहा वि तज्जादी ।

ते पुण संगहिदत्था जीवसमासात्ति विण्णेया ॥ ७० ॥

यैरनेके जीवा नयन्ते बहुविधा अपि तज्जातयः ।

ते पुनः संगृहीतार्था जीवसमासा इति विज्ञेयाः ॥ ७० ॥

अर्थ—जिनके द्वारा अनेक जीव तथा उनकी अनेक प्रकारकी जाति जानी जाय उन धर्मोंको अनेक पदार्थोंका संग्रह करनेवाले होनेसे जीवसमास कहते हैं, ऐसा समझना चाहिये । भावार्थ—उन धर्मविशेषोंको जीवसमास कहते हैं कि जिनके द्वारा अनेक जीव अथवा जीवकी अनेक जातियोंका संग्रह किया जासके ॥

उत्पत्तिके कारणकी अपेक्षा लेकर जीवसमासका लक्षण कहते हैं ।

तसच्चदुजुगाणमज्झे अविरुद्धेहिं जुदजादिकम्मुदये ।

जीवसमासा होंति हु तम्भवसारिच्छसामण्णा ॥ ७१ ॥

१ संदाशिवः सदाऽकर्मां सङ्ख्यो मुक्तं सुखोज्झतं । मस्करी किल मुक्तानां मन्यते पुनरागतिम् ॥ १ ॥
क्षणिकं निर्गुणं चैव बुद्धो योगध्वं मन्यते । कृतकृत्यं तमीशानो मण्डलीनोऽर्थगामिनम् ॥ २ ॥

त्रसचतुर्युगलानां मध्ये अविरुद्धैर्युतजातिकर्मोदये ।

जीवसमाप्ता भवन्ति हि तद्भवसादृश्यसामान्याः ॥ ७१ ॥

अर्थ—त्रसस्यावर बादरसूक्ष्म पर्याप्तअपर्याप्त प्रत्येकसाधारण इन चार युगलोंमेंसे अविरुद्ध त्रसादि कर्मोंसे युक्त जाति नामकर्मका उदय होनेपर जीवोंमें होनेवाले उर्ध्वतासामान्यरूप या तिर्यक् सामान्यरूप धर्मोंको जीवसमाप्त कहते हैं । भावार्थ—एक पदार्थकी कालक्रमसे होनेवाली अनेक पर्यायोंमें रहनेवाले समानधर्मको उर्ध्वतासामान्य अथवा सादृश्यसामान्य कहते हैं । एक समयमें अनेक पदार्थगत सदृश धर्मको तिर्यक् सामान्य कहते हैं । यह उर्ध्वतासामान्यरूप या तिर्यक् सामान्यरूप धर्म, त्रसादि युगलोंमेंसे अविरुद्ध कर्मोंसे युक्त एकेन्द्रियादि जाति नामकर्मका उदय होनेपर उत्पन्न होता है । इसीको जीवसमाप्त कहते हैं ।

जीवसमाप्तके चौदह भेदोंको गिनाते हैं ।

बादरसुहमेइंदियवितिचउरिंदियअसणिसण्णी य ।

पज्जापज्जा एवं ते चोद्दसा होंति ॥ ७२ ॥

बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिसंज्ञिनश्च ।

पर्याप्तअपर्याप्ता एवं ते चतुर्दश भवन्ति ॥ ७२ ॥

अर्थ—एकेन्द्रियके दो भेद हैं, बादर तथा सूक्ष्म । द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञिपचेन्द्रिय, संज्ञिपचेन्द्रिय । ये सातों ही प्रकारके जीव पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों ही प्रकारके होते हैं । इसलिये जीवसमाप्तके सामान्यसे चौदह भेद हुए ।

विस्तारपूर्वक जीवसमाप्तोंका वर्णन करते हैं ।

भूआउतंउवाऊणिच्चदुग्गदिणिगोदथूलिदरा ।

पत्तेयपदिष्ठिदरा तसपण पुण्णा अपुण्णदुग्गा ॥ ७३ ॥

भ्वपूतेजोवायुनित्यचतुर्गतिनिगोदस्थूलेतराः ।

प्रत्येकप्रतिष्ठेतराः त्रसपञ्च पूर्णा अपूर्णद्विकाः ॥ ७३ ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु, नित्यनियोद, इतरनिगोद । इन छहके बादर सूक्ष्मके भेदसे बारह भेद हुए । तथा प्रत्येकके दो भेद, एक सप्रतिष्ठित दूसरा अप्रतिष्ठित । और द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी इसतरह त्रसके पांच भेद । सब मिलाकर उन्नीस भेद होते हैं । ये सभी पर्याप्त, निर्वृत्त्यपर्याप्त, लब्ध्यपर्याप्त होते हैं । इसलिये उन्नीसका तीनके साथ गुणा करनेपर जीवसमाप्तके उत्तरभेद ५७ होते हैं ।

जीवसमाप्तके उक्त ५७ भेदोंके भी अवागन्तर भेद दिखानेके लिये स्थानादि चार अधिकारोंको कहते हैं ।

१ त्रसकर्मका बादरकेसाथ अविरोध और सूक्ष्मके साथ विरोध है, इसीप्रकार पर्याप्तकर्मका साधारणकर्मके साथ विरोध और प्रत्येकके साथ अविरोध है । इसीतरह अन्यत्र भी यथासम्भव लगालेना ।

ठाणेहिं वि जोणीहिं वि देहोग्गाहणकुलाणभेदेहिं ।

जीवसमासा सव्वे परूविदव्वा जहाकमसो ॥ ७५ ॥

स्थानैरपि योनिभिरपि देहावगाहनकुलानां भेदैः ।

जीवसमासाः सर्वे प्ररूपितव्या यथाक्रमशः ॥ ७४ ॥

अर्थ—स्थान, योनि, शरीरकी अवगाहना, कुलोंके भेद इन चार अधिकारोंके द्वारा सम्पूर्ण जीवसमासोंका क्रमसे निरूपण करना चाहिये ।

एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय आदि जातिभेदको स्थान कहते हैं । कन्द मूल अण्डा गर्भ रस स्वेद आदि उत्पत्तिके आधारको योनि कहते हैं । शरीरके छोटे बड़े भेदोंको देहावगाहना कहते हैं । भिन्न २ शरीरकी उत्पत्तिको कारणीभूत नोऽकर्मवर्माणके भेदोंको कुल कहते हैं ।

क्रमके अनुसार प्रथम स्थानाधिकारको कहते हैं ।

सामण्णजीव तसथावरेसु इगिविगलसयलचरिमदुगे ।

इंदियकाये चरिमस्स य दुतिचदुपणगभेदजुदे ॥ ७५ ॥

सामान्यजीवः त्रसस्थावरयोः एकविकलसकलचरमद्विके ।

इन्द्रियकाययोः चरमस्य च द्वित्रिचतुःपञ्चभेदयुते ॥ ७५ ॥

अर्थ—सामान्यसे (द्रव्यार्थिक नयसे) जीवका एकही भेद है; क्योंकि “जीव” कहनेसे जीवमात्रका ग्रहण हो जाता है । इसलिये सामान्यसे जीवसमासका एक भेद । त्रस और स्थावरकी अपेक्षासे दो भेद । एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय) सकलेन्द्रिय (पंचेन्द्रिय) की अपेक्षा तीन भेद । यदि पंचेन्द्रियके दो भेद करदिये जाय तो जीवसमासके एकेन्द्रिय विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी इस तरह चार भेद होते हैं । इन्द्रियोंकी अपेक्षा पांच भेद हैं, अर्थात् एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय । पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति ये पांच स्थावर और एक त्रस इसप्रकार कायकी अपेक्षा छह भेद हैं । यदि पांच स्थावरोंमें त्रसके विकल और सकल इसतरह दो भेद करके मिला दिये जाय तो सात भेद होते हैं । और विकल असंज्ञी संज्ञी इसप्रकार तीन भेदकरके मिलानेसे आठ भेद होते हैं । द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय इसतरह चार भेद करके मिलानेसे नव भेद होते हैं । और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी इसतरह पांच भेद करके मिलानेसे दश भेद होते हैं ।

पणजुगले तससहिये तसस्स दुतिचदुरपणगभेदजुदे ।

छुहुगपत्तेयम्हि य तसस्स तियचदुरपणगभेदजुदे ॥ ७६ ॥

पञ्चयुगले त्रससहिते त्रसस्य द्वित्रिचतुःपञ्चभेदयुते ।

पञ्चद्विकप्रत्येके च त्रसस्य त्रिचतुःपञ्चभेदयुते ॥ ७६ ॥

अर्थ—पांच स्थावरोंके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा पांच युगल होते हैं । इनमें त्रस सामान्यका एक भेद मिलानेसे ग्यारह भेद जीवसमासके होते हैं । तथा इनही पांच युगलोंमें त्रसके विकलेन्द्रिय सकलेन्द्रिय दो भेद मिलानेसे बारह, और त्रसके विकलेन्द्रिय संज्ञी असंज्ञी इसप्रकार तीन भेद मिलानेसे तेरह, और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय ये चार भेद मिलानेसे चौदह, तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये पांच भेद मिलानेसे पन्द्रह भेद जीवसमासके होते हैं । पृथिवी अप तेज वायु नित्यनिगोद इतर निगोद इनके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल और प्रत्येक वनस्पति इनमें त्रसके उक्त विकलेन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये तीन भेद मिलानेसे सोलह, और द्वीन्द्रियादि चार भेद मिलानेसे सत्रह, तथा पांच भेद मिलानेसे अठारह भेद होते हैं ।

सगजुगलमिह तसस्स य पणभंगजुदेसु होंति उणवीसा ।

एयादुणवीसोत्ति य इगिञ्चित्तिगुणिदे हवे ठाणा ॥ ७७ ॥

ससयुगले त्रसस्य च पंचभंगयुतेषु भवन्ति एकोनविंशतिः ।

एकादिकोऽनविंशतिरिति च एकद्वित्रिगुणिते भवेयुः स्थानानि ॥ ७७ ॥

अर्थ—पृथिवी अप तेज वायु नित्यनिगोद इतरनिगोदके बादर सूक्ष्मकी अपेक्षा छह युगल और प्रत्येकका प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठितकी अपेक्षा एक युगल मिलाकर सात युगलोंमें त्रसके उक्त पांच भेद मिलानेसे जीवसमासके उन्नीस भेद होते हैं । इस प्रकार एकसे लेकर उन्नीस तक जो जीवसमासके भेद गिनाये हैं, इनका एक दो तीनके साथ गुणा करनेपर क्रमसे उन्नीस, अड़तीस, सत्तावन, जीवसमासके अवान्तर भेद होते हैं ।

एक दो तीनके साथ गुणाकरनेका कारण बताते हैं ।

सामण्णेण तिपंती पढमा विदिया अपुण्णगे इदरे ।

पज्जत्ते लद्धिअपज्जत्तेऽपढमा हवे पंती ॥ ७८ ॥

सामान्येन त्रिपङ्क्तयः प्रथमा द्वितीया अपूर्णके इतरस्मिन् ।

पर्यासे लब्ध्यपर्यासेऽप्रथमा भवेत् पङ्क्तिः ॥ ७८ ॥

अर्थ—उक्त उन्नीस भेदोंकी तीन पङ्क्ति करनी चाहिये । उसमें प्रथम पङ्क्ति सामान्यकी अपेक्षासे है । और दूसरी पङ्क्ति अपर्याप्त तथा पर्याप्तकी अपेक्षासे है । और तीसरी पङ्क्ति पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षासे है । भावार्थ—उन्नीसका जब एकसे गुणा करते हैं तब सामान्यकी अपेक्षा है, पर्याप्त अपर्याप्तके भेदकी विवक्षा नहीं है । जब दोके साथ गुणा करते हैं तब पर्याप्त अपर्याप्तकी अपेक्षा है । और जब तीनके साथ गुणा करते हैं तब पर्याप्त निवृत्त्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्तकी अपेक्षा है । गाथामें केवल लब्धि शब्द है उसका अर्थ लब्ध्यपर्याप्त होता है; क्योंकि नामका एक देशभी पूर्णनामका बोधक होता है ।

जीवसमासके और भी उत्तर भेदोंको गिनानेकेलिये दो गाथा कहते हैं ।

इगिविण्णं इगिविगले असणिसणिगयत्तलथलखगाणं ।

गम्भमवे सम्मुच्छे दुतिगं भोगथलखेचरे दो दो ॥ ७९ ॥

एकपञ्चाशत् एकविकले असंज्ञिसंज्ञिगतजलस्थलखगानाम् ।

गर्भमवे सम्मुच्छे द्वित्रिकं भोगस्थलखेचरे द्वौ द्वौ ॥ ७९ ॥

अर्थ—जीवसमासके उक्त ५७ भेदोंमेंसे पञ्चेन्द्रियके छह भेद निकालनेसे एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियसम्बन्धी ५१ भेद शेष रहते हैं । कर्मभूमिमें होनेवाले तिर्यच्चोंके तीन भेद हैं, जलचर स्थलचर नभश्चर । ये तीनों ही तिर्यच्च सञ्ज्ञी और असञ्ज्ञी होते हैं । तथा गर्भज और सम्मुच्छेन होते हैं; परन्तु गर्भजोंमें पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं, इसलिये गर्भजके बारह भेद, और सम्मुच्छेनोंमें पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त तीनोंही भेद होते हैं, इसलिये सम्मुच्छेनोंके अठारह भेद, सब मिलाकर कर्मभूमिज तिर्यच्चोंके तीसभेद होते हैं । भोगभूमिमें पञ्चेन्द्रियतिर्यच्चोंके स्थलचर नभश्चर दो ही भेद होते हैं । और ये दोनोंही पर्याप्त तथा निर्वृत्यपर्याप्त होते हैं । इसलिये भोगभूमिज तिर्यच्चोंके चार भेद, और उक्त कर्मभूमिज सम्बन्धी तीस भेद, उक्त ५१ भेदोंमें मिलाकर तिर्यग्गति सम्बन्धी सम्पूर्ण जीवसमासके ८५ भेद होते हैं । भोगभूमिमें जलचर सम्मुच्छेन तथा असंज्ञी जीव नहीं होते ।

मनुष्य देव नारकसम्बन्धी भेदोंको गिनाते हैं ।

अज्जवमलेच्छमणुए तित्थ भोगकुभोगभूमिजे दो दो ।

सुरणिरये दो दो इदि जीवसमासा ह्मु अडणउदी ॥ ८० ॥

आर्यम्लेच्छमनुष्ययोस्त्रयो द्वौ भोगकुभोगभूमिजयोर्द्वौ द्वौ ।

सुरनिरययोर्द्वौ द्वौ इति जीवसमासा हि अष्टानवतिः ॥ ८० ॥

अर्थ—आर्यखण्डमें पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त तीनोंही प्रकारके मनुष्य होते हैं । म्लेच्छखण्डमें लब्ध्यपर्याप्तको छोड़कर दो प्रकारके ही मनुष्य होते हैं । इसीप्रकार भोगभूमि कुभोगभूमि देव नारकियोंमें भी दो दो ही भेद होते हैं । इसलिये सब मिलाकर जीवसमासके ९८ भेद हुए । भावार्थ—पूर्वोक्त तिर्यच्चोंके ८५ भेद, और ९ भेद मनुष्योंके तथा दो भेद देवोंके, दो भेद नारकियोंके, इसप्रकार सब मिलाकर जीवसमासके अवान्तर भेद ९८ होते हैं ।

इसप्रकार स्थानाधिकारकी अपेक्षा जीवसमासोंका वर्णन किया । अब दूसरा योनि अधिकार क्रमसे प्राप्त है । उस योनिके दो भेद हैं, एक आकारयोनि दूसरी गुणयोनि । उसमें प्रथम आकारयोनिको कहते हैं ।

संखावत्तयजोणी कुम्मुण्णयवंसपत्तजोणी य ।

तत्थ य संखावत्ते णियमाडु विवज्जवे गम्भो ॥ ८१ ॥

शंखावर्तकयोनिः कूर्मोन्नतवंशपत्रयोनी च ।

तत्र च शंखावर्तं नियमात्तु विवर्ज्यते गर्भः ॥ ८१ ॥

अर्थ—योनिके तीन भेद हैं, शंखावर्त कूर्मोन्नत वंशपत्र । उनमेंसे शंखावर्त योनिमें गर्भ नियमसे वर्जित है । भावार्थ—जिसके भीतर शंखके समान चक्र पड़े हों उसको शंखावर्त योनि कहते हैं । जो कच्छुआकी पीठकी तरह उठी हुई हो उसको कूर्मोन्नत योनि कहते हैं । जो बांसके पत्तेके समान लम्बी हो उसको वंशपत्र योनि कहते हैं । ये तीन तरह की आकार योनि हैं । इनमेंसे प्रथम शंखावर्तमें नियमसे गर्भ नहीं रहता ।

कुम्मुण्णयजोणीये तित्थयरा दुविहचक्कवड्डी य ।

रामा वि य जायंते सेसाए सेसगजणो दु ॥ ८२ ॥

कूर्मोन्नतयोनौ तीर्थकरा द्विविधचक्रवर्तिनश्च ।

रामा अपि च जायन्ते शेषायां शेषकजनस्तु ॥ ८२ ॥

अर्थ—कूर्मोन्नतयोनिमें तीर्थकर अर्धचक्री चक्रवर्ती तथा बलभद्र और अपिशब्दकी सामर्थ्यसे साधारण पुरुष भी उत्पन्न होते हैं । तीसरी वंशपत्रयोनिमें साधारण पुरुष ही उत्पन्न होते हैं तीर्थकरादि महापुरुष नहीं होते ।

जन्म तथा उसकी आधारभूत गुणयोनिके भेदोंको गिनाते हैं ।

जम्मं खलु सम्मुच्छणगब्भुबबादा दु होदि तज्जोणी ।

सच्चित्तसीदसंडसेदरमिस्सा य पत्तेयं ॥ ८३ ॥

जन्म खलु सम्मूर्च्छनगर्भोपपादास्तु भवति तद्योनयः ।

सचित्तशीतसंवृतसेतरमिश्राश्च प्रत्येकम् ॥ ८३ ॥

अर्थ—जन्म तीन प्रकारका होता है, सम्मूर्च्छन गर्भ उपपाद । तथा इनकी आधारभूत सचित्त शीत संवृत, अचित्त उष्ण विवृत, मिश्र, ये गुण योनि होती हैं । इनमेंसे यथासम्भव प्रत्येक सम्मूर्च्छनादि जन्मके साथ लगालेनी चाहिये ।

किन जीवोंके कौनसा जन्म होता है यह बताते हैं ।

पोतजरायुजअंडजजीवाणं गब्भ देवणिरयाणं ।

उबबादं सेसाणं सम्मुच्छणयं तु णिहिट्ठं ॥ ८४ ॥

पोतजरायुजांडजजीवानां गर्भः देवनारकाणां ।

उपपादः शेषाणां सम्मूर्च्छनकं तु निर्दिष्टम् ॥ ८४ ॥

अर्थ—पोत (जो उत्पन्न होते ही भागने लगें, जैसे शेर विल्ली हिरन आदि), जरायुज

१ आत्मप्रदेशोंसे युक्त पुत्रलपिण्डको सचित्त कहते हैं । २ ढका हुआ । ३ खुला हुआ । ४ दोका मिला हुआ, जैसे सचित्त और अचित्तको मिलकर एक मिश्र योनि होती है ।

(जो जेरके साथ उत्पन्न हों), अण्डज (जो अण्डेसे उत्पन्न हों) इन तीन प्रकारके जीवोंका गर्भ जन्म ही होता है । देव नारकियोंका उपपाद जन्म ही होता है ! शेष जीवोंका सम्मूर्च्छन जन्मही होता है ।

किस जन्मके साथ कौनसी योनि सम्भव है यह तीन गाथाओंद्वारा बताते हैं ।

उबबादे अच्चित्तं गढ्मे मिस्सं तु होदि सम्मुच्छं ।

साच्चित्तं अच्चित्तं मिस्सं च य होदि जोणी हु ॥ ८५ ॥

उपपादे अचित्ता गर्भे मिश्रा तु भवति सम्मूर्च्छं ।

साचित्ता अचित्ता मिश्रा च च भवति योनिर्हि ॥ ८५ ॥

अर्थ—उपपाद जन्मकी अचित्त ही योनि होती है । गर्भ जन्मकी मिश्र योनि ही होती है । तथा सम्मूर्च्छन जन्मकी साचित्त अचित्त मिश्र तीनों तरहकी योनि होती है ।

उबबादे सद्दुसणं सेसे सद्दुसणमिस्सयं होदि ।

उबबादेयक्खेसु य संउड वियलेसु विउलं तु ॥ ८६ ॥

उपपादे शीतोष्णे शेषे शीतोष्णमिश्रका भवन्ति ।

उपपादैकाक्षेषु च संवृता विकलेषु विवृता तु ॥ ८६ ॥

अर्थ—उपपाद जन्ममें शीत और उष्ण दो प्रकारकी योनि होती हैं । शेष जन्मोंमें शीत उष्ण मिश्र तीनों ही योनि होती हैं । उपपाद जन्मवालोंकी तथा एकेन्द्रिय जीवोंकी योनि संवृत ही होती है । और विकलेन्द्रियोंकी विवृत ही होती है ।

गढ्मजजीवाणं पुण मिस्सं णियमेण होदि जोणी हु ।

सम्मूर्च्छणपंचक्खे वियलं वा विउलजोणी हु ॥ ८७ ॥

गर्भजजीवानां पुनः मिश्रा नियमेन भवति योनिर्हि ।

सम्मूर्च्छनपंचक्षाणां विकलं वा विवृतयोनिर्हि ॥ ८७ ॥

अर्थ—गर्भजजीवोंकी योनि नियमसे मिश्र (संवृत विवृतकी अपेक्षा) होती है । पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन जीवोंकी विकलेन्द्रियोंकी तरह विवृत योनि ही होती है ।

उक्त गुणयोनिकी उपसंहारपूर्वक विशेषसंख्याको बताते हैं ।

सामण्णेण य एवं णव जोणीओ हवन्ति वित्थारे ।

लक्खाण चदुरसीदी जोणीओ ह्वन्ति णियमेण ॥ ८८ ॥

सामान्येन चैवं नव योनयो भवन्ति विस्तारे ।

लक्षाणां चतुरशीतिः योनयो भवन्ति नियमेन ॥ ८८ ॥

१ देवोंके उत्पन्न होनेकी शय्या और नारकियोंके उत्पन्न होनेके उष्ट्रकादि स्थानोंको उपपाद कहते हैं, उनमें उत्पन्न होनेको भी उपपाद कहते हैं । २ चाहे तरफसे पुद्गलका इकट्ठा होना (जू मच्छर आदिके जन्मविशेषमें रुठ दू) । ३ माताके सचित्तपूज और पिताके अचित्त बीजके मिलनेसे मिश्र योनि होती है ।

अर्थ—पूर्वोक्त क्रमानुसार सामान्यसे योनियोंके नियमसे नव ही भेद होते हैं ।
विस्तारकी अपेक्षा इनके चौगुनी लाख भेद होते हैं ।

योनिसम्बन्धी विस्तृत संख्याको दिखाते हैं ।

णिच्चिदरधातुसत्त य तरुदस वियल्लिंदियेसु छवेव ।

सुरणिरयतिरियचउरो चोद्वस मणुए सदसहस्सा ॥ ८९ ॥

नित्येतरधातुसत्त च तरुदश विकलेन्द्रियेषु षट् चैव ।

सुरनिरयतिर्यक्चतस्रः चतुर्दश मनुष्ये शतसहस्रः ॥ ८९ ॥

अर्थ—नित्यनिगोद इतरनिगोद पृथिवी जल अग्नि वायु इन प्रत्येककी सात २ लाख, वनस्पतिकी दशलाख, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय इन प्रत्येककी दो २ लाख अर्थात् विकलेन्द्रियकी छह लाख, देव नारकी तिर्यश्च इन प्रत्येककी चार २ लाख, मनुष्यकी चौदह लाख, सब मिलाकर ८४ लाख योनि होती हैं ।

किस गतिमें कौनसा जन्म होता है यह दो गाथाओंद्वारा दिखाते हैं ।

उबबादा सुरणिरया गढभजसम्मुच्छिमा हु णरतिरिया ।

सम्मुच्छिमा मणुस्साऽपज्जत्ता एयवियलक्खा ॥ ९० ॥

उपपादाः सुरनिरया गर्भजसम्मुच्छिमा हि नरतिर्यश्चः ।

सम्मुच्छिमा मनुष्या अपर्याप्ता एकविकलाक्षाः ॥ ९० ॥

अर्थ—देवगति और नरकगतिमें उपपाद जन्मही होता है । मनुष्य तथा तिर्यश्चोंमें गर्भ और सम्मूर्छन दो ही प्रकारका जन्म होता है; किन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और एकेन्द्रिय विकलेन्द्रियोंका सम्मूर्छन जन्म ही होता है ।

पंचक्खतिरिक्खाओ गढभजसम्मुच्छिमा तिरिक्खाणं ।

भोगभूमा गढभभवा नरपुण्णा गढभजाचेव ॥ ९१ ॥

पञ्चाक्षतिर्यश्चो गर्भजसम्मुच्छिमा तिरश्चात् ।

भोगभूमा गर्भभवा नरपूर्णा गर्भजाश्चैव ॥ ९१ ॥

अर्थ—कर्मभूमिया पंचेन्द्रिय तिर्यश्च गर्भज तथा सम्मूर्छन ही होते हैं । तिर्यश्चोंमें जो भोगभूमिया तिर्यश्च हैं वे गर्भज ही होते हैं । और जो पर्याप्त मनुष्य हैं वे भी गर्भज ही होते हैं ।

लब्ध्यपर्याप्तकोंकी कहां २ सम्भावना है और कहां नहीं है यह बताते हैं ।

उबबाद्गढभजेसु य लद्धिअपज्जत्तगा ण णियमेण ।

णरसम्मुच्छिमजीवा लद्धिअपज्जत्तगा चेव ॥ ९२ ॥

उपपादगर्भजेषु च लब्ध्यपर्याप्तका न नियमेन ।

नरसम्पृच्छिमजीवा लब्ध्यपर्याप्तकाश्चैव ॥ ९२ ॥

अर्थ—उपपाद और गर्भ जन्मवालोंमें नियमसे लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते । और सम्पृच्छिम मनुष्य नियमसे लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं । भावार्थ—देव नारकी पर्याप्त निर्वृत्यपर्याप्त ही होते हैं । और चक्रवर्तीकी रानी आदिको छोड़कर शेष आर्यखण्डकी स्त्रियोंकी योनि कांख स्तन मूत्र मल आदिमें उत्पन्न होनेवाले सम्पृच्छिम मनुष्य लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं ।

नरकादि गतियोंमें होनेवाले वेदोंका नियम करते हैं ।

पौरुषा खलु संढा णरतिरिये तिणिण होंति सम्मुच्छा ।

संढा सुरभोगभूमा पुरिसिच्छीवेदगा चेव ॥ ९३ ॥

नैरयिकाः खलु षण्ढा नरतिरश्चोस्त्रयो भवन्ति सम्मुच्छाः—

षण्ढाः सुरभोगभूमाः पुरुषस्त्रीवेदकाश्चैव ॥ ९३ ॥

अर्थ—नारकियोंका द्रव्यवेद तथा भाववेद नपुंसक ही होता है । मनुष्य और तिर्य-
श्चोंके तीनोंही (स्त्री पुरुष नपुंसक) वेद होते हैं । देव और भोगभूमियाँओंके पुरुषवेद और स्त्रीवेद ही होता है । भावार्थ—देव नारकी भोगभूमियाँ और सम्पृच्छिम जीव इनका जो द्रव्यवेद होता है वही भाववेद होता है; किन्तु शेष मनुष्य और तिर्यश्चोंमें यह नियम नहीं है । उनके द्रव्य-
वेद और भाववेदमें विपर्ययता भी पाई जाती है । अङ्गोपाङ्ग नामकर्मके उदयसे होनेवाले शरीरगत चिह्नविशेषको द्रव्यवेद, और मोहनीयकर्मकी वेदप्रकृतिके उदयसे होनेवाले परिणाम-
विशेषोंको भाववेद कहते हैं ।

शरीरावगाहनाकी अपेक्षा जीवसमासोंका निरूपण करनेसे प्रथम सबसे उत्कृष्ट और जघन्य शरीरकी अवगाहनाओंके स्वामियोंको दिखाते हैं ।

सुहमणिगोदपज्जत्तयस्य जादस्स तदियसमयम्हि ।

अंगुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥ ९४ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।

अङ्गुलसंख्यभागं जघन्यमुत्कृष्टकं मत्स्ये ॥ ९४ ॥

अर्थ—उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी अङ्गुलके असंख्यतामे भागप्रमाण शरीरकी जघन्य अवगाहना होती है । और उत्कृष्ट अवगाहना मत्स्यके होती है । भावार्थ—अजुगतिकेद्वारा उत्पन्न होनेवाले सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवकी उत्पत्तिसे तीसरे समयमें शरीरकी जघन्य अवगाहना होती है, और इसका प्रमाण घनाङ्गुलके

१ उत्पत्तिके प्रथम समयमें आयतचतुरस्र और दूसरे समयमें समचतुरस्र होता है, इस सिद्धे प्रथम द्वितीय समयमें जघन्य अवगाहना नहीं होती; किन्तु तीसरे समयमें गोल होजायेसे जघन्य अवगाहना होती है ।

असंख्यातमें भागप्रमाण है । उत्कृष्ट अवगाहना स्वयम्भूमण समुद्रके मध्यमें होनेवाले महामत्स्यकी होती है । इसका प्रमाण हजार योजन लम्बा, पांचसौ योजन चौड़ा, दईसौ योजन मोटा है । जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट पर्यन्त एक २ प्रदेशकी वृद्धिके क्रमसे मध्यम अवगाहनाके अनेक भेद होते हैं । अवगाहनाके सम्पूर्ण विकल्प असंख्यात होते हैं ।

इन्द्रियकी अपेक्षा उत्कृष्ट अवगाहनाका प्रमाण बताते हैं ।

साहियसहस्समेकं वारं कोसूणमेकमेकं च ।

जोयणसहस्सदीहं पग्गे वियले महामच्छे ॥ ९५ ॥

साधिकसहस्समेकं द्वादश कोशोनेमेकं च ।

जोयणसहस्सदीर्घं पग्गे विकले महामत्स्ये ॥ ९६ ॥

अर्थ—पद्म (कमल), द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, महामत्स्य इनके शरीरकी अवगाहना क्रमसे कुछ अधिक एक हजार योजन, बारह योजन, तीनकोश, एक योजन, हजार योजन लम्बी समझनी चाहिये । भावार्थ—एकेन्द्रियोंमें सबसे उत्कृष्ट कमलकी कुछ अधिक एक हजार योजन, द्वीन्द्रियोंमें शंखकी बारहयोजन, त्रीन्द्रियोंमें त्रैप्पी (चीटी) की तीन कोश, चतुरिन्द्रियोंमें भ्रमरकी एक योजन, पंचेन्द्रियोंमें महामत्स्यकी एक हजार योजन लम्बी शरीरकी अवगाहनाका प्रमाण है । यहांपर महामत्स्यकी एक हजार योजनकी अवगाहनासे जो पद्मकी कुछ अधिक अवगाहना बतलाई है, और पूर्वमें सर्वोत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यकी ही बतलाई है, इससे पूर्वापर विरोध नहीं समझना चाहिये; क्योंकि यहांपर केवल लम्बाईका वर्णन है, और पूर्वमें जो सर्वोत्कृष्ट अवगाहना बताई थी वह घनक्षेत्रफलकी अपेक्षासे थी । इसलिये पद्मकी अपेक्षा मत्स्यके शरीरकी अवगाहना ही उत्कृष्ट समझनी चाहिये; क्योंकि पद्मकी अपेक्षा मत्स्यके शरीरकी अवगाहनाका क्षेत्रफल अधिक है ।

पर्याप्तक द्वीन्द्रियादिकोंकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण क्या है ? और उसके धारक जीव कौन १ हैं यह बताते हैं ।

बित्तिचपपुण्णजहणं अणुंधरीकुंधुकाणमच्छीसु ।

सिच्छयमच्छे विदंगुलसंखे संखगुणिदकमा ॥ ९६ ॥

द्वित्रिचपपूर्णजघन्यमनुंधरीकुंधुकाणमसिकासु ।

सिक्थकमत्स्ये वृन्दाङ्गुलसंख्यं संख्यगुणितक्रमाः ॥ ९६ ॥

अर्थ—द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीवोंमें अनुंधरी कुंधु काणमसिका सिक्थमत्स्यके क्रमसे जघन्य अवगाहना होती है । इसमें प्रथमकी घनाङ्गुलके संख्यातमें भागप्रमाण है । और पूर्वकी अपेक्षा उत्तरकी अवगाहना क्रमसे संख्यातगुणी २ अधिक है । भावार्थ—द्वीन्द्रियोंमें सबसे जघन्य अवगाहना अनुंधरीके पाई जाती है और उसका

प्रमाण घनाङ्गुलकैः संख्यातमं भागमात्र है । उससे संख्यातगुणी त्रीन्द्रियोंकी जघन्य अवगाहना है, यह कुंथुके पाई जाती है । इससे संख्यातगुणी चौइन्द्रियोंमें काणमासिका की, और इससे भी संख्यातगुणी पंचेन्द्रियोंमें सिकथमत्स्यकें जघन्य अवगाहना पाई जाती है । यहांपर आचार्योंने द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय आदि शब्द न लिखकर “ बि, ति, च, प, ” ये शब्द जो लिखे हैं वे ‘ नामका एकदेश भी सम्पूर्ण नामका बोधक होता है ’ इस नियमके आश्रयसे लघवके लिये लिखे हैं ।

जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त जितने भेद हैं उनमें किस भेदका कौन स्वामी है ? और अवगाहनाकी न्यूनाधिकताका गुणाकार क्या है ? यह पांच गाथाओंद्वारा बताते हैं ।

सुहमणिवातेआभूवातेआपुणिपदिद्विदं इदरं ।

बितिचपमादिह्लाणं एयाराणं तिसेदीय ॥ ९७ ॥

सूक्ष्मनिवातेआभूवातेअपृनिप्रतिष्ठितमितरत् ।

द्वित्रिचपमाद्यानमेकादशानां त्रिश्रेणयः ॥ ९७ ॥

अर्थ—एक कोठेमें सूक्ष्मनिगोदिया वायुकाय तेजकाय जलकाय पृथिवीकाय इनका क्रमसे स्थापन करना । इसके आगे दूसरे कोठेमें वायुकाय तेजकाय जलकाय पृथिवीकाय निगोदिया प्रतिष्ठित इनका क्रमसे स्थापन करना । और तीसरे कोठेमें अप्रतिष्ठित द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रियोंका क्रमसे स्थापन करना । इसके आगे उक्त सोलह स्थानों मेंसे आदिके ग्यारह स्थानोंकी तीन श्रेणि मांडना चाहिये । भावार्थ—तीनकोठोंमें स्थापित सोलह स्थानोंके आदिके ग्यारहस्थान जो कि प्रथम द्वितीय कोठेमें स्थापित किये गये हैं—अर्थात् सूक्ष्मनिगोदियासे लेकर प्रतिष्ठित पर्यन्तके ग्यारह स्थानोंको क्रमानुसार उक्त तीन कोठाओंके आगे पूर्ववत् दो कोठाओंमें स्थापित करना चाहिये, और इसके नीचे इनही ग्यारह स्थानोंके दूसरे और दो कोठे स्थापित करने चाहिये, तथा दूसरे दोनों कोठोंके नीचे तीसरे दो कोठे स्थापित करना चाहिये । इसप्रकार तीन श्रेणिमें दो २ कोठाओंमें ग्यारह स्थानोंको स्थापित करना चाहिये । और इसके आगेः—

अपदिद्विदपत्तेयं बितिचपतिचबिअपदिद्विदंसयलं ।

तिचबिअपदिद्विदं च य सयलं बादालगुणिदकमा ॥ ९८ ॥

अप्रतिष्ठितप्रत्येकं द्वित्रिचपत्रिचप्रतिष्ठितं सकलम् ।

त्रिचप्रतिष्ठितं च च सकलं द्वाचत्वारिंशद्गुणितक्रमाः ॥ ९८ ॥

अर्थ—छठे कोठेमें अप्रतिष्ठित प्रत्येक द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रियका स्थापन करना । इसके आगेके कोठेमें क्रमसे त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय द्वीन्द्रिय अप्रतिष्ठित प्रत्येक पंचेन्द्रियका स्थापन करना । इससे आगे के कोठेमें त्रीन्द्रिय चौइन्द्रिय द्वीन्द्रिय अप्रतिष्ठित प्रत्येक गो. ६

पंचेन्द्रियका क्रमसे स्थापन करना । इन सम्पूर्ण चौंसठ स्थानोंमें व्यालीस स्थान उत्तरोत्तर गुणितक्रम हैं । भावार्थ—आदिके तीन कोठोंमें स्थापित सोलह स्थान और जिन ग्यारहस्थानोंको तीन श्रेणियोंमें स्थापित किया था उनमेंसे नीचेकी दो श्रेणियोंमें स्थापित बाईस स्थानोंको छोड़कर उपरकी श्रेणिके ग्यारहस्थान । तथा इसके आगे तीन कोठोंमें स्थापित पन्द्रह स्थान । सब मिलाकर व्यालीस स्थान उत्तरोत्तर गुणितक्रम हैं । और दूसरी तीसरी श्रेणिके बाईस स्थान अधिकक्रम हैं । व्यालीस स्थानोंके गुणाकारका प्रमाण और बाईसस्थानोंके अधिकका प्रमाण आगे बतावेंगे । यहांपर उक्त स्थानोंके स्वामियोंको बताते हैं ।

अवरमपुण्णं पढमं सोलं पुण पढमबिदियतदियोली ।

पुण्णिदरपुण्णयाणं जहण्णमुक्कस्समुक्कस्स ॥ ९९ ॥

अवरमपूर्ण प्रथमे षोडश पुनः प्रथमद्वितीयतृतीयाबलिः ।

पूर्णेतरपूर्णांना जघन्यमुत्कृष्टमुत्कृष्टम् ॥ ९९ ॥

अर्थ—आदिके सोलह स्थान जघन्य अपर्याप्तकके हैं । और प्रथम द्वितीय तृतीयश्रेणि क्रमसे पर्याप्तक अपर्याप्तक तथा पर्याप्तककी जघन्य उत्कृष्ट और उत्कृष्ट समझनी चाहिये । भावार्थ—प्रथम तीन कोठोंमें विभक्त सोलह स्थानोंमें अपर्याप्तककी जघन्य अवगाहना बताई है । और इसके आगे प्रथम श्रेणिके ग्यारह स्थानोंमें पर्याप्तककी जघन्य और इसके नीचे दूसरी श्रेणिमें अपर्याप्तककी उत्कृष्ट तथा इसके भी नीचे तीसरी श्रेणिमें पर्याप्तकोंकी उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये ।

पुण्णजहण्णं ततो वरं अपुण्णस्स पुण्णउक्कस्सं ।

वीपुण्णजहण्णोत्ति असंखं संखं गुणं ततो ॥ १०० ॥

पूर्णजघन्यं ततो वरमपूर्णस्य पूर्णोत्कृष्टम् ।

द्विपूर्णजघन्यमिति असंख्यं संख्यं गुणं ततः ॥ १०० ॥

अर्थ—श्रेणिके आगेके प्रथम कोठेमें (छठे कोठेमें) पर्याप्तककी जघन्य और दूसरे कोठेमें अपर्याप्तककी उत्कृष्ट तथा तीसरे कोठेमें पर्याप्तककी उत्कृष्ट अवगाहना समझनी चाहिये । द्वीन्द्रिय पर्याप्तककी जघन्य अवगाहना पर्यन्त असंख्यातका गुणाकार है, और इसके आगे संख्यातका गुणाकार है । भावार्थ—पहले जो व्यालीस स्थानोंको गुणितक्रम बताया था उनमेंसे आदिके उनतीस स्थान (सूक्ष्मानिगोदिया अपर्याप्तक जघन्यसे लेकर द्वीन्द्रिय पर्याप्तकी जघन्य अवगाहना पर्यन्त) उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे २ हैं । और इसके आगे तेरह स्थान उत्तरोत्तर संख्यातगुणे २ हैं ।

गुणाकार रूप असंख्यातका और श्रेणिगत बाईस स्थानोंके अधिकका प्रमाण बताते हैं ।

सुहमेदरगुणगारो आवलिपल्लाअसंखमागो दु ।

सहाणे सेढिगया अहिषा तत्थेकपडिभागो ॥ १०१ ॥

सूक्ष्मतरगुणकार आवलिपल्यासंख्येयभागस्तु ।

स्वस्थाने श्रेणिगता अधिकास्तत्रैकप्रतिभागः ॥ १०१ ॥

अर्थ—सूक्ष्म और बादरोंका गुणकार स्वस्थानमें क्रमंभ आवली और पल्यके असंख्यात में भाग है । और श्रेणिगत वाईस स्थान अपने २ एक प्रतिभागप्रमाण अधिक २ हैं ।
भावार्थ—सूक्ष्म निगोदियासे सूक्ष्म वायुकायका प्रमाण आवलीके असंख्यातमें भागसे गुणित है, और इसीप्रकार सूक्ष्मवायुकायसे सूक्ष्म तेजकायका और सूक्ष्मतेजकायसे सूक्ष्मजलकायका सूक्ष्मजलकायसे सूक्ष्म पृथिवीकायका प्रमाण उत्तरोत्तर आवलीके असंख्यातमें २ भागसे गुणित है । परन्तु सूक्ष्म पृथिवीकायसे बादर वातकायका प्रमाण परस्थान होनेसे पल्यके असंख्यातमें भागगुणित है । इसीप्रकार बादर वातकायसे बादर तेजकायका और बादर तेजकायसे बादर जलकायादिका प्रमाण उत्तरोत्तर क्रमसे पल्यके असंख्यातमें भाग २ गुणा है । इसीप्रकार आगेके स्थान भी समझना । परन्तु श्रेणिगत वाईस स्थानोंमें गुणाकार नहीं है; किन्तु उत्तरोत्तर अधिक २ हैं, अर्थात् वाईस स्थानोंमें जो सूक्ष्म हैं वे आवलीके असंख्यातमें भाग अधिक है, और जो बादर हैं वे पल्यके असंख्यातमें भाग अधिक हैं ।

सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकरी जघन्य अवगाहनासे सूक्ष्म वायुकायकी अवगाहना आवलीके असंख्यातमें भाग गुणित है यह पहले कह आये हैं । अब इसमें होनेवाली चतुःस्थानपतित वृद्धिकी उत्पत्तिका क्रम तथा उसके मध्यमें होनेवाले अनेक अवगाहनाके भेदोंको कहते हैं ।

अवरुबरि इगिपदेसे जुदे असंखेज्जमागववृद्धी ।

आदी गिरंतरमदो एगेगपदेसपरिववृद्धी ॥ १०२ ॥

अवरोपरि एकप्रदेशे युते असंख्यातभागवृद्धेः ।

आदिः निरन्तरमतः एकैकप्रदेशपरिवृद्धिः ॥ १०२ ॥

अर्थ—जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें एक प्रदेश और मिलानेसे जो प्रमाण होता है वह असंख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान है । इसके आगे भी क्रमसे एक २ प्रदेशकी वृद्धि करनी चाहिये । और ऐसा करते २—

अवरोग्गाहणमाणे जहण्णपरिमिद असंखरासिहिदे ।

अवरस्सुवरि उट्ठे जेट्टमसंखेज्जभागस्स ॥ १०३ ॥

अवरावगाहनाप्रमाणे जघन्यपरिमितासंख्यातराशिहेते ।

अवरस्योपरि वृद्धे ज्येष्ठमसंख्यातभागस्य ॥ १०३ ॥

अर्थ—जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें जघन्यपरीतासंख्यातका भाग देनेसे जो लब्ध आविर्भूतने प्रदेश जघन्य अवगाहनामें मिलानेपर असंख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है ।

तस्सुवरि इगिपदेसे जुदे अवत्तव्वभागपारम्भो ।

वरसंसम्भवाहिद्वरे रूऊणे अवरउवरिजुदे ॥ १०४ ॥

तस्योपरि एकप्रदेशे युते अवक्तव्यभागप्रारम्भः ।

वरसंख्यातावहितावरे रूपोने अवरोपरि युते ॥ १०४ ॥

अर्थ—असंख्यातभागवृद्धिके उत्कृष्ट स्थानके आगे एक प्रदेशकी वृद्धि करनेसे अवक्तव्य भागवृद्धिका प्रारम्भ होता है । इसमें एक २ प्रदेशकी वृद्धि होते २, जब जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें उत्कृष्ट संख्यातका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसमें एक कमकरके जघन्यके प्रमाणमें मिलादिया जाय तबः—

तव्वड्डीए चरिमो तस्सुवरिं रूबसंजुदे पढमा ।

संखेज्जभागउड्डी उवरिमदो रूबपरिवड्डी ॥ १०५ ॥

तद्वद्धेश्वरमः तस्योपरि रूपसंयुते प्रथमा ।

संख्यातभागवृद्धिः उपर्यतो रूपपरिवृद्धिः ॥ १०५ ॥

अर्थ—अवक्तव्यभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । इसके आगे एक और मिला-नेसे संख्यातभागवृद्धिका प्रथम स्थान होता है । और इसके आगे एक २ की वृद्धि करते २ जबः-

अवरद्धे अवरुवरिं उड्ढे तव्वड्ढिपरिसमत्ती हु ।

रूवे तदुवरि उड्ढे होदि अवत्तव्वपढमपदं ॥ १०६ ॥

अवराद्धे अवरोपरिवृद्धे तद्वृद्धिपरिसमाप्तिर्हि ।

रूपे तदुपरि वृद्धे भवति अवक्तव्यप्रथमपदम् ॥ १०६ ॥

अर्थ—जघन्यका जितना प्रमाण है उसमें उसका (जघन्यका) आधा और मिला-नेसे संख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्टस्थान होता है । इसके आगे भी एक प्रदेशकी वृद्धि करनेपर अवक्तव्यवृद्धिका प्रथम स्थान होता है ।

रूऊणवरे अबरुस्सुवरिं संवड्ढिदे तदुक्कस्सं ।

तस्मि पदेसे उड्ढे पढमा संखेज्जगुणवड्ढी ॥ १०७ ॥

रूपोनावरे अवरस्योपरि संवद्धिते तदुत्कृष्टम् ।

तस्मिन् प्रदेशे वृद्धे प्रथमा संख्यातगुणवृद्धिः ॥ १०७ ॥

अर्थ—जघन्यके प्रमाणमें एक कम जघन्यका ही प्रमाण और मिलानेसे अवक्तव्यवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । और इसमें एक प्रदेश और मिलानेसे संख्यातगुणवृद्धिका प्रथम स्थान होता है ।

अवरे वरसंसगुणे तच्चरिमो तम्मि रूबसंजुत्ते ।

उग्गाहणम्मि पढमा होदि अवत्तव्वगुणवड्ढी ॥ १०८ ॥

अवरे वरसंख्यगुणे तच्चरमः तस्मिन् रूपसंयुक्ते ।

अवगाहने प्रथमा भवति अवक्तव्यगुणवृद्धिः ॥ १०८ ॥

अर्थ—जघन्यको उत्कृष्ट संख्यातसे गुणा करनेपर संख्यातगुणवृद्धिका उत्कृष्टस्थान होला है । इस संख्यातगुणवृद्धिके उत्कृष्ट स्थानमें ही एक प्रदेशकी वृद्धि करनेपर अवक्तव्यगुणवृद्धिका प्रथमस्थान होता है ।

अवरपरित्तासंख्येणवरं संगुणिय रूबपरिहीणे ।

तच्चरमो रूबजुदे तद्धि असंखेज्जगुणपढमं ॥ १०९ ॥

अवरपरीतासंख्येनावरं संगुण्य रूपपरिहीने ।

तच्चरमो रूपयुते तस्मिन् असंख्यातगुणप्रथमम् ॥ १०९ ॥

अर्थ—जघन्य अवगाहनाका जघन्यपरीतासंख्यातके साथ गुणा करके उसमेंसे एक घटाने पर अवक्तव्यगुणवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है । और इसमें एक प्रदेशकी वृद्धि होनेपर असंख्यातगुणवृद्धिका प्रथम स्थान होता है ।

रूबुत्तरेण तत्तो आवलियासंखभागगुणगारे ।

तप्पाउग्गेजावे वाउरुसोग्गाहणं कमसो ॥ ११० ॥

रूपोत्तरेण तत आवलिकासंख्यभागगुणकारे ।

तत्प्रायोग्ये जाते वायोरवगाहनं क्रमशः ॥ ११० ॥

अर्थ—इस असंख्यातगुणवृद्धिके प्रथमस्थानके ऊपर क्रमसे एक २ प्रदेशकी वृद्धि होते २ जब सूक्ष्म अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाकी उत्पत्तिके योग्य आवलिके असंख्यातमें भागका गुणाकार उत्पन्न होजाय तब क्रमसे उस वायुकायकी अवगाहना होती है । भावार्थ—जघन्य अवगाहनाके ऊपर प्रदेशोत्तर वृद्धिके क्रमसे असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धिको क्रमसे असंख्यात २ बार होनेपर, और इन वृद्धियोंके मध्यमें अवक्तव्यवृद्धिको भी प्रदेशोत्तरवृद्धिके क्रमसे ही असंख्यात २ बार होनेपर, जब असंख्यागुणवृद्धि होते २ अन्तमें अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाको उत्पन्न करनेमें योग्य आवलीके असंख्यातमें भागमाण असंख्यातका गुणाकार आजाय तब उसके साथ जघन्य अवगाहनाका गुणा करनेसे अपर्याप्त वायुकायकी जघन्य अवगाहनाका प्रमाण निकलता है । यह पूर्वोक्त कथन विना अंकसंदष्टिके समझमें नहीं आसकता इसलिये यहांपर अंकसंदष्टि लिखदेना उचित समझते हैं । वह इस प्रकार है—रूपना कीजिये कि जघन्य अवगाहनाका प्रमाण ९१० है और जघन्य संख्यातका प्रमाण १ तथा उत्कृष्ट संख्यातका प्रमाण १५ और जघन्य परीतासंख्यातका प्रमाण ११ है । इस जघन्य अवगाहनाके प्रमाणमें जघन्य अवगाहनाका ही भाग देनेसे १ छब्ब आका है

उसको जघन्य अवगाहनामें मिलानेसे असंख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान होता है। और जघन्य परीतासंख्यात अर्थात् १६ का भाग देनेसे ६० लब्ध आते हैं उनको जघन्य अवगाहनामें मिलानेसे असंख्यातभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। उत्कृष्ट संख्यातका अर्थात् १५ का जघन्य अवगाहनामें भाग देनेसे लब्ध ६४ आते हैं इनको जघन्य अवगाहनामें मिलानेसे संख्यातभागवृद्धिका आदिस्थान होता है। जघन्यमें २ का भागदेनेसे जो लब्ध आवे उसको अर्थात् जघन्यके आधेको जघन्यमें मिलानेसे संख्या-तभागवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। परन्तु उत्कृष्ट असंख्यातभागवृद्धिके आगे और जघन्य संख्यातभागवृद्धिके पूर्व जो तीन स्थान हैं, अर्थात् जघन्यके ऊपर ६० प्रदेशोंकी वृद्धि तथा ६४ प्रदेशोंकी वृद्धिके मध्यमें जो ६१-६२ तथा ६३ प्रदेशोंकी वृद्धिके तीन स्थान हैं, वे न तो असंख्यातभागवृद्धिमें ही आते हैं और न संख्यातभागवृद्धिमें ही, इसलिये इनको अवक्तव्यवृद्धिमें लिया है। इसके आगे गुणवृद्धिका प्रारम्भ होता है, जघन्यको दूना करनेसे संख्यातगुणवृद्धिका आदिस्थान (१९२०) होता है। इसके पूर्वमें उत्कृष्ट संख्यातभागवृद्धिके स्थानसे आगे अर्थात् १४४० से आगे जो १४४१ तथा १४४२ आदि १९१९ पर्यंत स्थान हैं वे सम्पूर्ण ही अवक्तव्यवृद्धिके स्थान हैं। इसही प्रकार जघन्यको उत्कृष्ट संख्यातसे गुणित करनेपर संख्यातगुणवृद्धिका उत्कृष्ट स्थान होता है। और इसके आगे जघन्यपरीतासंख्यातका जघन्य अवगाहनाके साथ गुणा करनेपर असंख्यातगुणवृद्धिका आदिस्थान होता है। तथा इन दोनोंके मध्यमें भी पूर्वकी तरह अवक्तव्य वृद्धि होती है। इस असंख्यातगुणवृद्धिमें ही प्रदेशोत्तरवृद्धिके क्रमसे वृद्धि होते २ सूक्ष्म वातकायकी जघन्य अवगाहनाकी उत्पत्तिके योग्य गुणाकार प्राप्त होता है उसका जघन्य अवगाहनाके साथ गुणा करनेपर सूक्ष्म वातकायकी जघन्य अवगाहना उत्पन्न होती है। इस अंकसंदष्टिके अनुसार अर्थ संदष्टि भी समझना चाहिये; परन्तु अंकसंदष्टिको ही अर्थसंदष्टि नहीं समझना चाहिये।

इसप्रकार सूक्ष्म निगोदियाके जघन्य अवगाहनास्थानोंसे सूक्ष्म वातकायकी जघन्य अवगाहनापर्यन्त स्थानोंको बताकर तेजस्कायादिके अवगाहनास्थानोंके गुणाकारकी उत्पत्तिके क्रमको बताते हैं।

एवं उवरि विणेओ पदेसवट्ठिकमो जहाजोगं ।

सव्वत्थेक्केकस्मिं य जीवसमासाण विञ्चाले ॥ १११ ॥

एवमुपर्यपि ज्ञेयः प्रदेशवृद्धिक्रमो यथायोग्यम् ।

सर्वत्रैकैकस्मिंश्च जीवसमासानामन्तराले ॥ १११ ॥

अर्थ—जिसप्रकार सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तसे लेकर सूक्ष्म अपर्याप्त वातकायकी जघन्य अवगाहना पर्यन्त प्रदेश वृद्धिके क्रमसे अवगाहनाके स्थान बताये, उसही प्रकार आगे

मी तेजस्कायिकसे लेकर पर्याप्त पञ्चेन्द्रियकी उत्कृष्ट अवगाहना पर्यन्त सम्पूर्ण जीवसमासोंके प्रत्येक अन्तरालमें प्रदेशवृद्धिक्रमसे अवगाहनास्थानोंको समझना चाहिये ।

उक्त सम्पूर्ण अवगाहनाके स्थानोंमें किसमें किसका अन्तर्भाव होता है उसको मत्स्यरचनाके द्वारा सूचित करते हैं ।

हेठा जेसिं जहणणं उबरिं उक्कस्सयं हवे जत्थ ।

तत्थन्तरगा सव्वे तेसिं उग्गाहणविअप्पा ॥ ११२ ॥

अवस्तनं येषां जघन्यमुपर्युत्कृष्टकं भवेद्यत्र ।

तत्रान्तरगाः सर्वे तेषामवगाहनविकल्पाः ॥ ११२ ॥

अर्थ—जिन जीवोंकी प्रथम जघन्य अवगाहनाका और अनन्तर उत्कृष्ट अवगाहनाका जहां २ पर वर्णन किया गया है उनके मध्यमें जितने भेद हैं उन सबका मध्यके भेदोंमें अन्तर्भाव होता है । भावार्थ—जिनके अवगाहनाके विकल्प अल्प हैं उनका प्रथम विन्यास करना, और जिनकी अवगाहनाके विकल्प अधिक हैं उनका विन्यास पीछे करना । जिसके जहासे जहांतक अवगाहना स्थान हैं उनका वहांसे वहांतक ही विन्यास करना चाहिये । ऐसा करनेसे मत्स्यका आकार होजाता है । इस मत्स्यरचनासे किस जीवके कितने अवगाहनाके स्थान हैं और कहासे कहांतक हैं यह प्रतीत होजाता है ।

इसप्रकार स्थान योनि तथा शरीरकी अवगाहनाके निमित्तसे जीवसमासका वर्णन करके कुलोंके द्वारा जीवसमासका वर्णन करते हैं ।

बावीस सत्त तिण्णि य सत्त य कुलकोडिसयसहस्साइं ।

णेया पुढविदगागणि वाउक्कायाण परिसंखा ॥ ११३ ॥

द्वाविंशतिः सप्त त्रीणि च सप्त च कुलकोटिशतसहस्राणि ।

ज्ञेया पृथिवीदकाग्निवायुकायकानां परिसंख्या ॥ ११३ ॥

अर्थ—पृथिवीकायके बाईस लाख कुलकोटि हैं, जलकायके सात लाख कुलकोटि हैं । अग्निकायके तीन लाख कुलकोटि हैं । और वायुकायके सात लाख कुलकोटि हैं । भावार्थ—शरीरके भेदको कारणभूत नोर्कर्मवर्गणाके भेदको कुल कहते हैं । ये कुल क्रमसं पृथिवीकायके बाईस लाख कोटि, जलकायके सात लाख कोटि, अग्निकायके तीन लाख कोटि, और वायुकायके सात लाख कोटि समझने चाहिये ।

अद्धत्तरस वारस दसयं कुलकोडिसदसहस्साइं ।

जलचरपक्षिखड्गप्य उरपरिसप्पेसु णव होंति ॥ ११४ ॥

अर्द्धत्रयोदश द्वादश दशकं कुलकोटिशतसहस्राणि ।

जलचरपक्षिचतुष्पदोरपरिसर्पेषु नव भवन्ति ॥ ११४ ॥

अर्थ—जलचरोंके कुल सादेवारह लाख कोटि, पक्षियोंके वारह लाख कोटि, पशुओंके दश लाख कोटि, छातीके सहारे चलनेवाले जीव दुमुही आदिके नव लाख कोटि कुछ हैं ।

छप्पंचाधियवीसं बारसकुलकोडिसदसहस्साहं ।

सुरणेरइयणराणं जहाकमं होंति णेयाणि ॥ ११५ ॥

षट्पञ्चाधिकविंशतिः द्वादश कुलकोटिशतसहस्राणि ।

सुरनैरयिकनराणां यथाक्रमं भवन्ति ज्ञेयानि ॥ ११५ ॥

अर्थ—देव नारकी तथा मनुष्य इनके कुल क्रमसे छवीस लाख कोटि, पचीस लाख कोटि, तथा वारह लाख कोटि हैं ।

पूर्वोक्तप्रकारसे भिन्न १ जीवोंके कुलोंकी संख्याको बताकर सबका जोड़ कितना है यह बतति हैं ।

एया य कोडिकोडी सत्ताणउदीय सदसहस्साहं ।

पण्णं कोडिसहस्सा सव्वंगीणं कुलाणंय ॥ ११६ ॥

एका च कोटिकोटी सप्तनवतिश्च शतसहस्राणि ।

पञ्चाशत्कोटिसहस्राण सर्वाङ्गिनां कुलानां च ॥ ११६ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवोंके समस्त कुलोंकी संख्या एक कोड़ाकोड़ि सतानवे लाख तथा पचास हजार कोटि है । भावार्थ—सम्पूर्ण कुलोंकी संख्या एक कोड़ि सतानवे लाख पचास हजारको एककोटिसे गुणनेपर जितना लब्ध आवे उतनी है । अर्थात् १२७९०००००००००००० प्रमाण है ।

इसप्रकार स्थान योनि देहावगाहना तथा कुलके द्वारा जीवसमास नामक दूसरे अधिकारका वर्णन किया ।

इति जीवसमासप्ररूपणो नाम द्वितीयोऽधिकारः ।

इसके अनन्तर तीसरे पर्याप्तिनामक अधिकारका प्रतिपादन करते हैं ।

जह पुण्णापुण्णाहं गिहघटवस्थादियाहं वव्वाहं ।

तह पुण्णिवरा जीवा पज्जत्तिवरा मुणेयव्वा ॥ ११७ ॥

यथा पूर्णापूर्णानि गृहघटवस्त्रादिकानि द्रव्याणि ।

तथा पूर्णतरा जीवाः पर्याप्तितरा मन्तव्याः ॥ ११७ ॥

अर्थ—जिसप्रकार घर घट वस्त्र आदिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनों प्रकारके होते हैं, उस ही प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दो प्रकारके होते हैं । जो पूर्ण हैं उनको पर्याप्त और जो अपूर्ण हैं उनको अपर्याप्त कहते हैं । भावार्थ—गृहीत आहारवर्गणाको खल-रस भागादिरूप परिणामात्मकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होजानेको पर्याप्ति कहते हैं । यह

पर्याप्ति जिनके पाई जाय उनको पर्याप्त, और जिनकी वह शक्ति पूर्ण नहीं हुई है उन जीवोंको अपर्याप्त कहते हैं । जिसप्रकार घटादिक द्रव्य वस्तु-कनेपर पूर्ण और उससे पूर्व अपूर्ण कहे जाते हैं । इसही प्रकार पर्याप्ति सहितको पर्याप्त और पर्याप्ति रहितको अपर्याप्त कहते हैं ।

पर्याप्तिके छह भेद तथा उनके स्वामियोंका नामनिर्देश करते हैं ।

आहारशरीरिन्द्रियपञ्जत्ती आणपाणभासमणो ।

चत्तारि पंच छप्पि य एइंदियवियलसण्णीणं ॥ ११८ ॥

आहारशरीरेन्द्रियाणि पर्याप्तयः आनप्राणभाषामनान्ति ।

चतस्रः पञ्च षडपि च एकेन्द्रियविकलसंज्ञिनाम् ॥ ११८ ॥

अर्थ—आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा मन इस प्रकार पर्याप्तिके छह भेद हैं । जिनमें एकेन्द्रिय जीवोंके आदिकी चार पर्याप्ति, और द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा असं-
ज्ञिपंचेन्द्रियके मनःपर्याप्तिको छोड़कर शेष पांच पर्याप्ति होती हैं । और संज्ञी जीवोंके सभी पर्याप्ति होती हैं । भावार्थ—एक शरीरको छोड़कर नवीन शरीरको करण भूत जिस नोकर्म वर्गणाको जीव ग्रहण करता है उसको खल रस भागरूप परिणमावनेकेलिये जीवकी शक्तिके पूर्ण होनानेको आहारपर्याप्ति कहते हैं । और खलभागको हड्डी आदि कठोर अवयवरूप तथा रसभागको खून आदि द्रव (नरम) अवयवरूप परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होनेके शरीरपर्याप्ति कहते हैं । तथा उस ही नोकर्मवर्गणाके स्कन्धोंमेंसे कुछ वगणाओंको अपनी २ इन्द्रियके स्थानपर उस उस द्रव्येन्द्रियके आकार परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होनानेको इन्द्रियपर्याप्ति कहते हैं । इसही प्रकार कुछ स्कन्धोंको श्वासोच्छ्वासरूप परिणमावनेको जो जीवकी शक्तिकी पूर्णता उसको श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति कहते हैं । और वचनरूप होनेके योग्य पुद्गल स्कन्धोंको (भाषावर्गणाको) वचनरूप परिणमावनेकी जीवकी शक्तिके पूर्ण होनेको भाषापर्याप्ति कहते हैं । तथा द्रव्यमनरूप होनेको योग्य पुद्गलस्कन्धोंको (मनोवर्गणाको) द्रव्य-
मनके आकार परिणमावनेकी शक्तिके पूर्ण होनेको मनःपर्याप्ति कहते हैं । इन छह पर्या-
प्तियोंमेंसे एकेन्द्रिय जीवोंके आदिकी चार पर्याप्ति ही होती हैं । और द्वीन्द्रियसे लेकर असं-
ज्ञिपंचेन्द्रिय पर्यन्त मनःपर्याप्तिको छोड़कर पांच पर्याप्ति होती हैं । और संज्ञी जीवोंके सभी पर्याप्ति होती हैं । जिन जीवोंकी पर्याप्ति पूर्ण हो जाती हैं उनको पर्याप्त, और जिनकी पूर्ण नहीं होती उनको अपर्याप्त कहते हैं । अपर्याप्त जीवोंके भी दो भेद हैं—एक निर्वृ-
त्त्यपर्याप्त दूसरा लब्ध्यपर्याप्त । जिनकी पर्याप्ति अभीतक पूर्ण नहीं हुई है; किन्तु अन्तर्मु-
हूर्तके बाद नियमसे पूर्ण होजायगी उनको निर्वृत्त्यपर्याप्त कहते हैं । और जिसकी अभीतक भी पर्याप्ति पूर्ण नहीं हुई और पूर्ण होनेसे प्रथम ही जिसका मरण भी होजायगा—अर्थात् अपनी आयुके कालमें जिसकी पर्याप्ति कभी पूर्ण न हो उसको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं ।

इन पर्याप्तियोंमेंसे प्रत्येक तथा समस्तके प्रारम्भ और पूर्ण होनेमें कितना काल लगता है यह बताते हैं ।

पञ्जत्तीपट्टवणं जुगवं तु कमेण होदि णिठवणं ।

अंतोमुहुत्तकालेणहियकमा तत्तियालावा ॥ ११९ ॥

पर्याप्तिप्रस्थापनं युगपत्तु क्रमेण भवति निष्ठापनम् ।

अन्तर्मुहूर्तकालेन अधिकक्रमास्तावदालपात् ॥ ११९ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण पर्याप्तियोंका आरम्भ तो युगपत् होता है, किन्तु उनकी पूर्णता क्रमसे होती है । इनका काल यद्यपि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका कुछ २ अधिक है; तथापि सामान्यकी अपेक्षा सबका अन्तर्मुहूर्तमात्र ही काल है । भावार्थ—एकसाथ सम्पूर्ण पर्याप्तियोंके प्रारम्भ होनेके अनन्तर अन्तर्मुहूर्त कालमें आहारपर्याप्ति पूर्ण होती है । और उससे संख्यात-भाग अधिक कालमें शरीर पर्याप्ति पूर्ण होती है । इस ही प्रकार आगे २ की पर्याप्तिके पूर्ण होनेमें पूर्व २ की अपेक्षा कुछ २ अधिक २ काल लगता है, तथापि वह अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है । क्योंकि असंख्यात समयप्रमाण अन्तर्मुहूर्तके भी असंख्यात भेद हैं; क्योंकि असंख्यातके भी असंख्यात भेद होते हैं । इस लिये सम्पूर्ण पर्याप्तियोंके समुदायका काल भी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है ।

पर्याप्त और निर्वृत्यपर्याप्तका काल बताते हैं ।

पञ्जत्तस्स य उदये णियणियपञ्जत्तिणिठ्विदो होदि

जाव सरीरमपुण्णं णिव्वात्ति अपुण्णगो ताव ॥ १२० ॥

पर्याप्तस्य च उदये निजनिजपर्याप्तिनिष्ठितो भवति ।

यावत् शरीरमपुणं निर्वृत्यपूर्णकस्तावत् ॥ १२० ॥

अर्थ—पर्याप्त नामकर्मके उदयसे जीव अपनी २ पर्याप्तियोंसे पूर्ण होता है; तथापि जबतक उसकी शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक उसको पर्याप्त नहीं कहते; किन्तु निर्वृत्यपर्याप्त कहते हैं । भावार्थ—इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास भाषा और मन इन पर्याप्तियोंके पूर्ण नहीं होनेपर भी यदि शरीरपर्याप्ति पूर्ण होगई है तो वह जीव पर्याप्त ही है; किन्तु उससे पूर्व निर्वृत्यपर्याप्तक कहा जाता है ।

लब्ध्यपर्याप्तका स्वरूप दिखाते हैं ।

उदये दु अपुण्णस्स य सगसगपञ्जत्तियं ण णिठ्वदि ।

अंतोमुहुत्तमरणं लद्धिअपञ्जत्तगो सो दु ॥ १२१ ॥

उदये तु अपूर्णस्य च स्वकस्वकपर्याप्तीर्ननिष्ठापयति ।

अन्तर्मुहूर्तमरणं लब्ध्यपर्याप्तकः स तु ॥ १२१ ॥

अर्थ—अपर्याप्त नामकर्मके उदय होनेसे जो जीव अपने २ योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्तकालमें ही मरणको प्राप्त होजाय उसको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं ।
भावार्थ—जिन जीवोंका अपर्याप्त नामकर्मके उदयसे अपने २ योग्य पर्याप्तियोंको पूर्ण न करके अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण होजाय उनको लब्ध्यपर्याप्तक कहते हैं । इस गाथामें जो तु शब्द पडा है उससे इस प्रकारके जीवोंका अन्तर्मुहूर्तमें ही मरण होता है, और दूसरे चकारसे इन जीवोंकी जघन्य और उत्कृष्ट दोनों ही प्रकारकी स्थिति अन्तर्मुहूर्तमात्रही है, ऐसा समझना चाहिये । यह अन्तर्मुहूर्त एक श्वासके अठारहवें भागप्रमाण है । इस प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तक जीव एकेन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त सबहीमें पाये जाते हैं ।

यदि एक जीव एक अन्तर्मुहूर्तमें लब्ध्यपर्याप्तक अवस्थामें ज्यादासे ज्यादा भवोंको धारण करे तो कितने करसकता है ? यह बताते हैं ।

तिणिणसया छत्तीसा छावट्टिसहस्सगाणि मरणाणि ।

अन्तोमुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२२ ॥

त्रीणि शतानि षट्त्रिंशत् षट्षष्ठिसहस्रकाणि मरणानि ।

अन्तर्मुहूर्तकाले तावन्तश्चैव क्षुद्भवाः ॥ १२२ ॥

अर्थ—एक अन्तर्मुहूर्तमें एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव छयासठ हजार तीनसौ छत्तीस मरण और इतने ही भवोंको (जन्म) भी धारण कर सकता है । **भावार्थ**—एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव यदि निरन्तर भवोंको धारण करे तो ६६३३६ जन्म और इतने ही मरणोंको धारण कर सकता है । अधिक नहीं करसकता ।

उक्त भवोंमें एकेन्द्रियादिकर्मसे किस २ के कितने २ भवोंको धारण करता है यह बताते हैं ।

सीदी सट्ठी ताळं वियले चउवीस होंति पंचकखे ।

छावट्टिं च सहस्सा सयं च वत्तीसमेयकखे ॥ १२३ ॥

अशीतिः षष्टिः चत्वारिंशद्विकले चतुर्विंशतिर्भवन्ति पंचाक्षे ।

षट्षष्ठिश्च सहस्राणि शतं च द्वात्रिंशमेकाक्षे ॥ १२३ ॥

अर्थ—विकलेन्द्रियोंमें द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ८० भव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके १०, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके ४० और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तकके २४, तथा एकेन्द्रियोंके ६६३३२ भवोंको धारण कर सकता है, अधिकको नहीं ।

एकेन्द्रियोंकी संख्याको भी स्पष्ट करते हैं ।

पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूलसुहमपत्तेया ।

एदेसु अपुण्णेसु य एक्केके बार खं छक्कं ॥ १२४ ॥

पृथ्वीदकाग्निमास्तसाधारणस्थूलसूक्ष्मप्रत्येकाः ।

एतेषु अपूर्णेषु च एकैकस्मिन् द्वादश खं षट्कम् ॥ १२४ ॥

अर्थ—स्थूल और सूक्ष्म दोनोंही प्रकारके जो पृथ्वी जल अग्नि वायु और साधारण, और प्रत्येक वनस्पति, इसप्रकार सम्पूर्ण ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे प्रत्येक (हर-एक) के ६०१२ भेद होते हैं । भावार्थ—स्थूल पृथिवी सूक्ष्म पृथिवी स्थूल जल सूक्ष्म जल स्थूल वायु सूक्ष्म वायु स्थूल अग्नि सूक्ष्म अग्नि स्थूल साधारण सूक्ष्म साधारण तथा प्रत्येक वनस्पति इन ग्यारह प्रकारके लब्ध्यपर्याप्तकोंमेंसे प्रत्येकके ६०१२ भव होते हैं । इसलिये ११ को ६०१२ से गुणा करनेपर एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंके उत्कृष्ट भवोंका प्रमाण ६६१२२ निकलता है ।

समुद्रात अवस्थामें केवलियोंके भी अपर्याप्तता कही है तो किस प्रकार हो सकती है यह बताते हैं ।

पञ्चतसरीरस्स य पञ्चतुदयस्स कायजोगस्स ।

जोगिस्स अपुण्णत्तं अपुण्णजोगोत्ति णिद्धिं ॥ १२५ ॥

पर्याप्तशरीरस्य च पर्याप्त्युदयस्य काययोगस्य ।

योगिनोऽपूर्णत्वमपूर्णयोग इति निर्दिष्टम् ॥ १२५ ॥

अर्थ—जिस सयोग केवलीका शरीर पूर्ण है, और उसके पर्याप्ति नाम कर्मका उदय भी मौजूद है, तथा काययोग भी है, उसके अपर्याप्तता किसप्रकार हो सकती है ! तो इसका कारण योगका पूर्ण न होना ही बताया है । भावार्थ—जिसके अपर्याप्त नामकर्मका उदय हो, अथवा जिसका शरीर पूर्ण न हुआ हो उसको अपर्याप्त कहते हैं । क्योंकि पहले “ जाव सरीरमपुण्णं णिवत्तिअपुण्णगो ताव ” ऐसा कह आये हैं । अर्थात् जब तक शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तककी अवस्थाको निर्वृत्त्यपर्याप्ति कहते हैं । परन्तु केवलीका शरीर भी पर्याप्त है, और उनके पर्याप्ति नामकर्मका उदय भी है, तथा काययोग भी मौजूद है, तब उसको अपर्याप्त क्यों कहा ? इसका कारण यह है कि यद्यपि उनके काययोग आदि सभी मौजूद हैं तथापि उनके कपाट, प्रतर, लोकपूर्ण तीनोंही समुद्रात अवस्थामें योग पूर्ण नहीं है, इस ही लिये उनको आगममें गौणतासे अपर्याप्त कहा है; मुख्यतासे अपर्याप्त अवस्था जहांपर पाई जाती है ऐसे प्रथम द्वितीय चतुर्थ और छट्ठा ये चार ही गुणस्थान हैं ।

किस २ गुणस्थानमें पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था पाई जाती हैं ? यह बताते हैं ।

लद्धिअपुण्णं मिच्छे तत्थवि विद्धिये चउत्थच्छे य ।

णिव्वत्तिअपज्जत्ती तत्थवि सेसेसु पज्जत्ती ॥ १२६ ॥

लब्ध्यपूर्ण मिथ्यात्वे तत्रापि द्वितीये चतुर्थषष्ठे च ।

निर्वृत्यपर्याप्तिः तत्रापि शेषेषु पर्याप्तिः ॥ १२६ ॥

अर्थ—लब्ध्यपर्याप्तक मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होते हैं । निर्वृत्यपर्याप्तक प्रथम द्वितीय चतुर्थ और छठे गुणस्थानमें होते हैं । और पर्याप्ति उक्त चारों और शेष सभी गुणस्थानोंमें पाई जाती है । भावार्थ—प्रथम गुणस्थानमें लब्ध्यपर्याप्ति निर्वृत्यपर्याप्ति पर्याप्ति तीनों अवस्था होती हैं । सासादन असंयत और प्रमत्तमें निर्वृत्यपर्याप्त पर्याप्त ये दो अवस्था होती हैं । उक्त तथा शेष सब ही गुणस्थानोंमें पर्याप्ति पाई जाती है । प्रमत्त गुणस्थानमें जो निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था कही है, वह आहारक मिश्रयोगकी अपेक्षासे है । इस गायामें जो च शब्द पड़ा है । उससे सयोगकेवली भी निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं यह बात गौणतया सूचित की है ।

सासादन और सम्यक्त्वके अभावका नियम कहां २ पर है यह बताते हैं ।

हेट्टिमच्छप्पुढवीणं जोइसिवणभवणसव्वइत्थीणं ।

पुण्णिदरे णहि सम्मो ण सासणो णारयापुण्णे ॥ १२७ ॥

अधःस्तनषट्पृथ्वीनां ज्योतिष्कवनभवनसर्वस्त्रीणाम् ।

पूर्णेतरस्मिन् न हि सम्बक्त्वं न सासनो नारकापूर्णे ॥ २७ ॥

अर्थ—द्वितीयादिक छह नरक और ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी ये तीन प्रकारके देव, तथा सम्पूर्ण स्त्रियां इनकी अपर्याप्त अवस्थामें सम्यक्त्व नहीं होता । और सासादन सम्यग्दृष्टी अपर्याप्त नारकी नहीं होता । भावार्थ—सम्यक्त्वसहित जीव मरण करके द्वितीयादिक छह नरक ज्योतिषी व्यन्तर भवनवासी देवोंमें और समग्र स्त्रियोंमें उत्पन्न नहीं होता । और सासादनसम्यग्दृष्टि मरण कर नरकको नहीं जाता ।

इति पर्याप्तिप्ररूपणो नाम तृतीयोऽधिकारः :

अब प्राणप्ररूपणा क्रमप्राप्त है उसमें प्रथम प्राणका निरुक्तिपूर्ण लक्षण कहते हैं ।

बाहिरपाणेहिं जहा तहेव अब्भंतरेहिं पाणेहिं ।

पाणांति जेहिं जीवा पाणा ते होंति णिद्धिहा ॥ १२८ ॥

बाह्यप्राणैर्यथा तथैवाभ्यन्तरैः प्राणैः ।

प्राणान्ति यैर्जीवाः प्राणास्ते भवन्ति निर्दिष्टाः ॥ १२८ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अभ्यन्तरप्राणोंके कार्यभूत नेत्रोंका खोलना, वचनप्रवृत्ति, उच्छ्वास निःश्वास आदि बाह्य प्राणोंके द्वारा जीव जीते हैं, उसही प्रकार जिन अभ्यन्तर इन्द्रिया-वरणकर्मके क्षयोपशमादिके द्वारा जीवमें जीवितपनेका व्यवहार हो उनको प्राण कहते हैं । भावार्थ—जिनके सद्भावमें जीवमें जीवितपनेका और वियोग होनेपर मरणपनेका व्यवहार

हो उनको प्राण कहते हैं । ये प्राण पूर्वोक्त पर्याप्तियोंके कार्यरूप हैं—अर्थात् प्राण और पर्याप्तमें कार्य और कारणका अन्तर है । क्योंकि गृहीत पुद्गलस्कन्ध विशेषोंको इन्द्रिय वचन आदिरूप परिणामावनेकी शक्तिकी पूर्णताको पर्याप्ति, और वचन व्यापार आदिकी कारण-भूत शक्तिको, तथा वचन आदिको प्राण कहते हैं ।

प्राणके भेदोंको गिनाते हैं ।

पंचवि इन्द्रियपाणा मणवचिकायेसु तिष्ठिण बलपाणा ।

आणापाणप्पाणा आउगपाणेण ह्येति दस पाणा ॥ १२९ ॥

पञ्चापि इन्द्रियपाणाः मनोवचःकायेषु त्रयो बलपाणाः ।

अनापानप्राणा आयुष्कप्राणेन भवन्ति दश प्राणाः ॥ १२९ ॥

अर्थ—पांच इन्द्रियप्राण—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षुः श्रोत्र । तीन बलप्राण—मनोबल वचनबल कायबल । श्वासोच्छ्वास तथा आयु इस प्रकार ये दश प्राण हैं ।

द्रव्य और भाव दोनोंही प्रकारके प्राणोंकी उत्पत्तिकी सामग्री बताते हैं ।

वीरियजुदमदिखउवसमुत्था णोइंदियेंदियेसु बला ।

देहुदये कायाणा वचीबला आउ आउदये ॥ १३० ॥

वीर्ययुतमतिक्षयोपशमोत्था नोइन्द्रियेन्द्रियेषु बलाः ।

देहोदये कायानौ वचोबल आयुः आयुदये ॥ १३० ॥

अर्थ—मनोबल प्राण और इन्द्रिय प्राण वीर्यान्तराय कर्म और मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम रूप अन्तरङ्ग कारणसे उत्पन्न होते हैं । शरीरनामकर्मके उदयसे कायबलप्राण होता है । श्वासोच्छ्वास और शरीरकर्मके उदयसे प्राण—श्वासोच्छ्वास उत्पन्न होते हैं । स्वरनाम-कर्मके साथ शरीर नामकर्मका उदय होनेपर वचनबल प्राण होता है । आयु कर्मके उदयसे आयुःप्राण होता है । भावार्थ—वीर्यान्तराय और अपने २ मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाले मनोबल और इन्द्रियप्राण, निज और पर पदार्थको ग्रहण करनेमें समर्थ लब्धिनामक भावेन्द्रिय रूप होते हैं । इस ही प्रकार अपने २ पूर्वोक्त कारणसे उत्पन्न होनेवाले कायबलआदिक प्राणोंमें शरीरकी चेष्टा उत्पन्न करनेकी सामर्थ्यरूप कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वासकी प्रवृत्तिमें कारणभूत शक्तिरूप श्वासोच्छ्वास प्राण, वचनव्यापारको कारणभूत शक्तिरूप वचोबल प्राण, नरकादि भव धारण करनेकी शक्तिरूप आयुःप्राण होता है ।

प्राणोंके स्वामियोंको बताते हैं ।

इंदियकायाऊणि य पुण्णापुण्णेसु पुण्णमे आणा ।

वीइंदियादिपुण्णे वचीमणो सण्णिपुण्णेव ॥ २३१ ॥

इन्द्रियकायार्गुणि च पूर्णापूर्णेषु पूर्णके आनः ।

द्वीन्द्रियादिपूर्णे वचः मनः संज्ञिपूर्णे एव ॥ १३१ ॥

अर्थ—इन्द्रिय काय आयु ये तीन प्राणा, पर्याप्त और अपर्याप्त दोनोंही के होते हैं । किन्तु श्वासोच्छ्वास पर्याप्तके ही होता है । और वचनबल प्राण पर्याप्त द्वीन्द्रियादिके ही होता है । तथा मनोबल प्राण संज्ञिपर्याप्तके ही होता है ।

एकेन्द्रियादि जीवोंमें किसके कितने प्राण होते हैं इसका नियम बताते हैं ।

दस सण्णिणं पाणा सेसगूणंतिमस्स वेऊणा ।

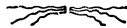
पज्जत्तेसिदरेसु य सत्त दुगे सेसगूणा ॥ १३२ ॥

दश संज्ञिनां प्राणाः शेषैकोनमन्तिमस्य व्यूनाः ।

पर्याप्तैष्वितरेषु च सप्त द्विके शेषैकोनाः ॥ १३२ ॥

अर्थ—पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रियके दश प्राण होते हैं । शेषके पर्याप्तकोंके एक २ प्राण कम होता जाता है; किन्तु एकेन्द्रियोंके दो कम होते हैं । अपर्याप्तक संज्ञि और असंज्ञि पंचेन्द्रियके सात प्राण होते हैं और शेषके अपर्याप्त जीवोंके एक २ प्राण कम होता जाता है । भावार्थ—पर्याप्त संज्ञिपंचेन्द्रियके सबही प्राण होते हैं । असंज्ञिके मनोबलप्राणको छोड़कर बाकी नव प्राण होते हैं । चतुरिन्द्रियके श्रोत्रेन्द्रियको छोड़कर आठ, और त्रीन्द्रियके चक्षुको छोड़कर बाकी सात, द्वीन्द्रियके घ्राणको छोड़कर बाकी छह, और एकेन्द्रियके रसनेन्द्रिय तथा वचनबलको छोड़कर बाकी चार प्राण होते हैं । यह सम्पूर्ण कथन पर्याप्तकी अपेक्षासे है । अपर्याप्तकमें कुछ विशेषता है । वह इस प्रकार है कि संज्ञि और असंज्ञि पंचेन्द्रियके श्वासोच्छ्वास वचोबल मनोबलको छोड़कर बाकी पांच इन्द्रिय कायबल आयुःप्राण इसप्रकार सात प्राण होते हैं । आगे एक २ कम होता गया है—अर्थात् चतुरिन्द्रियके श्रोत्रको छोड़कर बाकी ६ प्राण, त्रीन्द्रियके चक्षुः को छोड़कर ५, और द्वीन्द्रियके घ्राणको छोड़कर ४, तथा एकेन्द्रियके रसनाको छोड़कर बाकी तीन प्राण होते हैं ।

इति प्राणप्ररूपणो नाम चतुर्थोऽधिकारः ।



इह जाहि बाहियावि य जीवा पावंति दारुणं दुक्खं ।

सेवंतावि य उभये ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥ १३३ ॥

इह याभिर्बाधिता अपि च जीवाः प्राप्नुवन्ति दारुणं दुःखम् ।

सेवमाना अपि च उभयस्मिन् ताश्चतस्रः संज्ञाः ॥ १३३ ॥

अर्थ—जिनसे संक्षेपित होकर जीव इस लोकमें और जिनके विषयका सेवन करनेसे दोनों ही भवोंमें दारुण दुःखको प्राप्त होता है उनको संज्ञा कहते हैं । उसके चार भेद हैं ।

भावार्थ—संज्ञानाम वांछाका है, जिसके निमित्तसे दोनोंही भवोंमें दारुण दुःखकी प्राप्ति होती है उस वांछाको संज्ञा कहते हैं। उसके चार भेद हैं, आहारसंज्ञा भयसंज्ञा मैथुनसंज्ञा परिग्रहसंज्ञा।

आहारसंज्ञाका स्वरूप बताते हैं।

आहारद्वंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोटाए ।

सादिदरुदीरणाए हवदि हु आहारसण्णा हु ॥ १३४ ॥

आहारदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमकोष्ठया ।

सातेतरोदीरणया भवति हि आहारसंज्ञा हि ॥ १३४ ॥

अर्थ—आहारके देखनेसे अथवा उसके उपयोगसे और पेटके खाली होनेसे तथा असातावेदनीयके उदय और उदीर्णा होनेपर जीवके नियमसे आहारसंज्ञा उत्पन्न होती है। भावाथ—किसी उत्तम रसयुक्त आहारके देखनेसे अथवा पूर्वानुभूत भोजनका स्मरण करनेसे यद्वा पेटके खाली होजानेसे और असाता वेदनीयके उदय और उदीर्णासे इत्यादि और भी अनेक कारणोंसे आहारसंज्ञा अर्थात् आहारकी वांछा उत्पन्न होती है।

भयसंज्ञाके कारण और उसका स्वरूप बताते हैं।

अहभीमद्वंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमसत्तीए ।

भयकम्मुदीरणाए भयसण्णा जायदे चटुहिं ॥ १३५ ॥

अतिभीमदर्शनेन च तस्योपयोगेन अवमसत्त्वेन ।

भयकर्मोदीरणया भयसंज्ञा जायते चतुर्भिः ॥ १३५ ॥

अर्थ—अत्यन्त भयंकर पदार्थके देखनेसे, अथवा पहले देखे हुए भयंकर पदार्थके स्मरणादिसे, यद्वा शक्तिके हीन होनेपर, और अंतरंगमें भयकर्मकी उदय उदीर्णा होनेपर इत्यादि कारणोंसे भयसंज्ञा होती है।

मैथुनसंज्ञाको बताते हैं।

पणिदरसभोयणेण य तस्सुवजोगे कुशीलसेवाए ।

वेदस्सुदीरणाए मेहुणसण्णा हवदि एवं ॥ १३६ ॥

प्रणतिरसभोजनेन च तस्योपयोगे कुशीलसेवया ।

वेदस्योदीरणया मैथुनसंज्ञा भवति एवम् ॥ १३६ ॥

अर्थ—स्वादिष्ट और गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करनेसे, और पहले भुक्त विषयोंका स्मरण आदि करनेसे, तथा कुशीलका सेवन करनेसे और वेद कर्मका उदय उदीर्णा आदिसे मैथुनसंज्ञा होती है।

परिग्रह संज्ञाका वर्णन करते हैं।

उवयरणद्वंसणेण य तस्सुवजोगेण मुच्छिदाए य ।

लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥ १३७ ॥

उपकरणदर्शनेन च तस्योपयोगेन मूर्च्छिता ये च ।

लोभस्योदीरणया परिग्रहे जायते संज्ञा ॥ १३७ ॥

अर्थ—इत्र भोजन उत्तम वस्त्र स्त्री आदि भोगोपभोगके साधनभूत पदार्थोंके देखनेसे अथवा पहले भुक्त पदार्थोंका स्मरण करनेसे, और ममत्त्व परिणामोंके होनेसे, लोभकर्मका उदय उदीर्णा होनेसे, इत्यादि कारणोंमें परिग्रहसंज्ञा उत्पन्न होती है ।

किस जीवके कौनसा संज्ञा होती है यह बताते हैं ।

णष्टपमाए पढमा सण्णा णहि तत्थ कारणाभावा ।

सेसा कम्मत्थित्तेणुबयारेणत्थि णहि कज्जे ॥ १३८ ॥

नष्टप्रमादे प्रथमा संज्ञा न हि तत्र कारणाभावात् ।

शेषाः कर्मास्तित्वेनोपचारेण सन्ति न हि कार्ये ॥ १३८ ॥

अर्थ—अप्रमत्त गुणस्थानमें आहारसंज्ञा नहीं होती, क्योंकि यहांपर उसका कारण असातवेदनीय कर्मका उदय नहीं है । और शेषकी तीन संज्ञा उपचारसे वहांपर होती हैं । क्योंकि उनका कारण कर्म वहांपर मौजूद है । किन्तु उनका कार्य वहांपर नहीं होता । भावार्थ—साता असाता वेदनीय और मनुष्य आयु इन तीन प्रकृतियोंकी उदीरणा प्रमत्तविरतमें ही होती है—अगे नहीं । इसलिये सातवें गुणस्थानमें आहारसंज्ञा नहीं है । किन्तु शेष तीन संज्ञा उपचारसे होती हैं, वास्तविक नहीं । क्योंकि उनका कारणभूत कर्म वहांपर है । किन्तु भागना रतिक्रीडा परिग्रहस्वीकार आदिमें प्रवृत्तिरूप उनका कार्य नहीं है । क्योंकि वहांपर ध्यान अवस्था ही है । अन्यथा कभी भी ध्यान न हो सकेगा, और कर्मोंका क्षय तथा मुक्तिकी प्राप्ति भी नहीं होसकेगी ।

इति संज्ञाप्ररूपणो नाम पञ्चमोऽधिकारः ।

अथ मङ्गलपूर्वक क्रमप्राप्त मार्गणा महाधिकारको कहते हैं ।

धम्मगुणमग्गणाहयमोहारिबलं जिणं णमंसित्ता ।

मग्गणमहाहियारं विविह्हियारं भणिस्सामो ॥ १३९ ॥

धर्मगुणमार्गणाहतमोहारिबलं जिनं नमस्तिवा ।

मर्गणामहाधिकारं विविधाधिकारं भणिष्यामः ॥ १३९ ॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनादि अथवा उत्तमक्षमादि धर्मरूपी धनुष, और ज्ञानादि गुणरूपी प्रत्यंचा (डोरी), तथा चौदह मार्गणारूपी वाणोंसे जिसने मोहरूपी शत्रुको बलको नष्ट कर दिया है इसप्रकारके जिनेन्द्रदेवकी नमस्कार करके, मार्गणा महाधिकारका जिसमें कि और भी अनेक अधिकारोंका अन्तर्भाव होता है, वर्णन करूंगा ।

इसप्रकार मार्गानिरूपणकी प्रतिज्ञा करके प्रथम उसका (मार्गणाका) निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं ।

जाहि व जासु व जीवा मग्गिज्जंते जहा तथा दिट्ठा ।

ताओ चोदस जाणे सुयणाणे मग्गणां होंति ॥ १४० ॥

याभिर्वा यासु वा जीवा मृग्यन्ते यथा तथा दृष्टाः ।

ताश्चतुर्दश जानीहि श्रुतज्ञाने मार्गणा भवन्ति ॥ १४० ॥

अर्थ—जिसप्रकारसे प्रवचनमें देखेगये हों उसही प्रकारसे जीवादि पदार्थोंका जिन भावोंके द्वारा अथवा जिन पर्यायोंमें विचार किया जाय वे ही मार्गणा हैं, ऐसा समझना चाहिये । उनके चौदह भेद हैं ।

चौदह मार्गणाओंके नाम बताते हैं ।

गइइंदियेसु काये जोगे वेदं कसायणाणे य ।

संजमदंसणलेस्सामवियासम्मत्तसण्णिआहारे ॥ १४१ ॥

गतीन्द्रियेषु काये योगे वेदे कषायज्ञाने च ।

संयमदर्शनलेख्याभ्युत्पत्तिसंयमसंज्ञाहारे ॥ १४१ ॥

अर्थ—गति इन्द्रिय काय योग वेद कषाय ज्ञान संयम दर्शन लेख्या भव्य सम्यक्त्व संज्ञा आहार, ये चौदह मार्गणा हैं ।

अन्तरमार्गणाओंके भेद तथा उनके कालका नियम बताते हैं ।

उवसमसुहमाहारे वेगुव्वियमिस्सणरअपज्जत्ते ।

सासणसम्ममे मिस्से सांतरगा मग्गणा अट्ठ ॥ १४२ ॥

उपशमसूक्ष्माहारे वैगूर्विकमिश्रनरापर्याप्ति ।

सासनसम्यक्त्वे मिश्रे सान्तरका मार्गणा अष्ट ॥ १४२ ॥

अर्थ—उपशमसम्यक्त्व सूक्ष्मसांपराय आहारकयोग आहारकमिश्रयोग वैक्रियिकमिश्र अपर्याप्त मनुष्य सासादनसम्यक्त्व मिश्र ये अन्तर्मार्गणा हैं ।

उक्त आठ अन्तरमार्गणाओंका उत्कृष्ट और जघन्य काल बताते हैं ।

सत्तदिणा छम्मासा वासपुधत्त च बारसमुहुत्ता ।

पल्लासंखं तिण्हं वरमवरं एकसमयो दु ॥ १४३ ॥

सप्तदिनानि षण्मासा वर्षपृथक्त्वं च द्वादशमुहूर्ताः ।

पल्यासंख्यं त्रयाणां वरमवरमेकसमयस्तु ॥ १४३ ॥

अर्थ—उक्त आठ अन्तरमार्गणाओंका उत्कृष्ट काल क्रमसे सात दिन, छह महीना,

पृथक्त्व वर्ष, पृथक्त्व वर्ष, बारहमुहूर्त और अन्तकी तीन मार्गणाओंका काल पल्यके असंख्या-
तवें भाग है । और जघन्य काल सबका एक समय है । भावार्थ—उपशम सम्यक्त्वका उत्कृष्ट
काल सात दिन, सूक्ष्मसांपरायका उह महीना, आहारकयोगका पृथक्त्ववर्ष, तथा आहारक-
मिश्रका पृथक्त्ववर्ष, वैक्रियिव मिश्रका बारह मुहूर्त, अपर्याप्त मनुष्यका पल्यके असंख्यातवें
भाग, तथा सासादन सम्यक्त्व और मिश्र इन दोनोंका भी उत्कृष्ट अंतरकाल पल्यके
असंख्यातवें भाग है । और जघन्य काल सबका एक समय ही है ।

अंतरमार्गणाविशेषोंको दिखते हैं ।

पटमुवसमसहिदाए विरदाविग्रीए चोदसा दिवसा ।

विरदीए पण्णरसा विरहिदकालो दु बोधव्वो ॥ १४४ ॥

प्रथमोपशमसहिताया विरताविरतेश्चतुर्दश दिवसाः ।

विरतेः पञ्चदश विरहितकालस्तु बोद्धव्यः ॥ १४४ ॥

अर्थ—प्रथमोपशमसम्यक्त्वसहित पंचमगुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन, और
छठे सातमें गुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल पंद्रह दिन समझना चाहिये । भावार्थ—उपशम-
सम्यक्त्वके दो भेद हैं, एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व दूसरा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व । चार
अनन्तानुबन्धी तथा एक दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) के, अथवा तीनों दर्शनमोहनीय और
चार अनन्तानुबन्धी, इस प्रकार पांच या सातके उपशमसे जो हो उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व
कहते हैं । और अनन्तानुबन्धी चतुष्कका विसंयोजन और दर्शनमोहनीयत्रिकका उपशम
होनेसे जो सम्यक्त्व होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । इनमेंसे प्रथमोपशम
सम्यक्त्वसहित पंचमगुणस्थानका उत्कृष्ट विरहकाल चौदह दिन, और छठे सातवें गुणस्थानका
पंद्रह दिन है । किन्तु जघन्य विरहकाल सर्वत्र एक समय ही है ।

गतिमार्गणाका प्रारम्भ करते हुए प्रथम गतिशब्दकी निरुक्ति और उसके भेदोंको
गिनाते हैं ।

गइउदयजपज्जाया चउगइगमणस्सहेउ वा हु गई ।

णारयतिरिखमाणुसदेवगइत्तिय हवे चहुधा ॥ १४५ ॥

गत्युदयजपर्यायः चतुर्गतिगमनस्य हेतुर्वा हि गतिः ।

नारकतिर्यग्मानुषदेवगतिरिचि च भवेत् चतुर्धा ॥ १४५ ॥

अर्थ—गतिनाम कर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्यायको अथवा चारों गतियोंमें
गमन करनेके कारणको गति कहते हैं । उसके चार भेद हैं, नरकगति तिर्यग्गति मनुष्य-
गति देवगति ।

गतिमार्गणमें कुछ विशेष (चारों गतियोंका पृथक् २) वर्णन पाच गाथाओं द्वारा करते हैं ।

ण रमन्ति जदो णिच्चं दब्बे खेत्ते य कालभावे य ।

अण्णोण्णेहिं य जह्मा तह्मा ते णारया भणिया ॥ १४६ ॥

न रमन्ते यतो नित्यं द्रव्ये क्षेत्रे च कालभावे च ।

अन्योन्यैश्च यस्मात्तस्मात्ते नारता भणिताः ॥ १४६ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावमें स्वयं तथा परस्परमें प्रीतिको प्राप्त नहीं होते अतएव उनको नारत (नारकी) कहते हैं । भावार्थ—शरीर और इन्द्रियके विषयोंमें; उत्पत्ति शयन विहार उठने बैठने आदिके स्थानमें, भोजन आदिके समयमें, अथवा और भी अनेक अवस्थाओंमें जो स्वयं अथवा परस्परमें प्रीति (सुख) को प्राप्त न हों उनको नारत कहते हैं । इस गाथामें जो च शब्द पड़ा है उससे इसका दूसरा भी निरुक्तिसिद्ध अर्थ समझना चाहिये । अर्थात् जो नरकगतिनाम कर्मके उदयसे हों उनको, अथवा (नरान्) मनुष्योंको (कायन्ति) क्लेश पहुंचावें उनको नारक कहते हैं । क्योंकि नीचे सातो ही भूमियोंमें रहनेवाले नारकी निरन्तर ही स्वाभाविक शारीरिक मानसिक आगन्तुक तथा क्षेत्रजन्य इन पांच प्रकारके दुःखोंसे दुःखी रहते हैं ।

तिर्यग्गतिका स्वरूप बताते हैं ।

तिरियन्ति कुडिलभावं सुविउलसण्णा णिगिडिमण्णाणा ।

अच्चंतपाबबहुला तह्मा तेरिच्छया भणिया ॥ १४७ ॥

तिरोच्चन्ति कुटिलभावं सुविवृतसंज्ञा निरुद्धमज्ञानाः ।

अत्यन्तपापबहुलास्तस्मात्तैरश्वका भणिताः ॥ १४७ ॥

अर्थ—जो मन वचन कायकी कुटिलताको प्राप्त हों, अथवा जिनकी आहारादि विषयक संज्ञा दूसरे मनुष्योंको अच्छीतरह प्रकट हो, और जो निरुद्ध अज्ञानी हों तथा जिनमें अत्यन्त पापका बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यच कहते हैं । भावार्थ—जिनमें कुटिलताकी प्रधानता हो, क्योंकि प्रायःकरके सबही तिर्यच जो उनके मनमें होता है उसको वचनद्वारा नहीं कहते; क्योंकि उनके उसप्रकारकी वचनशक्ति ही नहीं है, और जो वचनसे कहते हैं उसको कायसे नहीं करते, तथा जिनकी आहारादिसंज्ञा प्रकट हो, और श्रुतका अभ्यास तथा शुभोपयोगादिके न करसकनेसे जिनमें अत्यन्त अज्ञानता पाई जाय । तथा मनुष्यकी तरह महाव्रतादिको धारण न करसकने और दर्शनविशुद्धि आदिके न होसकनेसे जिनमें अत्यन्त पापका बाहुल्य पाया जाय उनको तिर्यच कहते हैं ।

मनुष्यगतिका स्वरूप बताते हैं ।

मण्णन्ति जदो णिच्चं मणेण णिउणा मणुक्कडा जह्मा ।

मण्णुब्भवा य सव्वे तस्मा ते माणुसा भणिदा ॥ १४८ ॥

मन्यन्ते यतो नित्य मनसा निपुणा मनसोत्कटा यस्मात् ।

मनुद्भवाश्च सर्वे तस्मात्ते मानुषा भणिताः ॥ १४८ ॥

अर्थ—जो नित्य ही हेय उपादेय तत्त्व अतत्त्व धर्म अधर्मका विचार करें, और जो मनके द्वारा गुणदोषादिका विचार स्मरण आदि कर सकें, जो पूर्वोक्त मनके विषयमें उत्कृष्ट हों, तथा युग-ही आदिमें जो मनुओंसे उत्पन्न हुए हों उनको मनुष्य कहते हैं । भावार्थ—मनका विषय तीव्र होनेसे गुणदोषादिका विचार स्मरण आदि जिनमें उत्कट रूपसे पाया जाय, तथा चतुर्थ कालकी आदिमें आदीश्वर भगवान् तथा कुलकरोने उनको व्यवहारका उपदेश दिया इसलिये जो आदीश्वर भगवान् अथवा कुलकरोकी संतान कहे जाते हैं, उनको मनुष्य कहते हैं । इस गाथामें एक यतः शब्द है दूसरा यस्मात् शब्द है, अर्थ दोनोंका एक ही होता है, इसलिये एक शब्द व्यर्थ है; वह व्यर्थ पड़कर ज्ञापन करता है कि लब्धपर्याप्तक मनुष्योंमें यद्यपि यह लक्षण घटित नहीं होता तथापि उनको मनुष्यगति नामकर्म और मनुष्य आयुर्कर्मके उदयमात्रकी अपेक्षासे ही मनुष्य कहते हैं ऐसा समझना चाहिये ।

तिर्यच तथा मनुष्योंके भेदोंको गिनाते हैं ।

सामण्या पंचिंदी पञ्जत्ता जोणिणी अपञ्जत्ता ।

तिरिया णरा तहावि य पंचिंदियभंगदो हीणा ॥ १४९ ॥

सामान्याः पंचेन्द्रियाः पर्याप्ताः योनिमत्यः अपर्याप्ताः ।

तिर्यच्चो नरास्तथापि च पंचेन्द्रियभंगतो हीनाः ॥ १४९ ॥

अर्थ—तिर्यचोंके पांच भेद हैं, सामान्यतिर्यच पंचेन्द्रियातिर्यच पर्याप्ततिर्यच योनिमती-तिर्यच और अपर्याप्ततिर्यच । इसही प्रकार मनुष्यके भी पंचेन्द्रियके भंगको छोड़कर बाकी चार भेद होते हैं । भावार्थ—तिर्यचोंमें पंचेन्द्रियके प्रतिपक्षी एकेन्द्रियादि जीवोंकी सम्भावना है इसलिये तिर्यचोंमें पंचेन्द्रियके भंगसहित पांच भेद हैं, किन्तु मनुष्योंमें पंचेन्द्रियके प्रतिपक्षकी सम्भावना नहीं है इसलिये उनके सामान्यमनुष्य पर्याप्तमनुष्य योनिमती-मनुष्य अपर्याप्तमनुष्य इसप्रकार चार ही भेद होते हैं ।

देवोंका स्वरूप बताते हैं ।

दीव्वान्ति जदो णिच्चं गुणेहिं अट्टेहिं दिव्वभावेहिं ।

भासंतदिव्वकाया तह्मा ते वण्णिया देवा ॥ १५० ॥

दिव्यन्ति यतो नित्यं गुणैरष्टभिर्द्रव्यभावाः ।

भासमानदिव्यकायाः तस्मात्ते वर्णिता देवाः ॥ १५० ॥

अर्थ—जो देवगतिमें होनेवाले परिणामोंसे सदा सुखी रहते हैं । और अणिमा महिमा

आदि आठ गुणों (ऋद्धियों) के द्वारा सदा अप्रतिहतरूपसे विहार करते हैं । और जिनका रूप लावण्य यौवन आदि सदा प्रकाशमान रहे उनको परमागममें देव कहा है ।

इसप्रकार संसारसम्बन्धी चारों गतियोंका स्वरूप बताकर अब संसारसे विलक्षण पांचमी सिद्धगतिका स्वरूप बताते हैं ।

जाइजरामरणभया संजोगवियोगदुःखसण्णाओ ।

रोगादिगा य जिस्से ण संति सा होदि सिद्धगई ॥ १५१ ॥

जातिजरामरणभयाः संयोगवियोगदुःखसंज्ञाः ।

रोगादिकाश्च यस्यां न सन्ति सा भवति सिद्धगतिः ॥ १५१ ॥

अर्थ—पंचेन्द्रियादि जाति बुढ़ापा मरण भय अनिष्टसंयोग इष्टवियोग इनसे होनेवाला दुःख आहारादिविषयक संज्ञा (वाञ्छा) और रोगादिक जिस गतिमें नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं । भावार्थ—एकेन्द्रियादि जाति, आयुःकर्मके घटनेसे शरीरके शिथिल होनेरूप जरा, आयुःकर्मके अभावे होनेवाला प्राणत्यागरूप मरण, अनर्थकी आशंका करके अपकारक वस्तुसे भागनेकी इच्छारूप भय, क्लेशके कारणभूत अनिष्ट पदार्थ की प्राप्तिरूप संयोग, सुखके कारणभूत इष्ट पदार्थके दूर होनेरूप वियोग इत्यादि दुःख, और आहारसंज्ञा आदि तीनसंज्ञा, (क्योंकि भयसंज्ञाका पृथक् ग्रहण हो चुका है), खांसी आदि अनेक रोग, तथा आदिशब्दसे मानभंग बध बन्धन आदि दुःख जिस गतिमें अपने २ कारणभूत कर्मके अभाव होनेसे नहीं पाये जाते उसको सिद्धगति कहते हैं ।

गतिमार्गणाम् जीवसंख्याका वर्णन करनेकी इच्छासे प्रथम नरकगतिमें जीवसंख्याका वर्णन करते हैं ।

सामण्णा णेरइया घणअंगुलबिदियमूलगुणसेढी ।

बिदियादि बारदसअडछत्तिदुणिजपदहिदा सेढी ॥ १५२ ॥

सामान्या नैरयिका घनाङ्गुलद्वितीयमूलगुणश्रेणी ।

द्वितीयादिः द्वादशदशाष्टषट्त्रिद्विनिनपदहिता श्रेणी ॥ १५२ ॥

अर्थ—सामान्यसे सम्पूर्ण नारकियोंका प्रमाण घनाङ्गुलके दूसरे वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है । द्वितीयादि पृथिवियोंमें होनेवाले नारकियोंका प्रमाण क्रमसे अपने बारहमे दशमे आठमे छठे तीसरे दूसरे वर्गमूलसे भक्त जगच्छ्रेणीप्रमाण समझना चाहिये । भावार्थ—घनाङ्गुलके दूसरे वर्गमूलका जगच्छ्रेणीके साथ गुणा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उतने ही सातो पृथिवियोंके नारकी हैं । इसमेंसे द्वितीयादिक पृथिवियोंके नारकियोंका प्रमाण बतानेके लिये कहते हैं कि अपने अर्थात् जगच्छ्रेणीका जितना प्रमाण है

उसके बारहमे वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें ही भागदेनेसे जो लब्ध आवे उतने ही दूसरी पृथिवीके नारकी हैं । इस ही प्रकार दशमे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने तीसरी पृथिवीके, और आठमे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने चौथी पृथिवीके, तथा छठे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने पांचमी पृथिवीके, और तीसरे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने छठी पृथिवीके, तथा दूसरे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने सातमी पृथिवीके नारकी होते हैं । यह उत्कृष्ट संख्याका प्रमाण है—अर्थात् एक समयमें जादेसे जादेसे इतने नारकी हो सकते हैं ।

इसतरह नीचेकी छह पृथिवियोंके नारकियोंका प्रमाण बताकर अब प्रथम पृथिवीके नारकियोंका प्रमाण बताते हैं ।

हेष्टिमच्छपुढवीणं रासिविहीणो दुःसव्वरासी दुः ।

पढमावणिह्मि रासी णेरइयाणं तु णिहिद्वो ॥ १५३ ॥

अवस्तनषट्पृथ्वीनां राशिविहीनस्तु सर्वराशिस्तु ।

प्रथमावनौ राशिः नैरयिकाणां तु निर्दिष्टः ॥ १५३ ॥

अर्थ—नीचेकी छह पृथिवियोंके नारकियोंका जितना प्रमाण हो उसको सम्पूर्ण नारक-राशिमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतना ही प्रथम पृथ्वीके नारकियोंका प्रमाण है ।

तिर्यग्जीवोंकी संख्या बताते हैं ।

संसारी पंचक्खा तप्पुण्णा तिगदिहीणया कमसो ।

सामण्णा पंचिदी पंचिंदियपुण्णतेरिक्खा ॥ १५४ ॥

संसारिणः पञ्चाक्षास्तत्पूर्णाः त्रिगतिहीनकाः कमशः ।

सामान्याः पञ्चेन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियपूर्णतैश्चाः ॥ १५४ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण जीवराशिमेंसे सिद्धराशिको घटानेपर जितना प्रमाण रहे उतना ही संसारराशिका प्रमाण है । संसारराशिमेंसे नारक मनुष्य देव इन तीन राशियोंको घटानेपर जो शेष रहे उतना ही सामान्य तिर्यचोंका प्रमाण है । सम्पूर्ण पंचेन्द्रियोंमेंसे उक्त तीन गतिके पंचेन्द्रियोंको घटानेपर जो शेष रहें उतने पंचेन्द्रिय तिर्यच हैं । तथा पंचेन्द्रिय पर्याप्तियोंके प्रमाणमेंसे उक्त तीन गतिके पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहें उतने ही पर्याप्त तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव हैं ।

छस्सयजोयणकदिहिदजगपदरं जोणिणीण परिमाणं ।

पुण्णूणा पंचक्खा तिरियअपज्जत्तपरिसंखा ॥ १५५ ॥

षट्शतयोजनकृतिहितजगत्प्रतरं योनिमतीनां परिमाणम् ;

पूर्वोनाः पंचाक्षाः तिर्यगपर्याप्तपरिसंख्या ॥ १५५ ॥

अर्थ—ब्रह्मसौ योजनके वर्गाका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही योनिमती तिर्यचोंका प्रमाण है । और पंचेन्द्रिय तिर्यचोंमेंसे पर्याप्त तिर्यचोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतना अपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यचोंका प्रमाण है ।

मनुष्योंका प्रमाण बतानेके लिये तीन गाथाओंको कहते हैं ।

सेढीसूईअंगुलआदिमतद्विपदभाजिदेगुणा ।

सामण्णमणुसरासी पंचमकदिधणसमा पुण्णा ॥ १५६ ॥

श्रेणी सूच्यङ्गुलादिमतृतीयपदभाजितैकोना ।

सामान्यमनुष्यराशिः पञ्चमकृतिघनसमाः पूर्णाः ॥ १५६ ॥

अर्थ—सूच्यंगुलके प्रथम और तृतीय वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें भाग देनेसे जो शेष रहे उसमें एक और घटानेपर जो शेष रहे उतना सामान्य मनुष्य राशिका प्रमाण है । इसमेंसे द्विरूपवर्गधारोंमें उत्पन्न पांचमे वर्ग (वादाल) के घनप्रमाण पर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है ।

पर्याप्त मनुष्योंकी संख्याको स्पष्टरूपसे बताते हैं ।

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेरू ।

तटहरिखट्वासा होंति हु माणुसपज्जत्तसंखंका ॥ १५७ ॥

तललीनमधुगविमलंधूमसिलागाविचोरभयमेरू ।

तटहरिखट्वासा भवन्ति हि मानुषपर्याप्तसंख्याङ्काः ॥ १५७ ॥

अर्थ—तकारसे लेकर सकारपर्यन्त जितने अक्षर इसगाथामें बताये हैं, उतने ही अङ्कप्रमाण पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या है । भावार्थ—इस गाथामें तकारादि अक्षरोंसे अङ्कोंका ग्रहण करना चाहिये, परन्तु किस अक्षरसे किस अङ्कका ग्रहण करना चाहिये इसके लिये “ कटपयपुरस्थवर्णैर्नवनवपंचाष्टकल्पितैः क्रमशः । स्वरजनशून्यं संख्यामात्रोपरिमाक्षरं त्याज्यम्, यह गाथा उपयोगी है । अर्थात् कसे लेकर आगेके झ तकके नव अक्षरोंसे क्रमसे एक दो आदि नव अङ्क समझने चाहिये । इस ही प्रकार ठसे लेकर नव अक्षरोंसे नव अङ्क, और पसे लेकर पांच अक्षरोंसे पांच अङ्क, तथा यसे लेकर आठ अक्षरोंसे आठ अङ्क, एवं सोलह स्वर और ज न इनसे शून्य (०) समझना चाहिये । किन्तु मात्रा और उपरका अक्षर, इससे कोई भी अङ्क ग्रहण नहीं करना चाहिये । इस नियमके और “ अङ्कोंकी विपरीत गति होती है ” इस नियमके अनुसार इस गाथामें कहे हुए अक्षरोंसे पर्याप्त मनुष्योंकी संख्या ७२२२८१६२५१४२६४३३७५९३५४३९५०३३६ निकलती है

मानुषी तथा अपर्याप्त मनुष्योंकी संख्या बताते हैं ।

पञ्चतमणुस्साणं तिचउत्थो माणुसीण परिमाणं ।

सामगणा पुण्णूणा मणुवअपज्जत्तगा होंति ॥ १५८ ॥

पर्याप्तमनुष्याणां त्रिचतुर्थो मानुषीणां परिमाणम् ।

सामान्याः पूर्णोना मानवा अपर्याप्तका भवन्ति ॥ १५८ ॥

अर्थ—पर्याप्त मनुष्योंका जितना प्रमाण है उसमें तीन चौथाई ($\frac{3}{4}$) मानुषियोंका प्रमाण है । सामान्य मनुष्यराशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घाटनेपर जो शेष रहे उतना ही अपर्याप्त मनुष्योंका प्रमाण है ।

इसप्रकार चारों ही प्रकारके मनुष्योंकी संख्या बताकर अब देवगतिके जीवोंकी संख्या बताते हैं ।

तिण्णिसयजोयणाणं बेसदछप्पण्ण अंगुलाणं च ।

कदिहिदपदरं वेंतरजोइसियाणं च परिमाणं ॥ १५९ ॥

त्रिशतयोजनानां द्विशतषट्पञ्चाशदङ्गुलानां च ।

कृतिहितप्रतरं व्यन्तरज्योतिष्काणां च परिमाणम् ॥ १५९ ॥

अर्थ—तीनसौ योजनके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना व्यन्त-
रदेवोंका प्रमाण है । और २५९ प्रमाणाङ्गुलोंके वर्गका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे
उतना ज्योतिषियोंका प्रमाण है ।

घणअङ्गुलपढमपदं तदियपदं सेहिसंगुणं कमसो ।

भवणे सोहम्मदुगे देवाणं होवि परिमाणं ॥ १६० ॥

घनाङ्गुलप्रथमपदं तृतीयपदं श्रेणिसंगुणं कमशः ।

भवने सौधर्मद्विके देवानां भवति परिमाणम् ॥ १६० ॥

अर्थ—जगच्छ्रेणीके साथ घनाङ्गुलके प्रथम वर्गमूलका गुणा करनेसे भवनवासी, और
तृतीय वर्गमूलका गुणा करनेसे सौधर्मद्विकके देवोंका प्रमाण निकलता है ।

तत्तो एगारणवसगपणचउणियमूलमाजिदा सेढी ।

पल्लासंखेज्जदिमा पत्तेयं आणदादिसुरा ॥ १६१ ॥

तत् एकादशनवसप्तपञ्चचतुर्निजमूलभाजिता श्रेणी ।

पल्यासंख्यातकाः प्रत्येकमानितादिसुराः ॥ १६१ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर अपने (जगच्छ्रेणी) ग्यारहमें नवमे सातमे पाचमे चौथे वर्ग-
मूलसे भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण देवोंका प्रमाण है । आनतादिकमें प्रत्येक कल्पके देवोंका

प्रमाण पल्यके असंख्यातमें भाग प्रमाण है। भावार्थ—ऐशान स्वर्गसे आगे सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके देवोंका प्रमाण जगच्छ्रेणीमें जगच्छ्रेणीके ग्यारहमे वर्गमूलका भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतना ही है। इसही प्रकार जगच्छ्रेणीके नवमे वर्गमूलका जगच्छ्रेणीमें भाग देनेपर जो लब्ध आने उतना ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्गके देवोंका प्रमाण है, और सातमे वर्गमूल (जगच्छ्रेणीका) का जगच्छ्रेणीमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना लान्तव कापिष्ठ स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। पांचमें वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना शुक्र महाशुक्र स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। चौथे वर्गमूलका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सतार सहस्रार स्वर्गके देवोंका प्रमाण है। आनत प्राणत आरण अच्युत नव त्रैवेयक नव अनुदिश विजय वैजयंत जयंत अपराजित इन छत्वीस कल्पोंमें देवोंका प्रमाण पल्यके असंख्यातमें भाग है।

सर्वार्थसिद्धिके देवोंका तथा सामान्यदेवराशिका प्रमाण बताते हैं।

तिगुणा सत्तगुणा वा सव्वट्ठा माणुसीपमाणादो ।

सामण्यदेवरासी जोइसियादो विससहिया ॥ १६२ ॥

त्रिगुणा सत्तगुणा वा सर्वार्थ मानुषीप्रमाणतः ।

सामान्यदेवराशिः ज्योतिष्कतो विशेषाधिकः ॥ १६२ ॥

अर्थ—मनुष्यस्त्रियोंका जितना प्रमाण है उससे तिगुना अथवा सत्तगुना सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण है। ज्योतिष्क देवोंका जितना प्रमाण है उससे कुछ अधिक सम्पूर्ण देवराशिका प्रमाण है। भावार्थ—मानुषियोंसे तिगुना और सत्तगुना इसतरह दो प्रकारसे जो सर्वार्थसिद्धिके देवोंका प्रमाण बताया है वह दो आचार्योंके मतकी अपेक्षासे है। सम्पूर्ण देवोंमें ज्योतिषियोंका प्रमाण बहुत अधिक है, शेष तीन जातिके देवोंका प्रमाण बहुत अल्प है इसलिये ऐसा कहा है कि सामान्यदेवराशि ज्योतिषियोंसे कुछ अधिक है।

॥ इति गतिमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त इन्द्रियमार्गणामे इन्द्रियोंका विषय स्वरूप भेद आदिका वर्णन करनेसे प्रथम उसका निरुक्तिपूर्वक अर्थ बताते हैं।

अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहंति मण्णंता ।

ईसंति एकमेकं इंदा इव इंदिये जाण ॥ १६३ ॥

अहमिन्द्रा यथा देवा अविशेषमहमहमिति मन्यमानाः ।

ईशते एकैकमिन्द्रा इव इन्द्रियाणि जानीहि ॥ १६३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अहमिन्द्र देवोंमें दूसरेकी अपेक्षा न रखकर प्रत्येक अपने २ को स्वामी मानते हैं, उसही प्रकार इन्द्रियां भी हैं। भावार्थ—इन्द्रके समान जो हो उसको इन्द्रिय कहते हैं। इसलिये जिस प्रकार नव त्रैवेयकादिवासी देव अपने २ विषयोंमें

दूसरेकी अपेक्षा न रखनेसे अर्थात् स्वतन्त्र होनेसे अपने २ को इन्द्र मानते हैं । उस ही प्रकार स्पर्शनादिक इन्द्रियां भी अपने २ स्पर्शादिक विषयोंमें दूसरेकी (रसना आदिका) अपेक्षा न रखकर स्वतन्त्र हैं । अतएव इनको इन्द्रके (अहमिन्द्रके) समान होनेसे इन्द्रिय कहते हैं ।

इन्द्रियके सक्षेपसे भेद और उनका स्वरूप बतते हैं ।

मदिआवरणखओबसमुत्थविसुद्धी हु तज्जबोहो वा ।

भाविंदियं तु दग्धं देहुदयजदेहचिहं तु ॥ १६४ ॥

मत्थावरणक्षयोपशमोत्थविशुद्धिर्हि तज्जबोधो वा ।

भावेन्द्रियं तु द्रव्यं देहोदयजदेहचिह्नं तु ॥ १६४ ॥

अर्थ—इन्द्रियके दो भेद हैं एक भावेन्द्रिय दूसरा द्रव्येन्द्रिय । मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाली विशुद्धि, अथवा उस विशुद्धिसे उत्पन्न होनेवाले उपयोगात्मक ज्ञानको भावेन्द्रिय कहते हैं । और शरीरनामकर्मके उदयसे होनेवाले शरीरके चिह्नविशेषको द्रव्येन्द्रिय कहते हैं ।

इन्द्रियकी अपेक्षासे जीवोंके भेद कहते हैं ।

पासरसगंधरूवे सदे णाणं च चिण्हयं जेसिं ।

इगिबित्तिचदुपंचिंदियजीवा णियभेयभिण्णाओ ॥ १६५ ॥

स्पर्शरसगंधरूपे शब्दे ज्ञानं च चिह्नकं येषाम् ।

एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियजीवा निजभेदभिन्नाः ॥ १६५ ॥

अर्थ—जिन जीवोंके बाह्य चिह्न (द्रव्येन्द्रिय) और उसके द्वारा होनेवाला स्पर्श रस गंध रूप शब्द इन विषयोंका ज्ञान हो उनको कमसे एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं । और इनके भी अनेक अवान्तर भेद हैं । भावार्थ—जिन जीवोंके स्पर्शविषयक ज्ञान और उसका अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रिय मौजूद हो उनको एकेन्द्रिय जीव कहते हैं । इस ही प्रकार अपने २ अवलम्बनरूप द्रव्येन्द्रियके साथ १ जिन जीवोंके रसविषयक ज्ञान हो उनको द्वीन्द्रिय, और गंधविषयक ज्ञानवालोंको त्रीन्द्रिय, तथा रूपविषयक ज्ञानवालोंको चतुरिन्द्रिय, और शब्दविषयक ज्ञानवालोंको पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं । इन एकेन्द्रियादि जीवोंके भी अनेक अवान्तर भेद हैं । तथा आगे २ की इन्द्रियवालोंके पूर्व २ की इन्द्रिय अवश्य होती है । जैसे रसनेन्द्रियवालोंको स्पर्शनेन्द्रिय अवश्य होगी और घ्राणेन्द्रियवालोंके स्पर्शन और रसना अवश्य होगी । इत्यादि पंचेन्द्रिय पर्यन्त ऐसा ही समझना ।

इसप्रकार एकेन्द्रियादि जीवोंके इन्द्रियोंके विषयकी वृद्धिका क्रम बताकर अब इन्द्रिय-वृद्धिका क्रम बताते हैं ।

एहांदियस्स फुसणं एक्कं बि य होदि सेसजीवाणं ।

होति कमउद्धियाइं जिम्भाघाणच्छिसोत्ताइं ॥ १६६ ॥

एकेन्द्रियस्य स्पर्शनमेकमपि च भवति शेषजीवानाम् ।

भवन्ति क्रमवर्द्धितानि जिह्वाघ्राणाक्षिश्रोत्राणि ॥ १६६ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवके एक स्पर्शनेन्द्रिय ही होती है । शेष जीवोंके क्रमसे जिह्वा घ्राण चक्षु और श्रोत्र वढ़ जाते हैं । **भावार्थ—**एकेन्द्रिय जीवके केवल स्पर्शनेन्द्रिय, द्वीन्द्रियके स्पर्शन रसना (जिह्वा), त्रीन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण (नासिका) चतुरिन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु, और पंचेन्द्रियके स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु श्रोत्र होते हैं ।

स्पर्शनादिक इन्द्रियां कितनी दूर तक रक्खे हुए अपने विषयका ज्ञान कर सकती हैं यह बतानेके लिये तीन गाथाओंमें इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताते हैं ।

धनुषीसडदसयकदी जोयणछादालहीणतिसहस्सा ।

अट्टसहस्स धणूणं विसया दुगुणा असण्णित्ति ॥ १६७ ॥

धनुर्विशत्यष्टदशककृतिः योजनषट्चत्वारिंशद्धीनत्रिसहस्राणि ।

अष्टसहस्रं धनुषां विषया द्विगुणा असंज्ञीति ॥ १६७ ॥

अर्थ—स्पर्शन रसना घ्राण इनका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र क्रमसे चारसौ धनुष चौसठ धनुष सौ धनुष प्रमाण है । चक्षुका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र दो हजार नवसौ चौअन योजन है । और श्रोत्रेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र आठ हजार धनुष प्रमाण है । और आगे असंज्ञिपर्यन्त दूना दूना विषय बढ़ता गया है । **भावार्थ—**एकेन्द्रियके स्पर्शनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र चारसौ धनुष है । और द्वीन्द्रियादिके वह दूना २ होता गया है । अर्थात् द्वीन्द्रियके आठसौ त्रीन्द्रियके सोलहसौ चतुरिन्द्रियके बत्तीससौ असंज्ञिपंचेन्द्रियके चौसठसौ धनुष स्पर्शनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषय क्षेत्र है । द्वीन्द्रियके रसनेन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र चौसठ धनुष है और वह भी त्रीन्द्रियादिकके स्पर्शनेन्द्रियके विषयक्षेत्रकी तरह दूना २ होता गया है । इस ही प्रकार घ्राण चक्षु और श्रोत्रका विषयक्षेत्र भी समझना ।

संज्ञी जीवकी इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताते हैं ।

सण्णित्तस वार सोदे तिण्हं णव जोयणाणि चक्खुस्स ।

सत्तेतालसहस्सा बेसदत्तेसट्ठिमदिरेया ॥ १६८ ॥

संज्ञिनो द्वादश श्रोत्रे त्रयाणां नव योजनानि चक्षुषः ।

सप्तचत्वारिंशत्सहस्राणि द्विशतत्रिषष्ठ्यतिरेकाणि ॥ १६८ ॥

अर्थ—संज्ञी जीवके स्पर्शन रसन घ्राण इन तीनमें प्रत्येकका विषय क्षेत्र नव २ योजन है । और श्रोत्रेन्द्रियका बारह योजन, तथा चक्षुका सेंतालीस हजार दोसौ त्रेसठसे कुछ अधिक उत्कृष्ट विषयक्षेत्र है ।

चक्षुके उत्कृष्ट विषयक्षेत्रकी उपपत्तिको बताते हैं ।

तिणिणसयसष्टिविरहिदलक्षं दसमूलताडिदे मूलम् ।

णवगुणिदे सट्टिहिदे चक्षुप्फासस्स अट्ठाणं ॥ १६९ ॥

त्रिशतषष्टिविरहितलक्षं दशमूलताडिते मूलम् ।

नवगुणिते पाँष्ठहिते चक्षुःस्पर्शस्य अष्टा ॥ १६९ ॥

अर्थ—तीनसौ साठ कम एक लाख योजन जम्बूद्वीपके विष्कम्भका वर्ग करना और उसका दशगुणा करके वर्गमूल निकालना, इससे जो राशि उत्पन्न हो उसमें नवका गुणा और साठका भाग देनेसे चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र निकलता है । भावार्थ—सूर्यका चारक्षेत्र पांचसौ बारह योजन चौड़ा है । उसमें तीनसौ बत्तीस योजन तो लवणसमुद्रमें हैं और शेष एकसौ अस्सी योजन जम्बूद्वीपमें हैं । इस लिये जम्बूद्वीपके दोनों भागके तीनसौ साठ योजन क्षेत्रको छोड़कर बाकी निन्यानवे हजार छहसौ चालीस योजन प्रमाण जम्बूद्वीपके विष्कम्भकी परिधि करणसूत्रके अनुसार तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी योजन होती है । इस अभ्यन्तर परिधिको एक सूर्य अपने भ्रमणके द्वारा साठ मुहूर्तमें समाप्त करता है । और निषधगिरिके एक भागसे दूसरे भाग तककी अभ्यन्तर वीथीको अठारह मुहूर्तमें अपने भ्रमण द्वारा समाप्त करता है । इसके विलकुल बीचमें अयोध्या नगरी पड़ती है । इस अयोध्या नगरीके बीचमें बने हुए अपने महलके ऊपरले भागपरसे भरतादि चक्रवर्ती निषधगिरिके ऊपर अभ्यन्तर वीथीमें उदय होते हुए सूर्यके भीतरकी जिन प्रतिबिम्बका दर्शन करते हैं । और निषधगिरिके उस उदयस्थानसे अयोध्या पर्यन्त उत्तरी-तिके अनुसार सूर्यको भ्रमण करनेमें नव मुहूर्त लगते हैं । इसलिये साठ मुहूर्तमें इतने क्षेत्रपर भ्रमण करै तो नव मुहूर्तमें कितने क्षेत्रपर भ्रमण करै ? इसप्रकार त्रैराशिक करनेसे अर्थात् फलराशि (परिधिका प्रमाण) और इच्छाराशिका (नव) गुणा कर उसमें प्रमाणराशि साठका भागदेनेसे चक्षुरिन्द्रियका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र सेंतालीस हजार दोसौ त्रेसठसे कुछ अधिक निकलता है । अर्थात् ज्यादासे ज्यादा इतनी दूर तकका पदार्थ चक्षुकेद्वारा जाना जा सकता है ।

१ “ विष्कम्भवर्गदशगुणकरिणी वदस्स परिहो होदि ” अर्थात् विष्कम्भका जितना प्रमाण है उसका वर्गकर दशगुणा करना पीछे उसका वर्गमूल निकालना ऐसा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतना ही वृत्तक्षेत्रकी परिधिका प्रमाण होता है । २ तीन लाख पन्द्रह हजार नवासी योजन । ३ सातयोजनके बीच भोगेभिध एक भाग ।

इन्द्रियोंका विषयक्षेत्र बताकर अब उनका आकार बताते हैं ।

चक्षुः सोढं घाणं जिह्मायारं मसूरजवणाली ।

अतिमुक्तखुरप्पसमं फासं तु अण्यसंठाणं ॥ १७० ॥

चक्षुःश्रोत्रघ्राणजिह्वाकारं मसूरयवनाख्य—

तिमुक्तखुरप्रसमं स्पर्शनं तु अनेकसंस्थानम् ॥ १७० ॥

अर्थ—मसूरके समान चक्षुका जवकी नलीके समान श्रोत्रका तिलके फूलके समान घ्राणका तथा खुरपाके समान जिह्वाका आकार है । और स्पर्शनेन्द्रियके अनेक आकार हैं । इन्द्रियोंके (द्रव्येन्द्रियोंके) आकारमें जो आत्माके प्रदेश हैं उनका अवगाहन प्रमाण बताते हैं ।

अंगुलअसंखभागं संखेज्जगुणं तदो विसेसहिय ।

तत्तो असंखगुणिदं अंगुलसंखेज्जयं तत्तु ॥ १७१ ॥

अङ्गुलासंख्यभागं संख्यातगुणं ततो विशेषाधिकम् ।

ततोऽसंख्यगुणितमङ्गुलसंख्यातं तत्तु ॥ १७१ ॥

अर्थ—आत्मप्रदेशोंकी अपेक्षा चक्षुरिन्द्रियका अवगाहन घनाङ्गुलके असंख्यातमे भाग-प्रमाण है । और इससे संख्यातगुणा श्रोत्रेन्द्रियका अवगाहन है । श्रोत्रेन्द्रियका जितना प्रमाण है उससे पर्य्यके असंख्यातमे भाग अधिक घ्राणेन्द्रियका अवगाहन है । घ्राणेन्द्रियके अवगाहसे पर्य्यके असंख्यातमे भाग गुणा रसनेन्द्रियका अवगाहन है । परन्तु सामान्यकी अपेक्षा गुणाकार और भागहारका अपवर्तन करनेसे उक्त चारों ही इन्द्रियोंका अवगाहन प्रमाण घनाङ्गुलके संख्यातमे भागमात्र है ।

स्पर्शनेन्द्रियके प्रदेशोंका अवगाहनप्रमाण बताते हैं ।

सुहमणिगोदपज्जत्तयस्स जावस्स तदियसमयस्मि ।

अङ्गुलअसंखभागं जहण्णमुक्कस्सयं मच्छे ॥ १७२ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।

अङ्गुलासंख्यभागं जघन्यमुत्कृष्टकं मत्स्ये ॥ १७२ ॥

अर्थ—स्पर्शनेन्द्रियकी जघन्य अवगाहना घनाङ्गुलके असंख्यातमे भाग प्रमाण है । और यह अवगाहना सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकके उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें होती है । उत्कृष्ट अवगाहना महामत्स्यके होती है, इसका प्रमाण संख्यातघनाङ्गुल है ।

१ द्रव्येन्द्रियके दो भेद हैं, निश्चित और उपकरण । निश्चितके भी दो भेद हैं, बाह्य तथा आभ्यन्तर । यद्वापर आभ्यन्तर निश्चितरूप द्रव्येन्द्रियका प्रमाण बताते हैं ।

इस प्रकार इन्द्रियज्ञानवाले संसारी जीवोंका वर्णन करके अतीन्द्रियज्ञानवालोंका निरूपण करते हैं ।

णबि इंदियकरणजुदा अवग्गहादीहिं गाहया अत्थे ।

णेव य इंदियसोक्खा अणिंदियाणंतणानुसुहा ॥ १७३ ॥

नापि इन्द्रियकरणयुता अवग्रहादिभिः ग्राहका अर्थे ।

नैव च इन्द्रियसौख्या अनिन्द्रियानन्तज्ञानसुखाः ॥ १७३ ॥

अर्थ—वे मुक्त जीव इन्द्रियोंकी क्रियासे युक्त नहीं हैं । तथा अवग्रहादिक क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा पदार्थका ग्रहण नहीं करते । और इन्द्रियजन्य सुखसे भी युक्त नहीं हैं; क्योंकि उन मुक्त जीवोंका अनन्तज्ञान और अनन्तसुख अनिन्द्रिय है । भावार्थ—मुक्त जीवोंका अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख अपनी प्रवृत्तिमें इन्द्रियव्यापारकी अपेक्षा नहीं रखता; क्योंकि वह निरावरण है जो सावरण होता है उसको दूसरेकी अपेक्षा होती है । और जो स्वयं अपने कार्यके करनेमें समर्थ है उसको दूसरेकी अपेक्षा नहीं होती । इस ही लिये वे मुक्त जीव इन्द्रियव्यापारसे रहित हैं । और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको अनन्तज्ञान के द्वारा प्रत्यक्ष जानते हैं, अवग्रह ईहा अवाय धारणा स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान आदि क्षायोपशमिक ज्ञानके द्वारा नहीं जानते । और उनके इन्द्रियजन्य सुख भी नहीं है । क्योंकि उसके कारणभूत प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा अभाव होचुका है ।

संक्षेपसे एकेन्द्रियादि जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

स्थावरसंखपिपीलियभ्रमरमणुस्सादिगा सभेदा जे ।

जुगवारमसंखेज्जाणंतणंता णिगोदभवा ॥ १७४ ॥

स्थावरशङ्खपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादिकाः सभेदा ये ।

युगवारमसंख्येया अनन्तानन्ता निगोदभवाः ॥ १७४ ॥

अर्थ—स्थावर एकेन्द्रिय जीव, शङ्ख आदिक द्वीन्द्रिय, चींटी आदि त्रीन्द्रिय, भ्रमर आदि चतुरिन्द्रिय, मनुष्यादिक पंचेन्द्रिय जीव अपने २ अन्तर्भेदोंसे युक्त असंख्यातासंख्यात हैं । और निगोदिया जीव अनन्तानन्त हैं । भावार्थ—त्रस प्रत्येक वनस्पति पृथिवी जल अग्नि वायु इनको छोड़कर बाकी संसारी जीवोंका (साधारण जीवोंका) प्रमाण अनन्तानन्त है । और साधारणको छोड़कर बाकी एकेन्द्रिय स्थावर तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय इनमें प्रत्येकका प्रमाण जगत्प्रतरके असंख्यातमे भागमात्र असंख्यातासंख्यात है ।

तसह्वीणो संसारी एयक्खा ताण संखगा भागा ।

पुण्णणं परिमाणं संखेज्जदिमं अपुण्णणं ॥ १७५ ॥

त्रसहीनाः संसारिण एकाक्षास्तेषां संख्यका भागाः ।

पूर्णानां परिमाणं संख्येयकमपूर्णानाम् ॥ १७५ ॥

अर्थ—संसारराशिमेंसे त्रसराशिको घटानेपर जितना शेष रहे उतने ही एकेन्द्रिय जीव हैं । और एकेन्द्रियजीवोंकी राशिमें संख्यातका भाग देना उसमें एक भागप्रमाण अपर्याप्तक और शेष बहुभागप्रमाण पर्याप्तक जीव हैं ।

बादरसुहमा तेषिं पुण्णापुण्णेत्ति छव्विहाणांपि ।

तत्कायमग्गणाये भणिज्जमाणकमो णेयो ॥ १७६ ॥

बादरसूक्ष्मास्तेषां पूर्णापूर्ण इति षड्विधानामपि ।

तत्कायमार्गणायां भणिष्यमाणकमो ज्ञेयः ॥ १७६ ॥

अर्थ—एकेन्द्रियजीवोंके सामान्यसे दो भेद हैं बादर और सूक्ष्म । इसमें भी प्रत्येकके पर्याप्तक और अपर्याप्तकके भेदसे दो २ भेद हैं । इस प्रकार एकेन्द्रियोंकी छह राशियोंकी संख्याका क्रम कायमार्गणामें कहेंगे वहासे ही समझलेना । भावार्थ—एकेन्द्रिय जीवोंकी छह राशियोंका प्रमाण कायमार्गणामें विशेषरूपसे कहेंगे ।

इस प्रकार एकेन्द्रिय जीवोंकी संख्याको सामान्यसे बताकर अब त्रसजीवोंकी संख्याको तीन गाथाओंमें बताते हैं ।

बित्तिचपमाणमसंखेणवहिदपदरंगुलेण हिदपदरं ।

हीणकमं पडिमागो आवलियासंखभागो दु ॥ १७७ ॥

द्वित्रिचतुःपञ्चमानमसंख्येनावहितप्रतराङ्गुलेन हितप्रतरम् ।

हीनकर्म प्रतिभाग आवलिकासंख्यभागस्तु ॥ १७७ ॥

अर्थ—प्रतराङ्गुलके असंख्यातमें भागका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सामान्यसे त्रसराशिका प्रमाण है । परन्तु पूर्व २ द्वीन्द्रियादिककी अपेक्षा उत्तरोत्तर त्रीन्द्रियादिकका प्रमाण क्रमसे हीन २ है । और इसका प्रतिभागहार आवलिका असंख्यातमा भाग है ।

इस उक्त त्रसराशिके प्रमाणको स्पष्टरूपसे विभक्त करते हैं ।

बहुभागे समभागो चउण्णमेदेसिमेक्कभागद्वि ।

उत्तकमो तत्थबि बहुभागो बहुगस्स देओ दु ॥ १७८ ॥

बहुभागे समभागश्चतुर्णामेतेषामेकभागो ।

उत्तकमस्तत्रापि बहुभागो बहुकस्य देयस्तु ॥ १७८ ॥

अर्थ—त्रसराशिमें आवलिके असंख्यातमे भागका भाग देकर लब्ध बहुभागके समान चार भाग करना । और एक २ भागको द्वीन्द्रियादि चारोहीमें विभक्त कर, शेष एक भागमें

फिरसे आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देना चाहिये, और छद्म बहुभागको बहुतसंख्यावालेको देना चाहिये । इस प्रकार अन्तर्पर्यन्त करना चाहिये । भावार्थ—कल्पना की जिये कि त्रसराशिका प्रमाण दोसौ छप्पन है । और प्रतिभागहाररूप आवलीके असंख्यातमे भागका प्रमाण ४ चार है । इसलिये दोसौ छप्पनमें चारका भाग देनेसे लब्ध १४ आते हैं । इस १४ के एक भागको अलग रखदेने पर बहुभागका प्रमाण एकसौ बानवे बाकी रहता है; इस बहुभागके अठ्तालीस २ के समान चार भाग करके द्वीन्द्रियादि चारोंको बिभक्त करना चाहिये । और शेष चौगठमें फिर चारका भाग देना चाहिये । इससे लब्ध सोलहके एक भागको अलग रखकर बाकी अठ्तालीसके बहुभागको बहुतसंख्यावाले द्वीन्द्रियको देना चाहिये । और शेष सोलहके एकभागमें फिर चारका भाग देनेसे लब्ध बारहके बहुभागको क्रमप्राप्त त्रीन्द्रियको देना चाहिये । और शेष चारके एक भागमें फिर चारका भाग देनेसे लब्ध तीनके बहुभागको चतुरिन्द्रियको देना चाहिये । और शेष एक पंचेन्द्रियको देना चाहिये । इस प्रकार त्रसोंकी २९१ राशिमेंसे द्वीन्द्रियोंका प्रमाण ९१, त्रीन्द्रियोंका प्रमाण १०, चतुरिन्द्रियोंका प्रमाण ५१, और पंचेन्द्रियोंका प्रमाण ४९ हुआ । जिसप्रकार अंकसंदष्टिमें यह प्रमाण बताया है उसही प्रकार अर्थसंदष्टिमें भी समझना; परन्तु अङ्कसंदष्टिको ही अर्थसंदष्टि नहीं समझना चाहिये ।

त्रसोंमें पर्याप्तक और अपर्याप्तकोंका प्रमाण बताते हैं ।

तिबिपचपुण्णप्रमाणं पदरंगुलसंख्यभागहिदपदरं ।

हीणक्रमं पुण्णूणा बितिचपजीवा अपज्जत्ता ॥ १७९ ॥

त्रिद्विपञ्चचतुःपूर्णप्रमाणं प्रतराङ्गुलसंख्यभागहितप्रतरम् ।

हीनक्रमं पूर्णोना द्वित्रिचतुःपञ्चजीवा अपर्याप्ताः ॥ १७९ ॥

अर्थ—प्रतराङ्गुलके संख्यातमे भागका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही त्रीन्द्रिय द्वीन्द्रिय पंचेन्द्रिय चतुरिन्द्रियमें प्रत्येक पर्याप्तका प्रमाण है । परन्तु यह प्रमाण “ बहुभागो समभागो ” इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार उत्तरोत्तर हीन २ है । अपनी २ समस्तराशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर अपर्याप्तक द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीवोंका प्रमाण निकलता है ।

इति इन्द्रियमार्गणाधिकारः समाप्तः ॥

कायमार्गणाका वर्णन क्रमसे प्राप्त है । अतः उसकी आदिमें कायका लक्षण और उसके भेदोंको बताते हैं ।

जाईअविणाभावीतसथावरउदयजो हवे काओ ।

सो जिणमदह्मि भणिओ पुढवीकायादिछब्बमेणो ॥ १८० ॥

जात्यविनाभावित्सस्यावरोदयजो भवेत् कायः ।

स जिनमते भणितः पृथ्वीकायादिषड्भेदः ॥ १८० ॥

अर्थ—जातिनामकर्मके अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयसे होनेवाली आत्माकी पर्यायको जिनमतमें काय कहते हैं । इसके छह भेद हैं, पृथिवी जल अग्नि वायु वनस्पति और त्रस ।

पांच स्थावरोंमेंसे वनस्पतिको छोड़कर बाकी पृथिवी आदि चार स्थावरोंकी उत्पत्तिका कारण बताते हैं ।

पुढवीआऊतेऊवाऊकम्मोदयेण तत्थेव ।

णियवण्णचउक्कुजुदो ताणं देहां हवे णियमा ॥ १८१ ॥

पृथिव्यसेजोवायुकर्मोदयेन तत्रैव ।

निजवर्णचतुष्कयुतस्तेषां देहो भवेन्नियमात् ॥ १८१ ॥

अर्थ—पृथिवी अप् (जल) तेज (अग्नि) वायु इनका शरीर, नियमसे अपने २ पृथिवी आदि नामकर्मके उदयसे, अपने २ योग्य रूप रस गंध स्पर्शसे युक्त पृथिवी आदिकमें ही बनता है । भावार्थ—पृथिवी आदि नामकर्मके उदयसे पृथिवीकायिकादि जीवोंके अपने २ योग्य रूप रस गंध स्पर्शसे युक्त पृथिवी आदि पुद्गलस्कन्ध ही शरीररूप परिणत होजाते हैं ।

शरीरके भेद और उनके लक्षण बताते हैं ।

बादरसुहुमुदयेण य बादरसुहुमा हवंति तद्देहा ।

घादसरीरं स्थूलं अघाददेहं हवे सुहुमं ॥ १८२ ॥

बादरसूक्ष्मोदयेन च बादरसूक्ष्मा भवन्ति तद्देहाः ।

घातशरीरं स्थूलमघातदेहं भवेत् सूक्ष्मम् ॥ १८२ ॥

अर्थ—बादर नामकर्मके उदयसे बादर और सूक्ष्म नामकर्मके उदयसे सूक्ष्म शरीर होता है । जो शरीर दूसरेको रोकनेवाला हो अथवा जो दूसरेसे रुके उसको बादर (स्थूल) कहते हैं । और जो दूसरेको न तो रोकें और न स्वयं दूसरेसे रुके उसको सूक्ष्म शरीर कहते हैं ।

शरीरका प्रमाण बताते हैं ।

तद्देहमंगुलस्स असंखभागस्स बिंदमाणं तु ।

आधारे थूला ओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहुमा ॥ १८३ ॥

तद्देहमङ्गुलस्यासंख्यभागस्य वृन्दमानं तु ।

आधारे स्थूलाः ओ सर्वत्र निरन्तराः सूक्ष्माः ॥ १८३ ॥

अर्थ—बादर और सूक्ष्म दोनों ही तरहके शरीरोंका प्रमाण बनाङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण है । इनमें से स्थूल शरीर आधारकी अपेक्षा रखता है; किन्तु सूक्ष्म शरीर विना व्यवधानके सब जगह अनन्तानन्त भरे हुए हैं ।

वनस्पतिकायका स्वरूप और भेद बताते हैं ।

उदये तु वणप्फदिकम्मस्स य जीवा वणप्फदी हाँति ।

पत्तेयं सामणं पदिट्ठिदिदरेत्ति पत्तेयं ॥ १८४ ॥

उदये तु वनस्पतिकर्मणश्च जीवा वनस्पतयो भवन्ति ।

प्रत्येकं सामान्यं प्रतिष्ठितेते इति प्रत्येकम् ॥ १८४ ॥

अर्थ—वनस्पति नामकर्मके उदयसे जीव वनस्पतिकायिक होते हैं । उनके दो भेद हैं, एक प्रत्येक दूसरा साधारण । प्रत्येकके भी दो भेद हैं, प्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित । भावार्थ—प्रत्येक उसको कहते हैं कि जिसके एक शरीरका एक जीव मालिक हो । जहाँपर अनेक जीव समानरूपसे रहें उसको साधारण शरीर कहते हैं । प्रत्येक वनस्पतिके दो भेद हैं । एक प्रतिष्ठित दूसरी अप्रतिष्ठित । प्रतिष्ठित प्रत्येक उसको कहते हैं कि जिस एक शरीरमें एक जीवके मुख्यरूपसे रहनेपर भी उस जीवके आश्रय से अनेक निगोदिया जीव रहें । और जहाँपर एक मुख्य जीवके आश्रयसे अनेक निगोदिया जीव नहीं रहते उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

मूलगगपोरबीजा कंदा तह खंदबीजबीजरुहा ।

सम्मुच्छिमा य भणिया पत्तेयाणंतकाया य ॥ १८५ ॥

मूलग्रपर्वबीजाः कन्दास्तथा स्कन्धबीजबीजरुहाः ।

सम्मुच्छिमाश्च भाणिताः प्रत्येकानंतकायाश्च ॥ १८५ ॥

अर्थ—जिन वनस्पतियोंका बीज, मूल, अग्र, पर्व, कन्द, अथवा स्कन्ध है, अथवा जो बीजसे ही उत्पन्न होजाती हैं, यद्वा सम्मूर्छन हैं, वे सभी वनस्पतियां सप्रतिष्ठित तथा अप्रतिष्ठित दोनों प्रकार की होती हैं । भावार्थ—वनस्पति अनेक प्रकारकी होती हैं । कोई तो मूलसे उत्पन्न होती हैं, जैसे अदरक हल्दी आदि । कोई अग्रसे उत्पन्न होती हैं जैसे गुलाब । कोई पर्वसे (पंगोली) उत्पन्न होती हैं, जैसे ईख वेंत आदि । कोई कन्दसे उत्पन्न होती हैं, जैसे सूरण आदि । कोई स्कन्धसे उत्पन्न होती हैं, जैसे ढाक । कोई अपने २ बीजसे उत्पन्न होती हैं, जैसे गेहूं चना आदि । कोई मट्टी जल आदिके सम्बन्धसे ही उत्पन्न होजाती हैं, जैसे घास आदि । परन्तु ये सब ही वनस्पति सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक दोनों प्रकारकी होती हैं ।

संप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकी पहचान (परीक्षा—चिन्ह) बताते हैं ।

गूढशिरसंधिपर्वं समभंगमहीरुहं च छिण्णरुहं ।

साधारणं शरीरं तद्विपरीतं च पत्तेयं ॥ १८६ ॥

गूढशिरसन्धिपर्वं समभङ्गमहीरुहं च छिन्नरुहम् ।

साधारणं शरीरं तद्विपरीतं च प्रत्येकम् ॥ १८६ ॥

अर्थ—जिनकी शिरा संधि पर्व अप्रकट हों, और जिसका भङ्ग करनेपर समान भंग हों, और दोनों भङ्गमें परस्पर तन्तु न लगा रहै, तथा छेदन करनेपर भी जिसकी पुनः वृद्धि होजाय उसको संप्रतिष्ठित प्रत्येक, और इससे विपरीतको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

मूले कंदे छल्लीपवालशालदलकुसुमफलबीजे ।

समभंगे सदि णंता असमे सदि होंति पत्तेया ॥ १८७ ॥

मूले कन्दे त्वक्प्रवालशालादलकुसुमफलबीजे ।

समभङ्गे सति नान्ता असमे सति भवन्ति प्रत्येकाः ॥ १८७ ॥

अर्थ—जिन वनस्पतियोंके मूल कन्द त्वचा प्रवाल (नवीन कौपल) क्षुद्रशाखा (टहनी) पत्र फूल तथा बीजोंको तोड़नेसे समान भंग हो उसको संप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कहते हैं । और जिनका भंग समान न हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

कंदस्स व मूलस्स व सालाखंदस्स वाबि बहुलतरी ।

छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया तु तणुकदरी ॥ १८८ ॥

कन्दस्य वा मूलस्य वा शालास्कन्धस्य वापि बहुलतरा ।

त्वक् सा अनन्तजीवा प्रत्येकजीवा तु तनुकतरा ॥ १८८ ॥

अर्थ—जिस वनस्पतिके कन्द, मूल, क्षुद्रशाखा या स्कन्धकी छाल मोटी हो उसको अनन्तजीव (संप्रतिष्ठित प्रत्येक) कहते हैं । और जिसकी छाल पतली हो उसको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते हैं ।

बीजे जोणीभूदे जीवो चंकमदि सो व अण्णो वा ।

जे वि य मूलादीया ते पत्तेया पढमदाए ॥ १८९ ॥

बीजे योनीभूते जीवः चक्कामति स वा अन्यो वा ।

येपि च मूलादिकास्ते प्रत्येकाः प्रथमतायाम् ॥ १८९ ॥

अर्थ—जिस योनीभूत बीजमें वही जीव या कोई अन्य जीव आकर उत्पन्न हो वह और मूलादिक प्रथम अवस्थामें अप्रतिष्ठित प्रत्येक होते हैं । भावार्थ—वे बीज जिनकी कि

अङ्कुर उत्पन्न करनेकी शक्ति नष्ट नहीं हुई है, और जिनमें या तो वही जीव आकर उत्पन्न हो जो पहले उसमें था, या कोई दूसरा जीव कहीं अन्यत्रसे मरण करके आकर उत्पन्न हो, और मूल कन्द आदि जिनको कि पहले सप्रतिष्ठित कहा है वे भी अपनी उत्पत्तिके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त अप्रतिष्ठित प्रत्येक ही रहते हैं ।

इस प्रकार प्रत्येक और साधारणके भेदसे दो प्रकारकी वनस्पतियोंमेंसे प्रत्येकका वर्णन करके अब साधारणका वर्णन करते हैं ।

साहारणोदयेन णिगोदशरीरा हवंति सामण्णा ।

ते पुण दुविहा जीवा बादरसुहमात्ति विण्णेया ॥ १९० ॥

साधारणोदयेन निगोदशरीरा भवन्ति सामान्याः ।

ते पुनर्द्विविधा जीवा बादरसूक्ष्मा इति विज्ञेयाः ॥ १९० ॥

अर्थ—जिन जीवोंका शरीर साधारण नामकर्मके उदयसे निगोदरूप होजाता है उनही को सामान्य या साधारण कहते हैं । इनके दो भेद हैं, एक बादर दूसरा सूक्ष्म । भावार्थ—साधारण नामकर्मके उदयसे इस प्रकारका जीवोंका शरीर होता है कि जो अनन्तानन्त जीवोंको आश्रय दे सकें । इस शरीरमें एक मुख्य जीव नहीं रहता; किन्तु अनन्तानन्त जीव समानरूपसे रहते ह । अत एव इनका नाम सामान्य या साधारण जीव है । इनके दो भेद हैं, एक बादर दूसरा सूक्ष्म ।

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणग्रहणं च ।

साहारणजीवाणं साहारणलक्षणं भणियं ॥ १९१ ॥

साधारणमाहारः साधारणमानापानग्रहणं च ।

साधारणजीवानां साधारणलक्षणं भणितम् ॥ १९१ ॥

अर्थ—इनका (साधारण जीवोंका) साधारण (समान) ही तो आहार होता है, और साधारण ही श्वासोच्छ्वासका ग्रहण होता है । साधारण जीवोंका लक्षण साधारण ही परमागममें कहा है । भावार्थ—साथ ही उत्पन्न होनेवाले जिन अनन्तानन्त (साधारण) जीवोंकी आहारादिक पर्याप्ति और उनके कार्य सदृश और समान कालमें होते हों उनको साधारण कहते हैं ।

जत्थेक्कमरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।

बक्कमइ जत्थ एक्को बक्कमणं तत्थ णंताणं ॥ १९२ ॥

यत्रैको म्रियते जीवस्तत्र तु मरणं भवेत् अनन्तानाम् ।

प्रक्रामति यत्र एकः प्रक्रमणं तत्रानन्तानाम् ॥ १९२ ॥

अर्थ—साधारण जीवोंमें जहां पर एक जीव मरण करता है वहांपर अनन्त जीवोंका

मरण होता है। और जहाँपर एक जीव उत्पन्न होता है वहाँ अनन्त जीवोंका उत्पाद होता है। भावार्थ—साधारण जीवोंमें उत्पत्ति और मरणकी अपेक्षा भी सादृश्य है। प्रथम समयमें उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवोंकी तरह द्वितीयादि समयोंमें भी उत्पन्न होनेवाले साधारण जीवोंका जन्म मरण साथ ही होता है। यहाँ इतना विशेष समझना कि एक बादर निगोद शरीरमें या सूक्ष्म निगोद शरीरमें साथ उत्पन्न होनेवाले अनन्तानन्त साधारण जीव या तो पर्याप्त ही होते हैं या अपर्याप्त ही होते हैं। किन्तु मिश्ररूप नहीं होते क्योंकि उनके समान कर्मोदयका नियम है।

बादर निगोदिया जीवोंकी संख्या बतानेको दो गाथा कहते हैं।

खंधा असंखलोगा अंडरआवासपुलविदेहा वि ।

हेट्टिलजोणिगाओ असंखलोगेण गुणिदकमा ॥ १९३ ॥

स्कन्धा असंख्यलोका अंडरावासपुलविदेहा अपि ।

अधस्तनयोनिका असंख्यलोकेन गुणितक्रमाः ॥ १९३ ॥

अर्थ—स्कन्धोंका प्रमाण असंख्यातलोकप्रमाण है। और अंडर आवास पुलवि तथा देह ये क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातलोक २ गुणित हैं। भावार्थ—अपने योग्य असंख्यातका लोकके समस्त प्रदेशोंसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उतना समस्त स्कन्धोंका प्रमाण है। और एक एक स्कन्धमें असंख्यातलोक प्रमाण अंडर हैं, एक २ अंडरमें असंख्यातलोक प्रमाण आवास हैं, एक २ आवासमें असंख्यातलोक प्रमाण पुलवि हैं। एक २ पुलविमें असंख्यातलोकप्रमाण बादर निगोदिया जीवोंके शरीर हैं। इस लिये जब एक स्कन्धमें असंख्यात लोक प्रमाण अंडर हैं तब समस्त स्कन्धोंमें कितने अंडर होंगे ? इस प्रकार इनका त्रैराशिक करनेसे अंडर आवास पुलवि तथा देह इनका उत्तरोत्तर क्रमसे असंख्यातलोक असंख्यातलोक गुणा प्रमाण निकलता है।

इसका दृष्टान्त बताते हैं।

जम्बूद्वीबं भरहो कोशलसागेदतग्घराइं वा ।

खंधंडरआवासापुलविशरीराणि दिट्ठंता ॥ १९४ ॥

जम्बूद्वीपो भरतः कोशलसाकेततद्गहाणि वा ।

स्कन्धाण्डरावासाः पुलविशरीराणि दृष्टान्ताः ॥ १९४ ॥

अर्थ—जम्बूद्वीप भरतक्षेत्र कोशलदेश साकेतनगरी (अयोध्या) और साकेत नगरीके घर ये क्रमसे स्कन्ध अंडर आवास पुलवि और देहके दृष्टान्त हैं। भावार्थ—जिस प्रकार जम्बूद्वीप आदिक एक २ द्वीपमें भरतादिक अनेक क्षेत्र, एक २ भरतादि क्षेत्रमें

कोशल आदि अनेक देश, एक २ देशमें अयोध्या आदि अनेक नगरी, और एक २ नगरीमें अनेक घर होते हैं । उस ही प्रकार एक २ स्थानमें असंख्यातलोक २ प्रमाण अंडर, एक २ अंडरमें असंख्यातलोक २ प्रमाण आवास, एक २ आवासमें असंख्यातलोक २ प्रमाण पुलवि, और एक २ पुलविमें असंख्यातलोक २ प्रमाण बादर निगोदियाजीवोंके शरीर होते हैं ।

एक निगोदशरीरमें द्रव्यकी अपेक्षा जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

एगणिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणदो दिष्टा ।

सिद्धेहि अणंतगुणा सब्देण वितीदकालेण ॥ १९५ ॥

एकनिगोदशरीरे जीवा द्रव्यप्रमाणतो दृष्टाः ।

सिद्धैरनन्तगुणाः सर्वेण व्यतीतकालेन ॥ १९५ ॥

अर्थ—द्रव्यकी अपेक्षा सिद्धराशिसे और सम्पूर्ण अतीतकालके समयोंसे अनन्तगुणे जीव एक निगोद शरीरमें रहते हैं ।

नित्यनिगोदका लक्षण कहते हैं ।

अत्थि अणंता जीवा जेहिं ण पत्तो तसाण परिणामो ।

भावकलङ्कमुपउरा णिगोदवासं ण मुंचंति ॥ १९६ ॥

सन्ति अनन्ता जीवा येन प्राप्तः त्रसानां परिणामः ।

भावकलङ्कमुप्रचुरा निगोदवासं न मुञ्चन्ति ॥ १९६ ॥

अर्थ—ऐसे अनन्तानन्त जीव हैं कि जिन्होंने त्रसोंकी पर्याय अभीतक कभी नहीं पाई है, और जो निगोद अवस्थामें होनेवाले दुर्लभ्यारूप परिणामोंसे अत्यन्त अभिभूत रहनेके कारण निगोदस्थानको कभी नहीं छोड़ते । भावार्थ—निगोदके दो भेद हैं, एक इतरनिगोद दूसरा नित्यनिगोद । जिसने कभी त्रस पर्यायको प्राप्त करलिया हो उसको इतरनिगोद कहते हैं । और जिसने अभीतक कभी त्रसपर्यायको नहीं पाया, अथवा जो कभी त्रस पर्यायको नहीं पावेगा उसको नित्यनिगोद कहते हैं । क्योंकि नित्यशब्दके दो अर्थ होते हैं, एक तो अनादि दूसरा अनादि अनन्त । इन दोनों ही प्रकारके जीवोंकी संख्या अनन्तानन्त है ।

दो गाथाओंमें त्रस जीवोंका स्वरूप भेद और उनका क्षेत्र आदि बताते हैं ।

बिहि तिहि चट्ठहि पंचहिं सहिया जे इंदिएहिं लोयहि ।

ते तसकाया जीवा णेया वीरोबदेसेण ॥ १९७ ॥

द्राम्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिः सहिता ये इन्द्रियैर्लोकैः ।

ते त्रसकाया जीवा ज्ञेया वीरोपदेशेन ॥ १९७ ॥

अर्थ—जो जीव दो तीन चार पांच इन्द्रियोंसे युक्त हैं उनको वीर भगवान्के उपदेशसे त्रस काय समझना चाहिये । भावार्थ—पूर्वोक्त स्पर्शनादिक पांच इन्द्रियोंमें से आदिकी दो, तीन, चार, या पांच इन्द्रियोंसे जो युक्त है उसको त्रस कहते हैं । अत एव इन्द्रियोंकी अपेक्षा त्रसोंके चार भेद हुए—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय ।

उबबादमारणतियपरिणतसमुज्झिऊण सेसतसा ।

तसणालिबाहिरह्मि य णत्थित्ति जिणेहिं णिट्ठिं ॥ १९८ ॥

उपपादमारणान्तिकपरिणतत्रसमुज्झित्वा शेषत्रसाः ।

त्रसनालीबाह्ये च न सन्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ १९८ ॥

अर्थ—उपपाद और मारणान्तिक समुद्घातवाले त्रस जीवोंको छोड़कर बाकीके त्रस जीव त्रसनालीके बाहर नहीं होते यह जिनेन्द्रदेवने कहा है । भावार्थ—किसी विवक्षित भवके प्रथम समयकी पर्यायको उपपाद कहते हैं । अपनी आयुके अन्तिम अन्तर्मुहूर्तमें जो समुद्घात होता है उसको मारणान्तिक समुद्घात कहते हैं । लोकके बिलकुल मध्यमें एक २ राजू चौड़ी और मोटी तथा चौदह राजू ऊंची नाली है—उसको त्रसनाली कहते हैं; क्योंकि त्रस जीव इसके भीतर ही होते हैं—बाहर नहीं होते । किन्तु उपपाद और मारणान्तिक समुद्घातवाले त्रस, तथा इस गाथामें च शब्दका ग्रहण किया है इसलिये केवलसमुद्घातवाले भी त्रसनालीके बाहर कदाचित् रहते हैं । वह इस प्रकारसे कि लोकके अन्तिम वातवलयमें स्थित कोई जीव मरण करके विग्रहगतिद्वारा त्रसनालिमें त्रसपर्यायसे उत्पन्न होनेवाला है, वह जीव जिस समयमें मरण करके प्रथम मोड़ा लेता है उस समयमें त्रसपर्यायको धारण करने पर भी त्रसनालीके बाहर है । इस लिये उपपादकी अपेक्षा त्रस जीव त्रसनालीके बाहर रहता है । इसही प्रकार त्रसनालिमें स्थित किसी त्रसने मारणान्तिक समुद्घातके द्वारा त्रसनालीके बाहिरके प्रदेशोंका स्पर्श किया; क्योंकि उसको मरण करके वही उत्पन्न होना है, तो उस समयमें भी त्रस जीवका अस्तित्व त्रसनालीके बाहिर पाया जाता है । इस ही तरह जब केवली केवलसमुद्घातके द्वारा त्रसनालीके बाह्य प्रदेशोंका स्पर्श करते हैं उस समयमें भी त्रसनालीके बाहर त्रस जीवका सद्भाव पाया जाता है । परन्तु इन तीनोंको छोड़कर बाकी त्रस जीव त्रसनालीके बाहर कभी नहीं रहते ।

जिस तरह वनस्पतियोंमें प्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित भेद हैं उस ही तरह दूसरे जीवों में भी ये भेद होते हैं यह बताते हैं ।

पुढवीआदिचउण्हं केवलआहारदेवणिरयंगा ।

अपदिष्ठिदा णिगोद्धिं पदिष्ठिदंगा हवे सेसा ॥ १९९ ॥

पृथिव्यादिचतुर्णां केवल्यआहारदेवनिरयाङ्गानि ।

अप्रतिष्ठितानि निगोदैः प्रतिष्ठिताङ्गा भवन्ति शेषाः ॥ १९९ ॥

अर्थ—पृथिवी, जल, अग्नि, और वायुकायके जीवोंका शरीर तथा केवलशरीर आहार-कशरीर और देवनारकियोंका शरीर निगोदिया जीवोंसे अप्रतिष्ठित है । और शेष वनस्पतिका-यके जीवोंका शरीर तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्योंका शरीर निगोदिया जीवोंसे प्रतिष्ठित है ।

स्थावरकायिक और त्रसकायिक जीवोंका आकार बताते हैं ।

मसूरं बुबिन्दुसूईकलाबधयसण्णिहो हवे देहो ।

पुढवीआदिः उण्हं तरुतसकाया अणेयविहा ॥ २०० ॥

मसूराम्बुबिन्दुसूचीकलापध्वजसन्निभो भवेद्देहः ।

पृथिव्यादिचतुर्णां तरुतसकाया अनेकविधाः ॥ २०० ॥

अर्थ—मसूर (अन्नविशेष), जलकी बिन्दु, सुइयोंका समूह, ध्वजा, इनके सदृश क्रमसे पृथिवी अप् तेज वायुकायिक जीवोंका शरीर होता है । और वृक्ष तथा त्रसोंका शरीर अनेक प्रकारका होता है । भावार्थ—जिस तरहका मसूरादिकका आकार है उस ही तरहका पृथिवीकायिकादिकका शरीर होता है; किन्तु वृक्ष और त्रसोंका शरीर एक प्रकारका नहीं; किन्तु अनेक आकारका होता है ।

इस प्रकार कायमार्गणाका निरूपण करके, अब कायविशिष्ट यह संसारी जीव कायके द्वारा ही कर्मभारका वहन करता है यह दृष्टान्तद्वारा बताते हैं ।

जह भारवहो पुरिसो वहइ भरं गेहिऊण कावळियं ।

एमेव वहइ जीवो कम्मभरं कायकावळियं ॥ २०१ ॥

यथा भारवहः पुरुषो वहति भारं गृहीत्वा कावटिकाम् ।

एवमेव वहति जीवः कम्मभरं कायकावटिकाम् ॥ २०१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई भारवाही पुरुष काँवटिकाके द्वारा भारका वहन करता है, उस ही प्रकार यह जीव कायरूपी कावटिकाके द्वारा कर्मभारका वहन करता है । भावार्थ—जिस प्रकार मजूर कावटिकाके द्वारा निरन्तर बोझा बोता है, और उससे रहित होनेपर सुखी होता है, उस ही प्रकार यह संसारी जीव कायके द्वारा कर्मरूपी बोझाको नाना गतियोंमें लिये फिरता है, किन्तु इस काय और कर्मके अभावमें परम सुखी होता है ।

कायमार्गणासे रहित सिद्धोंका स्वरूप बताते हैं ।

जह कंचणमग्गिगयं मुंचइ किट्ठेण कालियाए य ।

तह कायबंधमुक्का अकाइया ज्ञाणजोगेण ॥ २०२ ॥

१ अर्थात् इतने जीवोंके शरीरके आश्रय निगोदिया जीव नहीं रहते हैं । २ बड़गी—कावड़ी ।

गो. ११

यथा कंचनमग्निगतं मुच्यते किट्टेन कालिकया च ।

तथा कायबन्धमुक्ता अकायिका ध्यानयोगेन ॥ २०२ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अग्निके द्वारा सुसंस्कृत सुवर्ण बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके मलसे रहित होजाता है । उस ही प्रकार ध्यानके द्वारा यह जीव शरीर और कर्म-बन्धसे रहित होकर सिद्ध होजाता है । भावार्थ—जिस प्रकार सोलह तावके द्वारा तपाये हुए सुवर्णमें बाह्य और अभ्यन्तर दोनों ही प्रकारके मलका बिलकुल अभाव होजानेपर फिर किसी दूसरे मलका सम्बन्ध नहीं होता । उस ही प्रकार शुकृध्यान आदिरूपी अग्निके द्वारा सुतप्त आत्मामें काय और कर्मके सम्बन्धके सर्वथा वृट्टने पर फिर उनका बन्ध नहीं होता ।

ग्यारह गाथाओंमें पृथिवी कायिकादि जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

आउडुरासिवारं लोगे अण्णोण्णसंगुणे तेऊ ।

भूजलवाऊ अहिया पडिभागोऽसंख्यलोगो दु ॥ २०३ ॥

सार्धत्रयराशिवारं लोके अन्योन्यसंगुणे तेजः ।

भूजलवायवः अधिकाः प्रतिभागोऽसंख्यलोकस्तु ॥ २०३ ॥

अर्थ—शलाकात्रयनिष्ठापनकी विधिसे लोकका साढ़े तीन बार परस्पर गुणा करनेसे तेजस्कायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है । पृथिवी जल वायुकायिक जीवोंका उत्तरोत्तर तेजस्कायिक जीवोंकी अपेक्षा अधिक २ प्रमाण है । इस अधिकताके प्रतिभागहारका प्रमाण असंख्यातलोक है । भावार्थ—लोकप्रमाण (जगच्छ्रेणीके घनका जितना प्रमाण है उसके बराबर) शलाका विरलन देय इस प्रकार तीन राशि स्थापन करना । विरलन राशिका विरलन कर (एक २ खखेर कर) प्रत्येक एकके ऊपर उस लोकप्रमाण देय राशिका स्थापन करना, और उन देय राशियोंका परस्पर गुणा करना, और शलाका राशिमेंसे एक कम करना । इस उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर विरलन और देय ये दो राशि स्थापन करना, तथा विरलन राशिका विरलन कर प्रत्येक एकके ऊपर देयराशि रखकर पूर्वकी तरह परस्पर गुणा करना, और शलाका राशिमेंसे एक और कम करना । इस ही प्रकारसे एक २ कम करते २ जब समस्त शलाका राशि समाप्त होजाय तब उस उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर विरलन देय शलाका ये तीन राशि स्थापन करना, और विरलन राशिका विरलन और देय राशिका उत्तरीतिसे गुणा करते २ तथा पूर्वोक्त रीतिसे ही शलाका राशिमेंसे एक २ कम करते २ जब दूसरी बार भी शलाका राशि समाप्त होजाय, तब उत्पन्न महाराशिप्रमाण फिर तीसरी बार उक्त तीन राशि स्थापन करना । और उक्त विधानके अनुसार ही विरलन राशिका विरलन देय राशिका परस्पर गुणाकर तथा शलाका राशिमेंसे एक २

कम करना । इस प्रकार शलाकात्रयनिष्ठापन कर चौथी वारकी स्थापित महाशलाकाराशि-
मेंसे पहली दूसरी तीसरी शलाका राशिका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे उतनी वार उक्त
क्रमसे विरलन राशिका विरलन और देयराशिका परस्पर गुणाकार तथा शेष महाशलाका-
राशिमेंसे एक २ कम करना । ऐसा करनेसे अन्तमें जो महाराशि उत्पन्न हो उतनाही तेज-
स्कायिक जीवोंका प्रमाण है । इस तेजस्कायिक जीवराशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे
जो लब्ध आवे उस एक भागको तेजस्कायिक जीवराशिमें मिलानेपर पृथिवीकायिक
जीवोंका प्रमाण निकलता है । और पृथिवीकायिक जीवोंके प्रमाणमें असंख्यात लोकका
भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको पृथिवीकायिक जीवोंके प्रमाणमें मिलानेपर
जलकायिक जीवोंका प्रमाण निकलता है । जलकायिक जीवोंके प्रमाणमें असंख्यात लोकका
भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागको जलकायिक जीवराशिमें मिलानेपर वायुकायिक
जीवोंका प्रमाण निकलता है ।

अपदिष्टिदपत्तेया असंखलोगप्पमाणया होंति

तत्तो पदिष्टिदा पुण असंखलोगेण संगुणिदा ॥ २०४ ॥

अप्रतिष्ठितप्रत्येका असंख्यलोकप्रमाणका भवन्ति ।

ततः प्रतिष्ठिताः पुनः असंख्यलोकेन संगुणिताः ॥ २०४ ॥

अर्थ—अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव असंख्यातलोकप्रमाण हैं, और इससे
भी असंख्यातलोकगुणा प्रतिष्ठितप्रत्येक वनस्पतिकायिक जीवोंका प्रमाण है ।

तसरासिपुढविआदीचउक्कपत्तेयहीणसंसारी ।

साधारणजीवाणं परिमाणं होदि जिणदिष्टं ॥ २०५ ॥

त्रसराशिपृथिव्यादिचतुष्कप्रत्येकहीनसंसारी ।

साधारणजीवानां परिमाणं भवति जिनादिष्टम् ॥ २०५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण संसारी जीवराशिमेंसे, त्रस, पृथिव्यादि चतुष्क (पृथिवी अप् तेज
वायु) प्रत्येक वनस्पतिकायिका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे उतना ही साधारण जीवोंका
प्रमाण है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

सगसगअसंखभागो बादरकायाण होदि परिमाणं ।

सेसा सुहमपमाणं पडिभागो पुव्वणिदिष्टो ॥ २०६ ॥

स्वकस्वकासंख्यभागो बादरकायानां भवति परिमाणम् ।

शेषाः सूक्ष्मप्रमाणं प्रतिभागः पूर्वनिर्दिष्टः ॥ २०६ ॥

अर्थ—अपनी १ राशिका असंख्यातमा भाग बादरकाय जीवोंका प्रमाण है । और

शेष सूक्ष्म जीवोंका प्रमाण है। इसके प्रतिभागहारका प्रमाण पूर्वोक्त असंख्यातलोकप्रमाण है। भावार्थ—पृथिवीकायिकादि जीवोंकी अपनी २ राशियोंमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे वह एक भाग प्रमाण बादर, शेष बहुभागप्रमाण सूक्ष्म जीवोंका प्रमाण है।

सुहमेसु संखभागं संखा भागा अपुण्णगा इदरा ।

जस्ति अपुण्णद्धादो पुण्णद्धा संखगुणितकमा ॥ २०७ ॥

सूक्ष्मेषु संख्यभागः संख्या भागा अपूर्णका इतरे ।

यस्मादपूर्णाद्धातः पूर्णाद्धा संख्यगुणितकमाः ॥ २०७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म जीवोंमें संख्यात भागमेंसे एक भागप्रमाण अपर्याप्तक और बहुभाग-प्रमाण पर्याप्तक हैं। क्योंकि अपर्याप्तकके कालसे पर्याप्तकका काल संख्यातगुणा है।

पलासंखेज्जवहिदपरंगुलभाजिदे जगप्पदरे ।

जलभाणिपवादरया पुण्णा आवलिअसंखभजिदकमा ॥ २०८ ॥

पल्यासंख्यावहितप्रतराङ्गुलभाजिते जगत्प्रतरे ।

जलभूनिपवादरकाः पूर्णा आवल्यसंख्यभजितकमाः ॥ २०८ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमें भागसे भक्त प्रतराङ्गुलका जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना बादर पर्याप्त जलकायिक जीवोंका प्रमाण है। इसमें अवलिके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध रहे उतना बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवोंका प्रमाण है। इसमें भी अवलिके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध रहे उतना सप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशिका प्रमाण होता है। पूर्वकी तरह इसमें भी अवलिके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध रहे उतना अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराशिका प्रमाण होता है।

विंदावल्लोगाणमसंखं संखं च तेउवाऊणं ।

पज्जताण पमाणं तेहिं विहीणा अपज्जत्ता ॥ २०९ ॥

वृन्दावल्लोकानामसंख्यं संख्यं च तेजोवायूनाम् ।

पर्याप्तानां प्रमाणं तैर्विहीना अपर्याप्ताः ॥ २०९ ॥

अर्थ—घनावलिके असंख्यात भागोंमेंसे एक भाग प्रमाण पर्याप्त तेजस्कायिक जीवोंका प्रमाण है। और लोकके संख्यात भागोंमेंसे एक भागप्रमाण पर्याप्त वायुकायिक जीवोंका प्रमाण है। अपनी २ सम्पूर्ण राशियोंमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर जो शेष रहे वही अपर्याप्तकोंका प्रमाण है। भावार्थ—सूक्ष्म जीवोंका अलग वर्णन किया गया है। इसलिये “पलासंखेज्जवहिद” और “विंदावल्लोगाण” इन दो गायार्थोंमें बादर जीवोंका ही प्रमाण

समझना । और इन दो गाथाओंमें कहे हुए पर्याप्तक जीवोंके प्रमाणको अपनी २ सामान्य राशिमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतना अपर्याप्तकोंका प्रमाण है ।

साहरणबादरेसु असंखं भागं असंखगा भागा ।

पुण्णाणमपुण्णाणं परिमाणं होदि अणुकमसो ॥ २१० ॥

साधारणबादरेषु असंख्यं भागमसंख्यका भागाः ।

पूर्णानामपूर्णानां परिमाणं भवत्यनुक्रमशः ॥ २१० ॥

अर्थ—साधारण बादर जीवोंमें असंख्यात भागमेंसे एक भागप्रमाण पर्याप्त और बहु-भागप्रमाण अपर्याप्त हैं ।

आवलिअसंखसंखेणवहिदपदरङ्गुलेण हिदपदरं ।

कमसो तसत्पुण्णा पुण्णूणतसा अपुण्णा हु ॥ २११ ॥

आवलयसंख्यसंख्येनावहितप्रतराङ्गुलेन हितप्रतरम् ।

क्रमशस्त्रसत्तत्पूर्णाः पूर्णोन्नत्ता अपूर्णा हि ॥ २११ ॥

अर्थ—आवलीके असंख्यातमे भागसे भक्त प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही सामान्य त्रसराशिका प्रमाण है । और आवलीके संख्यातमे भागसे भक्त प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना पर्याप्त त्रस जीवोंका प्रमाण है । सामान्य त्रसराशिमेंसे पर्याप्तकोंका प्रमाण घटानेपर शेष अपर्याप्त त्रसोंका प्रमाण निकलता है ।

बादर तेजस्कायिकादि जीवोंकी अर्द्धच्छेद संख्याको बताते हैं ।

आवलिअसंखभागेणवहिदपत्तल्लणसायरद्धच्छिदा ।

बादरतेपणिभूजलवादाणं चरिमसायरं पुण्णं ॥ २१२ ॥

आवलयसंख्यभागेनावहितपत्तल्योन्नसागरार्द्धच्छेदाः ।

बादरतेपणिभूजलवातानां चरमः सागरः पूर्णः ॥ २१२ ॥

अर्थ—आवलीके असंख्यातमे भागसे भक्त पत्तल्यको सागरमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतने बादर तेजस्कायिक जीवोंके अर्द्धच्छेद हैं । और अप्रतिष्ठित प्रत्येक, प्रतिष्ठित प्रत्येक, बादर पृथ्वीकायिक, बादर जलकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण क्रमसे आवलीके असंख्यातमे भागका दो बार, तीन बार, चार बार, पांच बार पत्तल्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको सागरमें घटानेसे निकलता है । और बादर वातकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदका प्रमाण पूर्ण सागरप्रमाण है । भावार्थ—किसी राशिकी जितनी बार आधा २ करनेसे एक शेष रहे उसको अर्द्धच्छेद राशि कहते हैं । जैसे दोकी एक, चारकी दो, आठकी तीन, सोलहकी चार, और बत्तीसकी पांच अर्द्धच्छेद राशि है । इस ही प्रकार बादर तेजस्कायिक जीवोंकी

अर्द्धच्छेद राशिका प्रमाण एक वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेपर जो शेष रहे उतना है। दो वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेपर अप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण निकलता है। तीन वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेसे शेष प्रतिष्ठित प्रत्येक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण होता है। चार वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेसे बादर पृथ्वीकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण निकलता है। पांच वार आवलीके असंख्यातमे भागसे भाजित पल्यको सागरमें घटानेपर शेष बादर जलकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण होता है। और बादर वातकायिक जीवोंके अर्द्धच्छेदोंका प्रमाण पूर्ण सागर प्रमाण है।

तेवि विससेणहिया पल्लासंखेज्जभागमेत्तेण ।

तम्हा ते रासीओ असंखलोणेण गुणिदकमा ॥ २१३ ॥

तेपि विशेषेणाधिकाः पल्यासंख्यातभागमात्रेण ।

तस्मात्ते राशयोऽसंख्यलोकेन गुणितक्रमाः ॥ २१३ ॥

अर्थ—ये प्रत्येक अर्द्धच्छेद राशि पल्यके असंख्यातमे २ भाग उत्तरोत्तर अधिक हैं। इसलिये ये सभी राशि (तेजस्कायिकादि जीवों के प्रमाण) क्रमसे उत्तरोत्तर असंख्यातलोकगुणी हैं। भावार्थ—बादर तेजस्कायिक जीवोंकी अपेक्षा अप्रतिष्ठित, और अप्रतिष्ठितोंकी अपेक्षा प्रतिष्ठित जीवोंके अर्द्धच्छेद पल्यके असंख्यातमे २ भाग अधिक हैं। इसी प्रकार पृथ्वीकायिकादि के भी अर्द्धच्छेद पूर्व की अपेक्षा पल्यके असंख्यातमे भाग अधिक हैं। इसलिये पूर्व २ राशिकी अपेक्षा उत्तरोत्तर राशि (मूल) असंख्यात लोकगुणी है।

उक्त असंख्यातलोकगुणितक्रमको निकालनेके लिये करणसूत्रको कहते हैं।

दिण्णच्छेदेणवहिदइद्वच्छेदेहिं पयदविरलणं भजिदे ।

लद्धमिदइद्वरासीणण्णोण्हदीए होदि पयदधणं ॥ २१४ ॥

देयच्छेदेनावहितेष्टच्छेदैः प्रकृतविरलनं भाजिते ।

लब्धमितेष्टराश्यन्योन्यहत्या भवति प्रकृतधनम् ॥ २१४ ॥

अर्थ—देयराशिके अर्द्धच्छेदोंसे भक्त इष्ट राशिके अर्द्धच्छेदोंका प्रकृत विरलन राशि में भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह इष्ट राशिको रखकर परस्पर गुणा करनेसे प्रकृतधन होता है। भावार्थ—इसकी अंकसंदष्टि इस प्रकार है कि जब सोलह जगह दूआ माड़ (सोलह जगह दोका अंक रखकर) परस्पर गुणा करनेसे पण्णट्टी (६५५३६) उत्पन्न होती है तब ६४ जगह दूआ माड़ परस्पर गुणा करनेसे कितनी राशि उत्पन्न होगी ? तो देयराशि दोके अर्द्धच्छेद एकका इष्टराशि पण्णट्टीके अर्द्धच्छेद सोलहमें भाग देनेसे लब्ध

सोलहका भाग प्रकृतविरलन राशि ६४ में दिया, इससे चारकी संख्या लब्ध आई। इसलिये चार जगह पर पण्णडीको रखकर परस्पर गुणा करनेसे प्रकृतघन होता है। इस ही प्रकार अर्धसंष्टिमें जब इतनी जगह (अर्धच्छेदोंकी राशिप्रमाण) दूआ माड़ि परस्पर गुणा करनेसे इतनी राशि उत्पन्न होती है तब इतनी जगह (आगेकी राशिसे अर्धच्छेदप्रमाण) दूआ माड़ि परस्पर गुणा करनेसे कितनी राशि उत्पन्न होगी ? इस प्रकार उक्त क्रमसे त्रैराशिक विधान करनेपर पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तर राशि असंख्यातलोकगुणी सिद्ध होती है ।

इति कायमार्गणाधिकारः

अब योगमार्गणा क्रमप्राप्त है, इसलिये प्रथम ही योगका सामान्य लक्षण कहते हैं ।

पुद्गलविवाइदेहोदयेण मणवयणकाययुत्तस्स ।

जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो ॥ २१५ ॥

पुद्गलविपाकिदेहोदयेन मनोवचनकाययुक्तस्य ।

जीवस्य या हि शक्तिः कर्मागमकारणं योगः ॥ २१५ ॥

अर्थ—पुद्गलविपाकिशरीरनामकर्मके उदयसे मन वचन कायसे युक्त जीवकी जो कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उस ही को योग कहते हैं । भावार्थ—आत्माकी अनन्त शक्तियोंमेंसे एक योग शक्ति भी है । उसके दो भेद हैं, एक भावयोग दूसरा द्रव्य-योग । पुद्गलविपाकी आङ्गोपाङ्गनामकर्म और शरीरनामकर्मके उदयसे, मनोवचन काय पर्याप्ति जिसकी पूर्ण होचुकी हैं और जो मनोवाक्कायवर्गणाका अवलम्बन रखता है ऐसे संसारी जीवकी जो समस्त प्रदेशोंमें रहनेवाली कर्मोंके ग्रहण करनेमें कारणभूत शक्ति है उसको भावयोग कहते हैं । और इस ही प्रकारके जीवके प्रदेशोंका जो परिस्पन्द है उसको द्रव्ययोग कहते हैं । यहां पर कर्मशब्द उपलक्षण है इसलिये कर्म और नोकर्म दोनोंको ग्रहण करनेवाला योग होता है ऐसा समझना चाहिये ।

योगविशेषका लक्षण कहते हैं ।

मणवयणाणपडत्ती सञ्चासच्चुभयअणुभयत्थेषु ।

तण्णामं होदि तदा तेहि दु जोगा हु तज्जोगा ॥ २१६ ॥

मनोवचनयोः प्रवृत्तयः सत्यास्त्योभयानुभयार्थेषु ।

तन्नाम भवति तदा तैस्तु योगात् हि तद्योगाः ॥ २१६ ॥

अर्थ—सत्य असत्य उभय अनुभय इन चार प्रकारके पदार्थोंमेंसे जिस पदार्थको जानने या कहनेकेलिये जीवके मन वचनकी प्रवृत्ति होती है उस समयमें मन और वच-

नका वही नाम होता है। और उसके सम्बन्धसे उस प्रवृत्ति का भी वही नाम होता है।
भावार्थ—सत्य पदार्थको जाननेकेलिये किसी मनुष्यके मन या वचन की प्रवृत्ति हुई तो उसके मनको सत्यमन और वचनको सत्य वचन कहेंगे। तथा उनके द्वारा होनेवाले योगको सत्यमनोयोग और सत्य वचनयोग कहेंगे। इस ही प्रकारसे मन और वचनके असत्य उभय अनुभय इन तीनों भेदोंको भी समझना चाहिये।

सम्यग्ज्ञानके विषयभूत पदार्थको सत्य कहते हैं, जैसे यह जल है। मिथ्याज्ञानके विषयभूत पदार्थको मिथ्या कहते हैं, जैसे मरीचिकामें यह जल है। दोनोंके विषयभूत पदार्थको उभय कहते हैं, जैसे कमण्डलुमें यह घट है; क्योंकि कमण्डलु घटका काम देता है इसलिये कथंचित् सत्य है और घटाकार नहीं है इसलिये असत्य भी है। जो दोनोंही प्रकारके ज्ञानका विषय न हो उसको अनुभय कहते हैं, जैसे सामान्यरूपसे यह प्रतिभास होना कि “यह कुछ है”। यहां पर सत्य असत्यका कुछ भी निर्णय नहीं होसकता इसलिये अनुभय है।

योगविशेषोंका लक्षण कहते हैं।

सम्भावमणो सच्चो जो जोगो तेण सच्चमणजोगो ।

तद्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसोत्ति ॥ २१७ ॥

सद्भावमनः सत्यं यो योगस्तेन सत्यमनोयोगः ।

तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ॥ २१७ ॥

अर्थ—समीचीन भावमनको (पदार्थको जाननेकी शक्तिरूप ज्ञानको) अर्थात् समीचीन पदार्थको विषय करनेवाले मनको सत्यमन कहते हैं। और उसके द्वारा जो योग होता है उसको सत्यमनोयोग कहते हैं। सत्यसे जो विपरीत है उसको मिथ्या कहते हैं। तथा सत्य और मिथ्या दोनों ही प्रकारके मनको उभय मन कहते हैं।

ण य सच्चमोसजुत्तो जो दु मणो सो असच्चमोसमणो ।

जो जोगो तेण हवे असच्चमोसो दु मणजोगो ॥ २१८ ॥

न च सत्यमृषायुक्तं यत्तु मनः तदसत्यमृषामनः ।

यो योगस्तेन भवेत् असत्यमृषा तु मनोयोगः ॥ २१८ ॥

अर्थ—जो न तो सत्य हो और न मृषा हो उसको असत्यमृषा मन कहते हैं। और उसके द्वारा जो योग होता है उसको असत्यमृषामनोयोग कहते हैं।

वसविहसच्चे वयणे जो जोगो सो दु सच्चवचिजोगो ।

तद्विवरीओ मोसो जाणुभयं सच्चमोसोत्ति ॥ २१९ ॥

दशविधसंत्ये वचने यो योगः स तु सत्यवचोयोगः ।

तद्विपरीतो मृषा जानीहि उभयं सत्यमृषेति ॥ २१९ ॥

अर्थ—दश प्रकारके सत्य अर्थके वाचक वचनको सत्यवचन और उससे होनेवाले योगको सत्यवचनयोग कहते हैं । तथा इससे जो विपरीत है उसको मृषा और जो कुछ सत्य और कुछ मृषाका वाचक है उस १ उभयवचनयोग कहते हैं ।

जो णेव सच्चमोसो सो जाण असच्चमोसवचिजोगो ।

अमणाणं जा मासा सण्णीणामंतणी आदी ॥ २२० ॥

यो नैव सत्यमृषा स जानीहि असत्यमृषात्रचोयोगः ।

अमनसां या भाषा संज्ञिनामामन्त्रण्यादिः ॥ २२० ॥

अर्थ—जो न सत्यरूप हो और न मृषारूप ही हो उसको अनुभय वचनयोग कहते हैं । असंज्ञियोंकी समस्त भाषा और संज्ञियोंकी आमन्त्रणी आदिक भाषा अनुभय भाषा कही जाती हैं ।

दशप्रकारका सत्य बताते हैं । .

जणवदसम्मदिठवणाणामे रूचे पडुच्चववहारे ।

संभावणे य भावे उवमाए दसविहं सच्चं ॥ २२१ ॥

जनपदसम्मतिस्थापनानांश्चिं रूपे प्रतीत्यव्यवहारयोः ।

संभावनायां च भावे उपमायां दशविधं सत्यम् ॥ २२१ ॥

अर्थ—जनपदसत्य, सम्मतिसत्य, स्थापनासत्य, नामसत्य, रूपसत्य, प्रतीत्यसत्य, व्यवहारसत्य, संभावनासत्य, भावसत्य, उपमासत्य, इस प्रकार सत्यके दश भेद हैं ।

दश प्रकारके सत्यका दो गाथाओंमें दृष्टान्त बताते हैं ।

भत्तं देवी चंदप्पहपडिमा तह य होदि जिणदत्तो ।

सेद्धो विग्घो रच्चदि कूरोत्ति य जं हवे वयणं ॥ २२२ ॥

सक्को जंबूदीपं पल्लवुदि पाववज्जवयणं च ।

पल्लोवमं च कमसो जणवदसच्चादिविठंता ॥ २२३ ॥

भक्तं देवी चन्द्रप्रभप्रतिमा तथा च भवति जिनदत्तः ।

श्वेतो दीर्घो रघ्यते क्रूरमिति च यद्भवेद्वचनम् ॥ २२२ ॥

शक्रो जम्बूद्वीपं परिवर्तयति पाप्मर्जवचनं च ।

पल्लोपमं च क्रमशो जनपदसत्यादिदृष्टान्ताः ॥ २२३ ॥

अर्थ—उक्त दश प्रकारके सत्यवचनके ये दश दृष्टान्त हैं । भावार्थ—तत्तद्देश-वासी मनुष्योंके व्यवहारमें जो शब्द रूढ होरहा है उसको जनपद सत्य कहते हैं । जैसे—भक्त गो. ११

भात=कुलु । बहुत मनुष्योंकी सम्प्रतिसे जो साधारणमें रूढ हो उसको सम्प्रतिस्त्य या संवृत्ति-
 सत्य कहते हैं । जैसे पट्टराणीके सिवाय किसी साधारण स्त्रीको भी देवी कहना । भिन्न वस्तुमें
 भिन्न वस्तुके समारोप करनेवाले वचनको स्थापनासत्य कहते हैं । जैसे प्रतिमाको चन्द्रप्रभ
 कहना । दूसरी कोई अपेक्षा न रखकर केवल व्यवहारकेलिये जो किसीका संज्ञाकर्म करना इसको
 नामसत्य कहते हैं । जैसे जिनदत्त । यद्यपि उसको जिनेन्द्रने दिया नहीं है तथापि व्यवहार-
 केलिये उसको जिनदत्त कहते हैं । पुद्गलके रूपादिक अनेकगुणोंमेंसे रूपकी प्रधानतासे जो
 वचन कहा जाय उसको रूपसत्य कहते हैं । जैसे किसी मनुष्यके केशोंका काला कहना, अथवा
 उसके शरीरमें रसादिकके रहने पर भी उसको श्वेत कहना । किसी विवक्षित पदार्थकी अपेक्षासे
 दूसरे पदार्थके स्वरूपका कथन करना इसको प्रतीत्यसत्य अथवा आपेक्षिकसत्य कहते हैं । जैसे
 किसीको बड़ा लम्बा या स्थूल कहना । नैगमादि नयोंकी प्रधानतासे जो वचन बोला जाय उसको
 व्यवहारसत्य कहते हैं । जैसे नैगम नयकी प्रधानतासे “ भात पकाता हूं ” संप्रहयनकी अपेक्षा
 ‘ सम्पूर्ण सत् हैं ‘ अथवा ‘ सम्पूर्ण असत् हैं ’ आदि । असंभवताका परिहार करते हुए वस्तुके
 किसी धर्मको निरूपण करनेमें प्रवृत्त वचनको संभावना सत्य कहते हैं । जैसे इन्द्र जम्बूद्वीपको
 लौटादे अथवा लौटा सकता है । आगमोक्त विधि निषेधके अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थोंमें संकल्पित
 परिणामोंको भाव कहते हैं, उसके आश्रित जो वचन हों उसको भावसत्य कहते हैं । जैसे
 शुष्क पक्क तप्त और निमक मिर्च खटाई आदिसे अच्छीतरह मिलाया हुआ द्रव्य प्रासुक होता
 है । यहां पर यद्यपि सूक्ष्म जीवोंको इन्द्रियोंसे देख नहीं सकते तथापि अगमप्रामाण्यसे उसकी
 प्रासुकताका वर्णन किया जाता है । इसलिये इसही तरहके पापवर्ज वचनको भावसत्य कहते
 हैं । दूसरे प्रसिद्ध सदृश पदार्थको उपमा कहते हैं । इसके आश्रयसे जो वचन बोला जाय
 उसको उपमासत्य कहते हैं । जैसे पल्य । यहां पर रोमखण्डोंका आधारभूत गड्ढा, पल्य
 अर्थात् खासके सदृश होता है इसलिये उसको पल्य कहते हैं । इस संख्याको उपमासत्य कहते
 हैं । इस प्रकारके ये दशप्रकारके सत्यके दृष्टान्त हैं इसलिये और भी इस ही तरह जानना ।
 दो गाथाओंमें अनुभय वचनके भेदोंको गिनते हैं ।

आमंतणि आणवणी याचणिया पुच्छणी य पणवणी ।

पच्चखाणी संसयवयणी इच्छाणुलोमा य ॥ २२४ ॥

णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवन्ति भासाओ ।

सोदाराणं जम्हा वत्तावत्तंससंजणया ॥ २२५ ॥

आमन्त्रणी आज्ञापनी याचनी आपृच्छनी च प्रज्ञापनी ।

प्रत्याख्यानी संशयवचनी इच्छानुलोम्नी च ॥ २२४ ॥

नवमी अनक्षरगता असत्यभूषा भवन्ति भाषाः ।

श्रोतॄणां यस्मात् व्यक्ताव्यक्तांशसंज्ञापिकाः ॥ २२८ ॥

अर्थ—आमन्त्रणी, आज्ञापनी, याचनी, आपृच्छनी, प्रज्ञापनी, प्रत्याख्यानी, संशयवचनी, इच्छानुलोम्नी, अनक्षरगता ये नव प्रकारकी अनुभयात्मक भाषा है। क्योंकि इनके सुननेवालेको व्यक्त और अव्यक्त दोनोंही अंशोंका ज्ञान होता है। भावार्थ—हे देवदत्त ! यहाँ आओ, इसतरहके बुलानेवाले वचनोंको आमन्त्रणी भाषा कहते हैं। यह काम करो, इसतरहके आज्ञा वचनोंको आज्ञापनी भाषा कहते हैं। यह मुझको दो, इसतरहके प्रार्थनावचनोंको याचनी भाषा कहते हैं। यह क्या है ? इसतरहके प्रश्नवचनोंको आपृच्छनी भाषा कहते हैं। मैं क्या करूँ, इसतरहके सूचनावाक्योंको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। इसको छोड़ता हूँ, इसतरहके छोड़नेवाले वाक्योंको प्रत्याख्यानी भाषा कहते हैं। यह बलाका है अथवा पताका, ऐसे संदिग्ध वचनोंको संशयवचनी भाषा कहते हैं। मुझको भी ऐसा ही होना चाहिये, ऐसे इच्छाको प्रकटकरनेवाले वचनोंको इच्छानुलोम्नी भाषा कहते हैं। द्वीन्द्रियादिक असंज्ञिपंचेन्द्रियपर्यन्त जीवोंकी भाषा अनक्षरात्मक होती है। ये सब ही भाषा अनुभयवचन रूप हैं। क्योंकि इनके सुननेसे व्यक्त और अव्यक्त दोनों ही अंशोंका बोध होता है। इसलिये सामान्य अंशके व्यक्त होनेसे असत्य भी नहीं कहसकते, और विशेष अंशके व्यक्त न होनेसे सत्य भी नहीं कहसकते।

चारों प्रकारके मनोयोग तथा वचनयोगका मूलकारण बताते हैं ।

मणवयणाणं मूलणिमित्तं खलु पुण्णदेहउदओ दु ।

भोसुभयाणं मूलणिमित्तं खलु होदि आवरणं ॥२२६ ॥

मनोवचनयोर्मूलनिमित्तं खलु पूर्णदेहोदयस्तु ।

मृषोभययोर्मूलनिमित्तं खलु भवत्यावरणम् ॥ २२६ ॥

अर्थ—सत्य और अनुभय मनोयोगका तथा वचनयोगका मूलकारण पर्याप्ति और शरीर नामकर्मका उदय है। मृषा और उभय मनोयोग तथा वचनयोगका मूलकारण अपना २ आवरण कर्म है ।

सयोगकेवलीके मनोयोगकी संभवता बताते हैं ।

मणसहियाणं वयणं दिट्ठं तप्पुव्वमिदि सजोगहि ।

उत्तो मणोवयरेणिंदियणाणेण हीणहि ॥ २२७ ॥

मनःसहितानां वचनं दृष्टं तत्पूर्वमिति सयोगे ।

उक्तो मन उपचारेणेन्द्रियज्ञानिन हीने ॥ २२७ ॥

अर्थ—अस्मदादिक छद्मस्थ मनसहित जीवोंके वचनप्रयोग मनपूर्वक ही होता है ।

इसलिये इन्द्रियज्ञानसे रहित सयोगकेवलीके भी उपचारसे मन कहा है । भावार्थ—यद्यपि उनके मन मुख्यतया नहीं है तथापि उनके वचनप्रयोग होता है । और वह वचनप्रयोग अस्मदादिकके विना मनके होता नहीं, इसलिये उनके भी उपचारसे मनकी कल्पना की जाती है ।

अस्मदादिक निरतिशय पुरुषोंमें होनेवाले स्वभावको देखकर सातिशय भगवान्में भी उसकी कल्पना करना अयुक्त है फिर भी उसकी कल्पना कग्नेका क्या हेतु है ? यह बताते हैं ।

अंगोर्बगुदयादो दध्वमणठं जिणिंदचंदम्हि ।

मणवग्गणखंधाणं आगमणादो दु मणजोगो ॥२२८॥

आङ्गोपाङ्गोदयात् द्रव्यमनोर्थं जिनेन्द्रचन्द्रे ।

मनोवर्गणास्कन्धानामागमनात् तु मनोयोगः ॥ २२८ ॥

अर्थ—आङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे हृदयस्थानमें विकसित अष्टदल पद्मके आकार द्रव्यमन होता है । इस द्रव्यमनकी कारणभूत मनोवर्गणाओंका सयोगकेवली भगवान्के आगमन होता है । इस लिये उपचारसे मनोयोग कहा है । भावार्थ—यद्यपि मनके कार्य नहीं हैं, तथापि उसके एक कारणका सद्भाव है अतः उसकी अपेक्षासे उपचारसे मनोयोगको भी कहा है ।

काययोगकी आदिमें औदारिक काययोगको निरुक्तिपूर्वक कहते हैं ।

पुरुमहदुदारुरालं एयटो संविजाण तह्मि भवं ।

औरालियं तमुच्चइ औरालियकायजोगो सो ॥ २२९ ॥

पुरुमहदुदारुमुरालमेकार्थः संविजानीहि तस्मिन् भवम् ।

औरालिकं तदुच्यते औरालिककाययोगः सः ॥ २२९ ॥

अर्थ—पुरु महत् उदार उराल ये शब्द एकार्थवाचक हैं । उदारमें जो होय उसको औदारिक कहते हैं । यहांपर भव अर्थमें ठण् प्रत्यय होता है । उदारमें होनेवाला जो काययोग उसको औदारिक काययोग कहते हैं । भावार्थ—मनुष्य और तिर्यञ्चोंका शरीर वैकृत्यिकादिक शरीरोंकी अपेक्षा स्थूल है, इसलिये इसको उदार अथवा उराल कहते हैं । और इसके द्वारा होनेवाले योगको औदारिक काययोग कहते हैं । यह योगरूढ संज्ञा है ।

औदारिकमिश्रयोगको कहते हैं ।

औरालिय उत्तत्थं विजाण मिसं तु अपरिपुणं तं ।

जो तेण संपजोगो औरालियमिस्सजोगो सो ॥ २३० ॥

औरालिकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।

यस्तेन संप्रयोगः औरालिकमिश्रयोगः सः ॥ २३० ॥

अर्थ—जिस औदारिक शरीरका स्वरूप पहले बता चुके हैं, वही शरीर जब तक पूर्ण नहीं होता तबतक मिश्र कहा जाता है । और उसके द्वारा होनेवाले योगको औदारिकमिश्रयोग कहते हैं । भावार्थ—शरीरपर्याप्तसे पूर्व कर्मणशरीरकी सहायतासे होनेवाले औदारिक काय-योगको औदारिकमिश्रकाययोग कहते हैं ।

वैक्रियिक काययोगको बताते हैं ।

विविहगुणइद्विजुत्तं विकिरियं वा ह्रु होदि वेगुब्बं ।

तिस्से भवं च णेयं वेगुब्बियकायजोगो सो ॥ २३१ ॥

विविधगुणैर्द्वयुक्तं विक्रियं वा हि भवति विगूर्वम् ।

तस्मिन् भवं च ज्ञेयं वैगूर्विकाययोगः सः ॥ २३१ ॥

अर्थ—नाना प्रकारके गुण और ऋद्धियोंसे युक्त देव तथा नारकियोंके शरीरको वैक्रियिक अथवा विगूर्व कहते हैं । और इसके द्वारा होनेवाले योगको वैगूर्विक अथवा वैक्रियिककाययोग कहते हैं ।

वैक्रियिक काययोगकी सम्भावना कहां २ पर है यह बताते हैं ।

बादरतेऊवाऊपंचिर्दियपुण्णगा विगुब्बन्ति ।

ओरालियं शरीरं विगुब्बणप्पं हवे जेसिं ॥ २३२ ॥

बादरतेजोवायुपंचेन्द्रियपूर्णका विगूर्वन्ति ।

औरालिकं शरीरं विगूर्वणात्मकं भवेत् येषाम् ॥ २३२ ॥

अर्थ—बादर (स्थूल) तेजस्कायिक और वायुकायिक तथा संज्ञी पर्याप्त पंचेन्द्रिय, और भोगभूमिज तिर्यग् मनुष्य भी विक्रिया करते हैं । इसलिये इनका भी औदारिक शरीर वैक्रियिक होता है । भावार्थ—यद्यपि इन जीवोंका शरीर औदारिक वैक्रियिक होता है, परन्तु यह विक्रिया अपृथक् विक्रिया होती है । किन्तु भोगभूमिज और चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया करते हैं ।

वैक्रियिक मिश्र काययोगको बताते हैं ।

वेगुब्बियउत्तरथं विजाण मिससं तु अपरिपुण्णं तं ।

जो तेण संपजोगो वेगुब्बियमिस्सजोगो सो ॥ २३३ ॥

वैगूर्विकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।

यस्तेन संप्रयोगो वैगूर्विकमिश्रयोगः सः ॥ २३३ ॥

अर्थ—उक्त वैक्रियिक शरीर जबतक पूर्ण नहीं होता तब तक उसको वैक्रियिकमिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको वैक्रियिकमिश्रकाययोग कहते हैं । भावार्थ—

उत्पत्तिके समयसे अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त वैकृत्यिक शरीरसे जब कर्मण शरीरकी सहायतासे योग होता है तब उस योगको वैकृत्यिकमिश्र काययोग कहते हैं ।

आहारक काययोगका निरूपण करते हैं ।

आहारस्सुदयेण य पमत्तविरदस्स होदि आहारं ।

असंजमपरिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं च ॥ २३४ ॥

आहारस्योदयेन च प्रमत्तविरतस्य भवति आहारकम् ।

असंयमपरिहरणार्थं संदेहविनाशनार्थं च ॥ २३४ ॥

अर्थ—असंयमके परिहार तथा संदेहको दूर करनेकेलिये छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारकशरीरनामकर्मके उदयसे आहारक शरीर होता है ।

णियखेत्ते केवल्लिदुगविरहे णिक्कमणपहुदिकल्लाणे ।

परखेत्त संवित्ते जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥ २३५ ॥

निजक्षेत्रे केवल्लिद्विकविरहे निःक्रमणप्रभृतिकल्याणे ।

परक्षेत्रे संवृत्ते जिनजिनगृहवंदनार्थं च ॥ २३५ ॥

अर्थ—अपने क्षेत्रमें केवली तथा श्रुतकेवलीका अभाव होनेपर किन्तु दूसरे क्षेत्रमें जहां पर कि औदारिक शरीरसे उस समय पहुंच नहीं सकता, तपकल्याणक आदिके होनेपर, और जिन जिनगृह (चैत्यालय) की वन्दनाकेलिये भी आहारक ऋद्धिको प्राप्त छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीर उत्पन्न होता है ।

उत्तमअंगमिह हवे धादुविहीणं सुहं असंहणणं ।

सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥ २३६ ॥

उत्तमाङ्गे भवेत् धातुविहीनं शुभमसंहननम् ।

शुभसंस्थानं धवलं हस्तप्रमाणं प्रशस्तोदयम् ॥ २३६ ॥

अर्थ—यह आहारक शरीर रसादिक धातु और संहननसे रहित, समचतुरस्र संस्थानसे युक्त, चन्द्रकान्तके समान श्वेत, एक हस्तप्रमाणवाला आहारकशरीरादिक शुभ नामकर्मके उदयसे उत्तमाङ्ग-शिरसे उत्पन्न होता है ।

अव्वाधादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहाण्णिदरे ।

पज्जत्तीसंणुणे मरणापि कदाचि संभवइ ॥ २३७ ॥

अव्याधाति अन्तर्मुहूर्तकालस्थिती जघन्येतरे ।

पर्याप्तिसंपूर्णायां मरणमपि कदाचित् संभवति ॥ २३७ ॥

अर्थ—न तो इस शरीरके द्वारा किसी दूसरे पदार्थका और न दूसरे पदार्थके द्वारा इस शरीरका ही व्याघात होता है । तथा इसकी जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त-

मात्र है । आहार शरीरपर्याप्तिके पूर्ण होने पर कदाचित् आहारकक्रद्धिवाले मुनिका मरण भी हो सकता है ।

आहारक काययोगका निरुक्तिसिद्ध अर्थ बताते हैं ।

आहारदि अणेण मुर्णा सुहमे अत्थे सयस्स संदेहे ।

गत्ता केवलि णासं तम्ह आहारगो जोगो ॥ २३८ ॥

आहारत्यनेन मुनिः सूक्ष्मानर्थान् स्वस्य संदेहे ।

गत्वा केवलिपार्थं तस्मादाहारको योगः ॥ २३८ ॥

अर्थ—छठे गुणस्थानवर्ती मुनि अपनेको संदेह होनेपर इस शरीरके द्वारा केवलीके पासमें जाकर सूक्ष्म पदार्थोंका आहरण (ग्रहण) करता है इसलिये इस शरीरके द्वारा होनेवाले योगको आहारकाययोग कहते हैं ।

आहारक मिश्रयोगका निरूपण करते हैं ।

आहारयमुत्तत्थं विजाण मिसं तु अपरिपुण्णं तं ।

जो तेण संपजोगो आहारयमिस्सजोगो सो ॥ २३९ ॥

आहारकमुक्तार्थं विजानीहि मिश्रं तु अपरिपूर्णं तत् ।

यस्तेन संप्रयोग आहारकमिश्रयोगः सः ॥ २३९ ॥

अर्थ—उक्त आहारक शरीर जब तक पर्याप्त नहीं होता तब तक उसको आहारक-मिश्र कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको आहारकमिश्रयोग कहते हैं ।

कार्मणकाययोगको बताते हैं ।

कम्मेव य कम्मभवं कम्मइयं जो दु तेण संजोगो ।

कम्मइयकायजोगो इगिविगतिगसमयकालेसु ॥ २४० ॥

कर्मेव च कर्मभवं कार्मणं यस्तु तेन संयोगः ।

कार्मणकाययोग एकद्विकत्रिकसमयकालेषु ॥ २४० ॥

अर्थ—ज्ञानावरणादिक अष्टकर्मोंके समूहको अथवा कार्मणशरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाली कायको कार्मणकाय कहते हैं । और उसके द्वारा होनेवाले योगको कार्मणकाययोग कहते हैं । यह योग एक दो अथवा तीन समयतक होता है । भावार्थ—विग्रहगतिमें और केवलसमुद्घातमें भी तीन समय पर्यन्त ही कार्मणकाययोग होता है; किन्तु दूसरे योगोंका ऐसा नियम नहीं है । यहां पर जो समय और काल ये दो शब्द दिये हैं उससे यह सूचित होता है कि शेष योगोंका अव्याघातकी अपेक्षा अन्तर्मुहूर्त और व्याघातकी

१ दो प्रतर और एक लोकपूर्ण समुदातकी अपेक्षा केवलसमुदातमें भी कार्मणयोगको तीन ही समय कहते हैं ।

अपेक्षा एक समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त काल है। यह काल एक जीवकी अपेक्षासे है। किन्तु नाना जीवोंकी अपेक्षा आठ अन्तर मार्गणाओंको छोड़कर बाकी निरन्तरमार्गणाओंका सर्व काल है।

योगप्रवृत्तिका प्रकार बताते हैं।

वेगुद्विव्यआहारयकिरिया ण समं पमत्तविरव्मिह ।

जोगोवि एक्ककाले एक्केव य होदि णियमेण ॥ २४१ ॥

वैगूर्विकाहारकक्रिया न समं प्रमत्तविरते ।

योगोऽपि एककाले एक एव च भवति नियमेन ॥ २४१ ॥

अर्थ—छठे गुणस्थानमें वैक्रियिक और आहारक शरीरकी क्रिया युगपत् नहीं होती । और योग भी नियमसे एक कालमें एक ही होता है ।

योगरहितका वर्णन करते हैं ।

जेसिं ण संति जोगा सुहासुहा पुण्णपावसंजणयां ।

ते ह्योति अजोगिजिणा अणोवमाणंतबलकालिया ॥ २४२ ॥

येषां न सन्ति योगाः शुभाशुभाः पुण्यपापसंजनकाः ।

ते भवन्ति अयोगिजिना अनुपमानन्तबलकालिताः ॥ २४२ ॥

अर्थ—जिनके पुण्य और पापके करणभूत शुभाशुभ योग नहीं हैं उनको अयोगिजिन कहते हैं । वे अनुपम और अनन्त बल करके युक्त होते हैं ।

शरीरमें कर्म नोकर्मका विभाग करते हैं ।

ओरालियवेगुद्विव्यआहारयतेजणामकम्मदये ।

चउणोकम्मसरीरा कम्मेव य होदि कम्मइयं ॥ २४३ ॥

औरालिकवैगूर्विकाहारकतेजोनामकर्मोदये ।

चतुर्नोकर्मशरीराणि कर्मेव च भवति कर्मणम् ॥ २४३ ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक तैजस नामकर्मके उदयसे होनेवाले चार शरीरोंको नोकर्म कहते हैं । और कर्मण शरीर नामकर्मके उदयसे होनेवाले ज्ञानावरणादिक आठ कर्मोंके समूहको कर्मण शरीर कहते हैं ।

औदारिकादिकोंकी समयप्रबद्धकी संख्याको बताते हैं ।

परमाणूहिं अणंतहिं वग्गणसण्णा हु होदि एक्का हु ।

ताहि अणंतहिं णियमा समयपबद्धो हवे एक्को ॥ २४४ ॥

परमाणुभिरनन्तैर्वर्गणासंज्ञा हि भवत्येका हि ।

ताभिरनन्तैर्नियमात् समयप्रबद्धो भवेदेकः ॥ २४४ ॥

अर्थ—अनन्त (अनन्तानन्त) परमाणुओंकी एक वर्गणा होती है । और अनन्त वर्गणाओंका नियमसे एक समयप्रबद्ध होता है ।

ताणं समयपबद्धा सेद्विअसंखेज्जभागगुणितकमा :

णंतेण य तेजदुगा परं परं होदि सुहमं खु ॥ २४५ ॥

तेषां समयप्रबद्धाः श्रेण्यसंख्येयभागगुणितक्रमाः ।

अनन्तेन च तेजोद्विका परं परं भवति सूक्ष्मं खलु ॥ २४५ ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक इन तीन शरीरोंके समयप्रबद्ध उत्तरोत्तर क्रमसे श्रेणिके असंख्यातमे भागसे गुणित हैं और तैजस तथा कार्मण अनन्तगुणे हैं । किन्तु ये पांचो ही शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं । भावार्थ—औदारिकमे वैक्रियिकके और वैक्रियिकसे आहारकके समयप्रबद्ध श्रेणिके असंख्यातमे भाग गुणित हैं । किन्तु आहारकसे तैजसके अनन्तगुणे और तैजससे कर्मणशरीरके समयप्रबद्ध अनन्तगुणे हैं । इस तरह समयप्रबद्धोंकी संख्याके अधिक २ होनेपर भी ये पांचो शरीर उत्तरोत्तर सूक्ष्म २ हैं ।

औदारिकादिक शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंका अवगाहनप्रमाण बताते हैं ।

ओगाहणाणि ताणं समयपबद्धाण वग्गणाणं च ।

अंगुलअसंखभागा उवरुवरिमसंखगुणहीणा ॥ २४६ ॥

अवगाहनानि तेषां समयप्रबद्धानां वर्गणानां च ।

अङ्गुलासंख्यभागा उपर्युपरि असंख्यगुणहीनानि ॥ २४६ ॥

अर्थ—इन शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंकी अवगाहनाका प्रमाण सामान्यसे अंगुलके असंख्यातमे भाग है; किन्तु आगे आगेके शरीरोंके समयप्रबद्ध और वर्गणाओंकी अवगाहनाका प्रमाण क्रमसे असंख्यातगुणा २ हीन है ।

इस ही प्रमाण को माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव भी कहते हैं ।

तस्समयबद्धवग्गणओगाहो सुहअंगुलासंख- ।

भागहिद्विंदअंगुलमुवरुवरिं तेण भजिदकमा ॥ २४७ ॥

तत्समयबद्धवर्गणावगाहः सूच्यङ्गुलासंख्य—।

भागहितवृन्दाङ्गुलमुपर्युपरि तेन भजितक्रमाः ॥ २४७ ॥

अर्थ—औदारिकादि शरीरोंके समयप्रबद्ध तथा वर्गणाओंका अवगाहन सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागसे भक्त घनाङ्गुलप्रमाण है । और पूर्व २ की अपेक्षा आगे २ की अवगाहना क्रमसे असंख्यातगुणी २ हीन है ।

१ इस गाथाकी संस्कृतव्याख्या श्रीमदभयचन्द्रसूरीने और हिन्दीभाषा टीका विद्वद्भ्यं श्रीटोडरमलजीने की है इसलिये हमने भी इसको यहाँपर लिख दिया है । किन्तु केशववर्णा टीकामें इसकी व्याख्या हमारे देखनेमें नहीं आई है ।

विस्त्रसोपचयका स्वरूप बताते हैं ।

जीवादो णंतगुणा पडिपरमाणुमिह विस्त्रसोबचया ।

जीवेण य समवेदा एक्केकं पाडि समाणा हु ॥ २४८ ॥

जीवतोऽनन्तगुणाः प्रतिपरमाणौ विस्त्रसोपचयाः ।

जीवेन च समवेता एकैकं प्रति समाना हि ॥ २४८ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त कर्म और नोकर्मकी प्रत्येक परमाणुपर समान संख्याको लिये हुए जीवराशिसे अनन्तगुणे विस्त्रसोपचयरूप परमाणु जीवके साथ सम्बद्ध हैं । **भावार्थ**—जीवके प्रत्येक प्रदेशोंके साथ जो कर्म और नोकर्म बंधे हैं, उन कर्म और नोकर्मकी प्रत्येक परमाणु के साथ जीवराशिसे अनन्तगुणे विस्त्रसोपचयरूप परमाणु सम्बद्ध हैं । जो कर्मरूप तो नहीं हैं किन्तु कर्मरूप होनेकेलिये उम्मेद वार हैं उन परमाणुओंको विस्त्रसोपचय कहते हैं ।

कर्म और नोकर्मके उत्कृष्ट संचयका स्वरूप तथा स्थान बताते हैं ।

उक्कस्तट्ठिदिचरिमे सगसगउक्कस्ससंचओ होदि ।

पणदेहाणं वरजोगादिससामग्गिसहियाणं ॥ २४९ ॥

उत्कृष्टस्थितिचरिमे स्वकस्वकोत्कृष्टसंचयो भवति ।

पञ्चदेहानां वरयोगादिस्वसामग्रीसहितानाम् ॥ २४९ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट योगको आदि लेकर जो २ सामग्री तत् कर्म या नोकर्मके उत्कृष्ट संचयमें कारण है उस २ सामग्रीके मिलनेपर औदारिकादि पांचो ही शरीरवालोंके उत्कृष्ट-स्थितिके अन्तसमयमें अपने २ योग्य कर्म और नोकर्मका उत्कृष्ट संचय होता है । **भावार्थ**—स्थितिके प्रथम समयसे लेकर प्रतिसमय समयप्रबद्धका बंध होता है, और उसके एक २ निषेक्की निर्जरा होती है । इस प्रकार शेष समयोंमें शेष निषेकोंका संचय होते २ स्थितिके अन्त समयमें आयुः कर्मको छोड़कर शेष कर्म और नोकर्मका उत्कृष्ट संचय होता है । यह संचय उत्कृष्ट योगादिक अपनी २ सामग्रीके मिलनेपर पांचो शरीरवालोंके होता है ।

उत्कृष्ट संचयकी सामग्रीविशेषको बताते हैं ।

आवासया हु भवअन्धाउस्सं जोगसंकिलेसो य ।

ओकुट्टुकट्टणया छच्चदे गुणिदकम्मंसे ॥ २५० ॥

आवश्यकानि हि भवाद्धा आयुष्यं योगसंश्लेशौ च ।

अपकर्षणोत्कर्षणके षट् चैते गुणितकर्मांशे ॥ २५० ॥

अर्थ—कर्मोंके उत्कृष्ट संचयसे युक्त जीवके उत्कृष्ट संचय नेकेलिये ये छह आवश्यक कारण होते हैं ।—भवाद्धा, आयुष्य, योग, संकेश, अपकर्षण, उत्कर्षण ।

पांचशरीरोंकी उत्कृष्टस्थितिका प्रमाण बताते हैं ।

पल्लतियं उवहीणं तेत्तीसांतेमुहुत्त उवहीणं ।

छवट्टी कम्मट्टिदि बंधुक्कस्सट्टिदी ताणं ॥ २५१ ॥

पल्यत्रयमुदधीनां त्रयस्त्रिंशदन्तर्मुहूर्त उदधीनाम् ।

षट्षष्टिः कर्मास्तुतिर्वन्धोत्कृष्टस्थितिस्तेषाम् ॥ २५१ ॥

अर्थ—औदारिक शरीरकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य, वैक्रियिक शरीरकी तेतीस सागर, आहारक शरीरकी अन्तर्मुहूर्त, तैजस शरीरकी छ्यामठ सागर है । कर्मण शरीरकी सामान्यसे सत्तर कोडाकोडी सागर किन्तु विशेषरूपसे ज्ञानावरण दर्शनावरण वेदनीय और अन्तराय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है । मोहनीयकी सत्तर कोडाकोडी सागर, नाम गोत्रकी बीस कोडाकोडी सागर, और आयुः कर्मकी केवल तेतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है ।

पाच शरीरोंकी उत्कृष्ट स्थितिके गुणहानि आयामका प्रमाण बताते हैं ।

अंतोमुहुत्तमेत्तं गुणहाणी होदि आदिमतिगाणं ।

पल्लासंखेज्जदिमं गुणहाणी तेजकम्माणं २५२ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्रा गुणहानिर्भवति आदिमात्रिकाणाम् ।

पल्यासंख्याता गुणहानिस्तेजःकर्मणोः ॥ २५२ ॥

अर्थ—औदारिक वैक्रियिक आहारक शरीरकी गुणहानिका प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है । और तैजस तथा कर्मण शरीरकी गुणहानिका प्रमाण पल्यके असंख्यातमे भाग-मात्र है ।

औदारिकादि शरीरोंके समयप्रबद्धका बंध उदय और सत्त्व अवस्थामें द्रव्यप्रमाण कितना रहता है यह बताते हैं ।

एक्कं समयपबद्धं बंधदि एक्कं उदेदि चरिमम्मि ।

गुणहाणीण दिवट्ठं समयपबद्धं हवे सत्तं ॥ २५३ ॥

एकं समयप्रबद्धं बध्नाति एकमुदेति चरमे ।

गुणहानीनां व्यर्थं समयप्रबद्धं भवेत् सत्त्वम् ॥ २५३ ॥

अर्थ—प्रति समय एक समयप्रबद्धका बंध होता है, और एक ही समयप्रबद्धका उदय होता है, किन्तु अन्तर्में कुछ कम डेढ गुणहानि गुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है ।

भावार्थ—पांचो शरीरोंमेंसे तैजस और कर्मणका तो प्रतिसमय बंध उदय सत्त्व होता है,

इस लिये इन दोनोंके समयप्रबद्धका प्रतिसमय बंध और उदय होता है, तथा किसी विवक्षित समयप्रबद्धके चरमनिषेक समयमें डेढ़ गुणहानि गुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है। किन्तु औदारिक तथा वैक्रियिक शरीरके समयप्रबद्धोंमें कुछ विशेषता है। वह इस प्रकार है कि जिस समयमें शरीर ग्रहण किया उस समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धके प्रथम निषेकका उदय होता है और द्वितीयादि समयोंमें द्वितीयादि निषेकोंका उदय होता है। और दूसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धका प्रथम निषेक तथा प्रथम समयमें बद्ध समयप्रबद्धका द्वितीय निषेक उदित होता है। इस ही तरह तृतीयादिक समयोंका हिसाब समझना चाहिये। इसलिये इस क्रमसे अन्तमें द्व्यर्धगुणहानि—गुणित समयप्रबद्धोंकी सत्ता रहती है। किन्तु आहारिक शरीरका युगपद् प्रथम समयप्रबद्धमात्र द्रव्यका उदय सत्त्व संचय रहता है।

औदारिक और वैक्रियिक शरीरमें विशेषताको बताते हैं।

णवरि य दुसरीराणं गलिदवसेसाउमेत्तठिदिबंधो ।

गुणहाणीण दिवह्वं संचयमुदयं च चरिमग्नि ॥ २५४ ॥

नवरि च द्विशरीरयोर्गलितावशेषायुर्मात्रस्थितिबन्धः ।

गुणहानीनां द्व्यर्ध संचयमुदयं च चरमे ॥ २५४ ॥

अर्थ—औदारिक और वैक्रियिक शरीरमें यह विशेषता है कि इन दोनों शरीरोंके वध्यमान समयप्रबद्धोंकी स्थिति भुक्त आयुसे अवशिष्ट आयुकी स्थितिप्रमाण होती है। और इनका आयुके अन्त समयमें डेढ़ गुणहानिमात्र उदय तथा संचय रहता है। भावार्थ—शरीरग्रहणके प्रथम समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति पूर्ण आयुःप्रमाण होती है। और दूसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धोंकी स्थिति एक समय कम आयुःप्रमाण और तीसरे समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धोंकी स्थिति दो समय कम आयुःप्रमाण होती है। इस ही प्रकार आगेके समयप्रबद्धोंकी स्थिति समझना चाहिये। इस क्रमके अनुसार अन्त समयमें बंधको प्राप्त होनेवाले समयप्रबद्धकी स्थिति एक समयमात्र होती है।

आयुके प्रथम समयसे लेकर अन्तसमय पर्यन्त बंधनेवाले समयप्रबद्धोंकी अवस्थिति, आयुके अन्तसमयसे आगे नहीं रह सकती इसलिये अन्त समयमें कुछ कम डेढ़ गुणहानिमात्र समयप्रबद्धोंका युगपत् उदय तथा संचय रहता है।

किस प्रकारकी आवश्यक सामग्रीसे युक्त जीवके किस स्थान पर औदारिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है यह बताते हैं।

ओरालियवरसंचं देवुत्तरकुरुवजादजीवस्स ।

तिरियमणुस्सस्स हवे चरिमदुचरिमे तिपल्लठिदिगस्स ॥ २५५ ॥

औरालिकवरसंचयं देवोत्तरकुरूपजातजीवस्य ।

तिर्यग्मनुष्यस्य भवेत् चरमद्विचरमे त्रिपल्यस्थितिकस्य ॥ २५५ ॥

अर्थ—तान पल्यकी स्थितिवाले देवकुरु तथा उत्तरकुरुमें उत्पन्न होनेवाले तिर्यग् और मनुष्योंके चरम तथा द्विचरम समयमें औदारिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है ।

वैक्रियिक शरीरके उत्कृष्ट संचयका स्थान बताते हैं ।

वेगुन्वियवरसंचं बावीससमुद्धारणदुग्महि ।

जह्मा वरजोभस्स य वारा अण्णत्थ णहि बहुगा ॥ २५६ ॥

वैगूर्विकवरसंचयं द्वाविंशतिसमुद्रमारणद्विके ।

यस्मात् वरयोगस्य च वारा अन्यत्र नहि बहुकाः ॥ २५६ ॥

अर्थ—वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट संचय, बाईस सागरकी आयुवाले आरण और अच्युत स्वर्गके उपरके विमानोंमें रहनेवाले देवोंके ही होता है । क्योंकि वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट योग तथा उसके योग्य दूसरी सामग्रियां अन्यत्र अनेकवार नहीं होती ।

भावार्थ—आरण अच्युत स्वर्गके उपरितन विमानोंमें रहनेवाले देवोंके ही जिनकी आयु बाईस सागरकी है वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट योग तथा दूसरी सामग्री अनेक बार होती हैं, इसलिये इन देवोंके ही वैक्रियिक शरीरका उत्कृष्ट संचय होता है ।

तैजस तथा कर्मणके उत्कृष्ट संचयका स्थान बताते हैं ।

तेजासरीरजेट्ठं सत्तमचरिमहि विदियवारस्स ।

कम्मस्स वि तत्थेव य णिरये बहुवारभमितस्स ॥ २५७ ॥

तैजसशरीरज्येष्ठं सप्तमचरमे द्वितीयवारस्य ।

कर्मणस्यापि तत्रैव च निरये बहुवारभ्रमितस्य ॥ २५७ ॥

अर्थ—तैजस शरीरका उत्कृष्ट संचय सप्तम पृथिवीमें दूसरीवार उत्पन्न होनेवाले जीवके होता है । और कर्मण शरीरका उत्कृष्ट संचय अनेक बार नरकोंमें भ्रमण करके सप्तम पृथिवीमें उत्पन्न होनेवाले जीवके होता है । आहारक शरीरका उत्कृष्ट संचय आहारक शरीरका उत्पादन करनेवाले प्रमत्तविरतके ही होता है ।

योगमार्गणमें जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

बादरपुण्णा तेज सगरासीए असंखभागमिदा ।

विकिरियसत्तिजुत्ता पल्लासंखेज्जया बाऊ ॥ २५८ ॥

बादरपूर्णाः तैजसाः स्वकराशेरसंख्यभागमिताः ।

विक्रियाशक्तियुक्ताः पल्यासंख्याता वायवः ॥ २५८ ॥

अर्थ—बादर पर्याप्तक तैजसकायिक जीवोंका जितना प्रमाण है उसमें असंख्यात

भागप्रमाण विक्रिया शक्तिसे युक्त हैं । और वायुकायिक जितने जीव हैं उनमें पल्पके असंख्यातमे भाग विक्रियाशक्तिसे युक्त हैं ।

पलासंखेज्जाहयविदंगुलगुणिदसेढिमेत्ता हु ।

वेगुवियपंचक्खा भोगभूमा पुह विगुव्वन्ति ॥ २५९ ॥

पल्पासंख्याताहतवृन्दाङ्गुलगुणितश्रेणिमात्रा हि ।

वैगूर्विकपञ्चाक्षा भोगभूमाः पृथक् विगूर्वन्ति ॥ २५९ ॥

अर्थ—पल्पके असंख्यातमे भागसे अभ्यस्त (गुणित) घनाङ्गुलका जगच्छ्रेणीके साथ गुणा करने पर जो लब्ध आवे उतने ही पर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यचोंमें वैकिक्रियक योगके धारक हैं । और भोगभूमिया तिर्यच तथा मनुष्य तथा कर्मभूमियाओंमें चक्रवर्ती पृथक् विक्रिया करते हैं । **भावार्थ**—विक्रिया दो प्रकारकी होती है, एक पृथक् विक्रिया दूसरी अपृथक् विक्रिया । जो अपने शरीरके सिवाय दूसरे शरीरादिक बनाना इसको पृथक् विक्रिया कहते हैं । और जो अपने शरीरके ही अनेक आकार बनाना इसको अपृथक् विक्रिया कहते हैं । इन दोनों प्रकारकी विक्रियाके धारक तिर्यच तथा मनुष्योंकी संख्या ऊपर कही हुई है ।

देवेहिं सादरेया तिजोगिणो तेहिं हीण तसपुण्णा ।

बियजोगिणो तदूणा संसारी एक्कजोगा हु ॥ २६० ॥

देवैः सातिरेकाः त्रियोगिनस्तैर्हीनाः त्रसपूर्णाः ।

द्वियोगिनस्तदूना संसारिणः एकयोगा हि ॥ २६० ॥

अर्थ—देवसे कुछ अधिक त्रियोगियोंका प्रमाण है । पर्याप्त त्रसराशिमेंसे त्रियोगियोंको घटानेपर जो शेष रहे उतना द्वियोगियोंका प्रमाण है । संसारराशिमेंसे द्वियोगी तथा त्रियोगियोंका प्रमाण घटानेसे एकयोगवालोंका प्रमाण निकलता है । **भावार्थ**—नारकी देव संज्ञिपर्याप्त पंचेन्द्रिय तिर्यच पर्याप्त मनुष्य इनका जितना प्रमाण है उतना ही त्रियो-गियोंका प्रमाण है । त्रसराशिमेंसे त्रियोगियोंका प्रमाण घटानेपर द्वियोगियोंका और त्रियोगि तथा द्वियोगियोंका प्रमाण घटानेपर एकयोगियोंका प्रमाण

अंतोमुहुत्तमेत्ता चउमणजोगा कमेण संखगुणा ।

तज्जोगो सामण्णं चउवचिजोगा तदो दु संखगुणा ॥ २६१ ॥

अन्तर्मुहूर्तमात्राः चतुर्मेनोयोगाः क्रमेण संख्यगुणाः ।

तद्योगः सामान्यं चतुर्वचोयोगाः ततस्तु संख्यगुणाः ॥ २६१ ॥

अर्थ—सत्य असत्य उभय अनुभय इन चार मनोयोगोंमें प्रत्येकका काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्तमात्र है तथापि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका काल क्रमसे संख्यातगुणा है । और चारोंके जोड़का प्रमाण भी अन्तर्मुहूर्तमात्र ही है । इस ही प्रकार चारों मनोयोगोंके जोड़का जितना प्रमाण है उससे संख्यातगुणा काल चारों वचनयोगोंका है । और प्रत्येक वचनयोगका काल भी अन्तर्मुहूर्त है । तथा पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका प्रमाण संख्यातगुणा है । और चारोंके जोड़का प्रमाण भी अन्तर्मुहूर्त है ।

तज्जोगो सामगणं काओ संखाहदो तिजोगमिदं ।

सव्वसमासविभजिदं सगसगगुणसंगुणे दु सगरासी ॥ २६२ ॥

तज्जोगः सामान्यं कायः संख्याहतः त्रियोगिमितम् ।

सर्वसमासविभक्तं स्वकस्वकगुणसंगुणे तु स्वकराशिः ॥ २६२ ॥

अर्थ—चारो वचनयोगोंके जोड़का जो प्रमाण हो वह सामान्यवचनयोगका काल है । इससे संख्यातगुणा काययोगका काल है । तीनों योगोंके कालको जोड़देनेसे जो समयोंका प्रमाण हो उसका पूर्वोक्त त्रियोगिजीवराशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उस एक भागसे अपनी २ राशिका गुणा करने पर अपनी २ राशिका प्रमाण निकलता है । **भावार्थ**—तीनों योगोंके जोड़का काल ८५×१७०१ अन्तर्मुहूर्तमात्र है । इसके जितने समय हों उनका त्रियोगिजीवोंके प्रमाणमें भाग दीजिये । लब्ध एक भागके साथ सत्यमनोयोगीके कालके जितने समय हैं उनका गुणा कीजिये, जो लब्ध आवे वह सत्यमनोयोगवाले जीवोंका प्रमाण है । इस ही प्रकार असत्यमनोयोगीसे लेकर काययोगी पर्यन्त जीवोंमें प्रत्येकका प्रमाण समझना ।

कम्मोरालियमिस्सयओरालद्धासु संचिदअणंता ।

कम्मोरालियमिस्सयओरालियजोगिणो जीवा ॥ २६३ ॥

कर्मणौदारिकमिश्रकौरालद्धासु संचितानन्ताः ।

कर्मणौरालिकमिश्रकौरालिकयोगिणो जीवाः ॥ २६३ ॥

अर्थ—कर्मणकाययोग औदारिकमिश्रयोग तथा औदारिककाययोगके समयमें एकत्रित होनेवाले कर्मणयोगी औदारिकमिश्रयोगी तथा औदारिककाययोगी जीव अनन्तानन्त हैं ।

इस ही अर्थको स्पष्ट करते हैं ।

समयत्तयसंखावलिसंखगुणावलिसमासहिदरासी ।

सगगुणगुणिद्वे थोवो असंखसंखाहदो कमसो ॥ २६४ ॥

समयत्रयसंख्यावलिसंख्यगुणावलिसमासहितराशिषु ।

स्वकगुणगुणिते स्तोकः असंख्यसंख्याहतः क्रमशः ॥ २६४ ॥

अर्थ—कर्मणकाययोगका काल तीन समय, औदारिकमिश्रयोगका काल संख्यात आवली, औदारिक काययोगका काल संख्यात गुणित (औदारिकमिश्रके कालसे) आवली है। इन तीनोंको जोड़ देनेसे जो समयोंका प्रमाण हो उसका एकयोगिजीवराशिमें भाग देनेसे लब्ध एक भागके साथ कर्मणकालका गुणा करने पर कर्मणकाययोगी जीवोंका प्रमाण निकलता है। इस ही प्रकार उसी एक भागके साथ औदारिकमिश्रकाल तथा औदारिककालका गुणा करनेपर औदारिकमिश्रकाययोगी और औदारिककाययोगी जीवोंका प्रमाण होता है। इन तीनों तरहके जीवोंमें सबसे कम कर्मण काययोगी हैं उनसे असंख्यातगुणे औदारिकमिश्रयोगी हैं और उनसे संख्यातगुणे औदारिककाययोगी हैं।

चार गाथाओंमें वैक्रियिकमिश्र तथा वैक्रियिककाययोगके धारक जीवोंका प्रमाण बताते हैं।

सोवक्कमाणुवक्कमकालो संखेज्जवासठिदिवाणे ।

आवालिअसंखभागो संखेज्जावलिपमा कमसो ॥ २६५ ॥

सोपक्रमानुपक्रमकालः संख्यातवर्षस्थितिवाने ।

आवलयसंख्यभागः संख्यातावलिप्रमः क्रमशः ॥ २६५ ॥

अर्थ—संख्यातवर्षकी स्थितिवाले उसमें भी प्रधानतया जघन्य दश हजार वर्षकी स्थितिवाले व्यन्तर देवोंका सोपक्रम तथा अनुपक्रम काल क्रमसे आवलीके असंख्यातमे भाग और संख्यात आवली प्रमाण है। भावार्थ—उत्पत्तिसहित कालको सोपक्रम काल कहते हैं। और उत्पत्तिरहित कालको अनुपक्रम काल कहते हैं। यदि व्यन्तर देव निरन्तर उत्पन्न हों तो आवलीके असंख्यातमे भागमात्रकाल पर्यन्त उत्पन्न होते ही रहें। यदि कोई भी व्यन्तर देव उत्पन्न न हो तो ज्यादासे ज्यादा संख्यात आवलीमात्र काल पर्यन्त (बारह मुहूर्त) उत्पन्न न हो, पीछे कोई न कोई उत्पन्न हो ही।

तहिं सव्वे सुद्धसला सोवक्कमकालदो दु संखगुणा ।

तत्तो संखगुणूणा अपुण्णकालमिह सुद्धसला ॥ २६६ ॥

तस्मिन् सर्वाः शुद्धशलाकाः सोपक्रमकालतस्तु संख्यगुणाः ।

ततः संख्यगुणोना अपूर्णकाले शुद्धशलाकाः ॥ २६६ ॥

अर्थ—जघन्य दश हजार वर्षकी स्थितिमें अनुपक्रमकालको छोड़कर पर्याप्त तथा अपर्याप्त कालसम्बन्धी सोपक्रम कालकी शलाकाका प्रमाण, सोपक्रमकालके प्रमाणसे संख्यात गुणा है। और इससे संख्यातगुणा कम अपर्याप्तकालसम्बन्धी सोपक्रमकालकी शलाकाका

प्रमाण है । भावार्थ—स्थितिके प्रमाणमें जितनीवार सोपकम कालका सम्भव हो उसको शलाका कहते हैं । इसका प्रमाण उक्त क्रमानुसार समझना ।

तं सुद्धसलागाहिदणियरासिमपुण्णकाललद्धाहिं ।

सुद्धसलागाहिं गुणे वेंतरवेगुव्वमिस्सा हु ॥ २६७ ॥

तं शुद्धशलाकाहितनिजराशिमपूर्णकाललब्धामिः ।

शुद्धशलाकाभिर्गुणे व्यन्तरवैगूर्वमिश्रा हि ॥ २६७ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त व्यन्तर देवोंके प्रमाणमें शुद्ध उपक्रम शलाकाका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपर्याप्त-काल-सम्बन्धी शुद्ध उपक्रम शलाकाके साथ गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतने ही वैक्रियिकमिश्रयोगके धारक व्यन्तरदेव समझने चाहिये । भावार्थ—संख्यात वर्षकी स्थितिवाले व्यन्तरदेव अधिक उत्पन्न होते हैं इसलिये उनकीही मुख्यतासे यहां प्रमाण बताया है ।

तहिं सेसदेवणारयमिस्सजुदे सव्वमिस्सवेगुव्वं ।

सुरणिरयकायजोगा वेगुव्वियकायजोगा हु ॥ २६८ ॥

तस्मिन् शेषदेवनारकमिश्रयुते सर्वमिश्रवैगूर्वम् ।

सुरनिरयकाययोगा वैगूर्विककाययोगा हि ॥ २६८ ॥

अर्थ—उक्त व्यन्तरोंके प्रमाणमें शेष भवनवासी, ज्योतिषी, वैमानिक और नार-क्रियोंके मिश्र काययोगका प्रमाण मिलानेसे सम्पूर्ण मिश्र वैक्रियिक काययोगका प्रमाण होता है । और देव तथा नारक्रियोंके काययोगका प्रमाण मिलानेसे समस्त वैक्रियिक काय-योगका प्रमाण होता है ।

आहारककाययोगी तथा आहारकमिश्रकाययोगियोंका प्रमाण बताते हैं ।

आहारकायजोगा चउवण्णं होंति एकसमयमिह ।

आहारमिस्सजोगा सत्तावीसा दु उक्कस्सं ॥ २६९ ॥

आहारकाययोगाः चतुष्पञ्चाशत् भवन्ति एकसमये ।

आहारमिश्रयोगा सप्तविंशतिस्तत्कृष्टम् ॥ २६९ ॥

अर्थ—एक समयमें आहारककाययोगवाले जीव अधिकसे अधिक चौअन होते हैं । और आहारमिश्रयोगवाले जीव अधिकसे अधिक सत्ताईस होते हैं । यहां पर जो उत्कृष्ट शब्द है वह मध्यदीपक है । भावार्थ—जिस प्रकार देहलीपर रखा हुआ दीपक बाहर और भीतर दोनों जगह प्रकाश करता है उसही प्रकार यह शब्द भी पूर्वोक्त तथा जिसका आगे वर्णन करेंगे ऐसी दोनोंही संख्याओंको उत्कृष्ट अपेक्षा समझना यह सूचित करता है ।

इति योगमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त वेदमार्गाणाका निरूपण करते हैं ।

पुरिसिच्छिसंहवेदोदयेण पुरिसिच्छिसंहओ भावे ।

णामोदयेण द्रव्ये पाएण समा कहिं विसमा ॥ २७० ॥

पुरुषस्त्रीषण्डवेदोदयेन पुरुषस्त्रीषण्डाः भावे ।

नामोदयेन द्रव्ये प्रायेण समाः कचिद् विषमाः ॥ २७० ॥

अर्थ—पुरुष स्त्री और नपुंसक वेदकर्मके उदयसे भावपुरुष भावस्त्री भाव नपुंसक होता है । और नामकर्मके उदयसे द्रव्य पुरुष द्रव्य स्त्री द्रव्य नपुंसक होता है । सो यह भाववेद और द्रव्यवेद प्रायःकरके समान होता है, परन्तु कहीं २ विषम भी होता है । **भावार्थ**—वेदनामक नोकपायके उदयसे जीवोंके भाववेद होता है, और आङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे द्रव्यवेद होता है । सो ये दोनों ही वेद प्रायःकरके तो समान ही होते हैं, अर्थात् जो भाववेद वही द्रव्यवेद और जो द्रव्यवेद वही भाववेद । परन्तु कहीं २ विषमता भी होजाती है, अर्थात् भाववेद दूसरा और द्रव्यवेद दूसरा ।

वेदस्सुदीरणाए परिणामस्स य हवेज्ज संमोहो ।

संमोहेण ण जाणदि जीवो हि गुणं व दोषं वा ॥ २७१ ॥

वेदस्योदीरणायां परिणामस्य च भवेत् संमोहः ।

संमोहेन न जानाति जीवो हि गुणं वा दोषं वा ॥ २७१ ॥

अर्थ—वेद नोकपायके उदय अथवा उदीरणा होनेसे जीवके परिणामोंमें बड़ा भारी मोह उत्पन्न होता है । और इस मोहके होनेसे यह जीव गुण अथवा दोषका विचार नहीं कर सकता ।

पुरुगुणभोगे सेदे करोदि लोयम्मि पुरुगुणं कम्मं ।

पुरुउत्तमो य जम्हा तम्हा सो वणिणओ पुरिसो ॥ २७२ ॥

पुरुगुणभोगे शेते करोति लोके पुरुगुणं कर्म ।

पुरुउत्तमश्च यस्मात् तस्मात् स वर्णितः पुरुषः ॥ २७२ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट गुण अथवा उत्कृष्ट भोगोंका जो स्वामी हो, अथवा जो लोकमें उत्कृष्ट-गुणयुक्त कर्मको करै, यद्वा जो स्वयं उत्तम हो उसको पुरुष कहते हैं ।

छादयदि सयं दोसे णयदो छाददि परं वि दोसेण ।

छादणसीला जम्हा तम्हा सा वणिण्या इत्थी ॥ २७३ ॥

१ यद्यपि शीङ् धातुका अर्थ स्वप्न है, तथापि “धातुनामनेकार्थः” इस नियमके अनुसार स्वामी, करना तथा स्थिति अर्थ मानकर पृषोदरादि गणके द्वारा यह शब्द सिद्ध किया गया है । पुरुषु शेते इति पुरुषः इत्यादि । अथवा षोऽन्तकर्मणि इस धातुसे इस शब्दकी सिद्धि समझना चाहिये । पुरु शब्दका अर्थ उत्तम होता है ।

छादयति स्वकं दोषे नयतः छादयति परमपि दोषेण ।

छादनशीला यस्मात् तस्मात् सा वर्णिता स्त्री ॥ २७१ ॥

अर्थ—जो मिथ्यादर्शन अज्ञान असंयम आदि दोषोंसे अपनेको आच्छादित करै, और मृदु भाषण तिरस्त्र चितवन आदि व्यापारसे जो दूसरे पुरुषोंको भी हिंसा अब्रह्म आदि दोषोंसे आच्छादित करै, उसको अच्छादन—स्वभावयुक्त होनेसे स्त्री कहते हैं ।

भावार्थ—यद्यपि बहुत सी स्त्रियां अपनेको तथा दूसरोंको दोषोंसे आच्छादित नहीं भी करती हैं तब भी बहुलता की अपेक्षा यह निरुक्तिसिद्ध लक्षण किया है ।

णेविन्धी णेव पुमं णउंसओ उहयलिङ्गविदिरित्तो ।

इट्ठावगिसमाणगवेदणगरुओ कलुसचित्तो ॥ २७४ ॥

नैव स्त्री नैव पुमान् नपुंसक उभयलिङ्गव्यतिरिक्तः ।

इष्टपाकाग्निसमानकवेदनागुरुकः कलुषचित्तः ॥ २७४ ॥

अर्थ—जो न स्त्री हो और न पुरुष हो ऐसे दोनों ही लिङ्गोंसे रहित जीवको नपुंसक कहते हैं । इसके अवा (भट्टा) में पकती हुई इंटकी अग्निके समान तीव्र कषाय होती है । अत एव इसका चित्त प्रतिसमय कलुषित रहता है ।

वेदरहित जीवोंको बताते हैं ।

तिणकारिसिट्ठापागगिसरिसपरिणामवेदणुम्मुक्का ।

अवगयवेदा जीवा सगसंभवणंतवरसोक्खा ॥ २७५ ॥

तृणकारिषिष्टपाकाग्निसदृशपरिणामवेदनोन्मुक्ताः ।

अपगतवेदा जीवाः स्वकसम्भवानन्तवरसौख्याः ॥ २७५ ॥

अर्थ—तृणकी अग्नि कारीष अग्नि इष्टपाक अग्नि (अवाकी अग्नि) के समान वेद के परिणामोंसे रहित जीवोंको अपगतवेद कहते हैं । ये जीव अपनी आत्मासे ही उत्पन्न होनेवाले अनन्त और सर्वोत्कृष्ट सुखको भोगते हैं ।

वेदमार्गणामें पांच गाथाओं द्वारा जीवसंख्याका वर्णन करते हैं ।

जोइसियवाणजोणिणितिरिक्खपुरुसा य सण्णिणो जीवा ।

तत्तेउपम्मलेस्सा संखगुणूणा कमेणेदे ॥ २७६ ॥

ज्योतिष्कवानयोनिनीतिर्यक्पुरुषाश्च संज्ञिनो जीवाः ।

तत्तेजःपद्मलेश्याः संख्यगुणोनाः क्रमेणैते ॥ २७६ ॥

अर्थ—ज्योतिषी, व्यन्तर, योनिमती तिर्यच, संज्ञी तिर्यच, संज्ञी तिर्यच तेजोलेश्या-वाले, तथा संज्ञीतिर्यच पद्मलेश्यावाले जीव क्रमसे उत्तरोत्तर संख्यातगुणे संख्यातगुणे

हैन हैं । भावार्थ—१११३६ से गुणित प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही ज्योतिषी जीवोंका प्रमाण है । इसमें क्रमसे असंख्यातगुणा २ कम करनेसे आगे २ की राशिका प्रमाण निकलता है ।

इगिपुरिसे बत्तीसं देवी तज्जोगभजिददेवोधे ।

सगगुणगारेण गुणे पुरुषा महिला य देवेसु ॥ २७७ ॥

एकपुरुषे द्वात्रिंशद्देव्यः तद्योगभक्तदेवौघे ।

स्वगुणकारेण गुणे पुरुषा महिलाश्च देवेषु ॥ २७७ ॥

अर्थ—देवगतिमें एक देवकी क्रमसे कम बत्तीस देवियां होती हैं । इसलिये देव और देवियोंके जोड़रूप तेतीसका समस्त देवराशिमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपने २ गुणाकारके साथ गुणा करनेसे देव और देवियोंका प्रमाण निकलता है । भावार्थ—समस्त देवराशिमें तेतीसका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका एकके साथ गुण करनेसे देवोंका और बत्तीसके साथ गुणा करनेसे देवियोंका प्रमाण निकलता है । यद्यपि इन्द्रादिकोंकी देवियोंका प्रमाण अधिक है; तथापि प्रकीर्णक देवोंकी अपेक्षा इन्द्रादिका प्रमाण अत्यल्प है, अतः उनकी यहां पर विवक्षा नहीं की है ।

देवेहिं सादिरेया पुरिसा देवीहिं साहिया इत्थी ।

तेहिं विहीण सवेदो रासी संढाण परिमाणं ॥ २७८ ॥

देवैः सातिरेकाः पुरुषा देवीभिः साधिकाः स्त्रियः ।

तैर्विहीनः सवेदो राशिः षण्ढानां परिमाणम् ॥ २७८ ॥

अर्थ—देवोंसे कुछ अधिक, मनुष्य और तिर्यग्गतिसम्बन्धी पुंवेदवालोंका प्रमाण है । और देवियोंसे कुछ अधिक मनुष्य तथा तिर्यग्गति सम्बन्धी स्त्रीवेदवालोंका प्रमाण है । सवेद राशिमेंसे पुंवेद तथा स्त्रीवेदका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे वह नपुंसकोंका प्रमाण है ।

गब्भणपुइत्थिसण्णी सम्मुच्छणसण्णिपुण्णगा इदरा ।

कुरुजा असण्णिगब्भजणपुइत्थीवाणजोइसिया ॥२७९ ॥

थोवा तिसु संखगुणा तत्तो आवलिअसंखभागगुणा ।

पल्लासंखेज्जगुणा तत्तो सव्वत्थ संखगुणा ॥ २८० ॥

गर्भनपुस्त्रीसंज्ञिनः सम्मूर्धनसंज्ञिपूर्णा इतरे ।

कुरुजा असंज्ञिगर्भजनपुस्त्रीवानज्योतिष्काः ॥ २७९ ॥

स्तोकाः त्रिषु संख्यगुणाः तत आवल्यसंख्यभागगुणाः ।

पल्यासंख्येयगुणाः ततः सर्वत्र संख्यगुणाः ॥ २८० ॥

अर्थ—गर्भज संज्ञी नपुंसक १ पुल्लिङ्ग २ तथा स्त्रीलिङ्ग ३ । सम्मूर्छन संज्ञी पर्याप्त ४ और अपर्याप्त ५ भोगभूमिया ६ असंज्ञी गर्भज नपुंसक ७ पुल्लिङ्ग ८ स्त्रीलिङ्ग ९ ।
व्यन्तर १० । और ज्योतिषी ११ । इन ग्यारह स्थानोंको क्रमसे स्थापन करना चाहिये ।
जिसमें पहला स्थान सबसे स्तोक है । और उससे आगेके तीन स्थान संख्यातगुणे २ हैं ।
पांचमा स्थान आवलीके असंख्यातमे भाग गुणा है । छठा स्थान पत्यके असंख्यातमे
भागगुणा है । इससे आगेके स्थान क्रमसे संख्यातगुणे २ हैं । भावार्थ—चौथे और
पांचमे स्थानवाले जीव नपुंसक ही होते हैं । छठे स्थानवाले पुल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग ही होते
हैं । ६९९२६ से गुणित प्रतराङ्गुलका, आठवार संख्यातका, एकवार आवलीके असंख्यातमे
भागका, एकवार पत्यके असंख्यातमे भागका, जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे
उतना ही पहले स्थानका प्रमाण है । इससे आगेके तीन स्थान क्रमसे संख्यातगुणे २ हैं ।
पांचमा स्थान आवलीके असंख्यातमे भागगुणा, छठा स्थान पत्यके असंख्यातमे भागगुणा,
सातमा आठमा नौमा दशमा ग्यारहमा स्थान क्रमसे संख्यातगुणा २ है ।

इति वेदमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त कषाय—मार्गणाके वर्णनकी आदिमें प्रथम कषायका निरुक्तिसिद्ध लक्षण
वताते हैं ।

सुहृदुःखसुबहुसस्सं कम्मक्खेत्तं कसेदि जीवस्स ।

संसारदूरमेरं तेण कसाओत्ति णं वेत्ति ॥ २८१ ॥

सुखदुःखसुबहुसस्यं कर्मक्षेत्रं कृषति जीवस्य ।

संसारदूरमर्यादं तेन कषाय इतीमं ब्रुवन्ति ॥ २८१ ॥

अर्थ—जीवके सुख दुःख आदि अनेक प्रकारके धान्यको उत्पन्न करनेवाले तथा जिसकी
संसाररूप मर्यादा अत्यन्त दूर है ऐसे कर्मरूपी क्षेत्र (खेत) का यह कर्षण करता है इसलिये
इसको कषाय कहते हैं ।

कृष धातुकी अपेक्षासे कषाय शब्दका अर्थ बताकर अब हिसार्थक कष धातुकी अपेक्षासे
कषाय शब्दकी निरुक्ति बताते हैं ।

सम्मत्तदेससयलचरित्तजहक्खादचरणपरिणामे ।

घादंति वा कषाया चउसोलअसंखलोगमिदा ॥ २८२ ॥

सम्यक्त्वदेशसकलचरित्रयथाख्यातचरणपरिणामान् ।

घातयन्ति वा कषायाः चतुःषोडशासंख्यलोकमिताः ॥ २८२ ॥

अर्थ—सम्यक्त्व देशचारित्र सकलचारित्र यथाख्यातचारित्ररूपी परिणामोंको जो कषे-
घाते=न होनेसे उसको कषाय कहते हैं । इसके अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्या-

ख्यानावरण संज्वलन इसप्रकार चार भेद हैं । अनन्तानुबन्धी आदि चारोंके क्रोध मान माया लोभ इस तरह चार २ भेद होनेसे कषायके उत्तरभेद सोलह होते हैं । किन्तु कषायके उदयस्थानोंकी अपेक्षासे असंख्यात लोकप्रमाण भेद हैं । जो सम्यक्त्वको रोके उसको अनन्तानुबन्धी; जो देशचारित्रिको रोके उसको अप्रत्याख्यानावरण; जो सकलचारित्रिको रोके उसको प्रत्याख्यानावरण, जो यथाख्यातचारित्रिको रोके उसको संज्वलन कषाय कहते हैं । शक्तिकी अपेक्षासे क्रोधादि चार कषायोंके चार गाथाओंद्वारा भेद गिनाते हैं ।

सिलपुढविभेदधूलीजलराइसमाणओ हवे कोहो ।

णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥ २८१ ॥

शिलापृथ्वीभेदधूलिजलराजिसमानको भवेत् क्रोधः ।

नारकतिर्यग्रामरगतिपूपादकः क्रमशः ॥ २८१ ॥

अर्थ—क्रोध चार प्रकारका होता है । एक पत्थरकी रेखाके समान, दूसरा पृथ्वीकी रेखाके समान; तीसरा धूलिरेखाके समान, चौथा जलरेखाके समान । ये चारों प्रकारके क्रोध क्रमसे नरक तिर्यक् मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न करनेवाले हैं ।

सेलट्टिकट्टवेत्ते णियमेएणणुहरंतओ माणो ।

णारयतिरियणरामरगईसु उप्पायओ कमसो ॥ २८४ ॥

शैलस्थिकाष्ठवेत्रान् निजभेदेनानुहरन् मानः ।

नारकतिर्यग्रामरगतिपूपादकः क्रमशः ॥ २८४ ॥

अर्थ—मान भी चार प्रकारका होता है । पत्थरके समान; हड्डीके समान, काठके समान, तथा वेंतके समान । ये चार प्रकारके मान भी क्रमसे नरक तिर्यच्च मनुष्य तथा देव गतिके उत्पादक हैं । **भावार्थ**—जिस प्रकार पत्थर किसी तरह नहीं नमता, इस ही प्रकार जिसके उदयसे जीव किसी भी तरह नम्र न हो उसको शैलसमान (पत्थरके समान) मान कहते हैं । ऐसे मानके उदयसे नरकगति उत्पन्न होती है । इस ही तरह अस्थिसमान (हड्डीके समान) आदिक मानको भी समझना चाहिये ।

वेणुवमूलोरब्भयसिगे गोमुत्तए य खोरप्पे ।

सरिसी माया णारयतिरियणरामरगईसु खिब्बदि जियं ॥ २८५ ॥

वेणूपमूलोरभ्रकशृङ्गेण गोमूत्रेण च क्षुरप्रेण ।

सटशी माया नारकतिर्यग्रामरगतिषु क्षिपति जीवश्च ॥ २८५ ॥

अर्थ—माया भी चार प्रकारकी होती है । वांस्की जड़के समान, मेढेके सींगके समान, गोमूत्रके समान, खुरपाके समान । यह चार तरहकी माया भी क्रमसे जीवको

नरक तिर्यञ्च मनुष्य और देवगतिमें लेजाती है । भावार्थ—मायाके ये चार भेद कुटिलताकी अपेक्षासे हैं । जितनी अधिक कुटिलता इसमें पाई जाय उतनी ही उत्कृष्ट माया कही जाती है, और वह उक्त क्रमानुसार गतियोंकी उत्पादक होती है ।

किमिरायचक्रतणुमलहरिद्वाराण सरिसओ लोहो ।

णारयतिरिक्खमाणुसदेवेसुप्पायओ कमसो ॥ २८६ ॥

किमिरायचक्रतणुमलहरिद्वाराण सटशो लोभः ॥

नारकतिर्यम्मानुपदेवेषूत्पादकः कमशः ॥ २८६ ॥

अर्थ—लोभ कषाय भी चार प्रकारका है । किमिरागके समान, चक्रमल (रथ आदि-कके पहियोंके भीतरकी आँगन) के समान, शरीरके मलके समान, हल्दीके रंगके समान । यह भी क्रमसे नरक तिर्यञ्च मनुष्य देवगतिका उत्पादक है । भावार्थ—जिस प्रकार किरिमिजीका रंग अत्यंत गाढ़ होता है—बड़ी ही मुश्किलसे छूटता है । उसी प्रकार जो लोभ सबसे जादे गाढ़ हो उसको किरिमिजी के समान कहते हैं । इससे जो जल्दी २ छूटनेवाले हैं उनको क्रमसे आँगन, शरीरमल, हल्दी के रंगके समान कहते हैं,

नरकादि गतिमें उत्पत्तिके प्रथम समयमें बहुलताकी अपेक्षासे क्रोधादिकके उदयका नियम बताते हैं ।

णारयतिरिक्खणरसुरगईसु उप्पण्णपढमकालम्हि ।

कोहो माया माणो लोहुदओ अणियमो वापि ॥ २८७ ॥

नारकतिर्यग्रसुरगतिपुत्पन्नप्रथमकाले ।

क्रोधो माया मानो लोभोदयः अनियमो वापि ॥ २८७ ॥

अर्थ—नरक तिर्यञ्च मनुष्य तथा देवगतिमें उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें क्रमसे क्रोध माया मान और लोभका उदय होता है । अथवा अनियम भी है । भावार्थ—नरकगतिमें उत्पन्न होनेवाले जीवके प्रथम समयमें क्रोधका उदय होता है । परन्तु किसी २ आचार्यका मत है कि ऐसा नियम नहीं है । इस ही प्रकार तिर्यग्गतिमें उत्पन्न होनेवालेके प्रथम समयमें किसी २ आचार्यके मतसे नियमसे माया कषायका उदय होता है । और मनुष्यगतिके प्रथम समयमें मानका तथा देवगतिके प्रथम समयमें लोभ कषायका उदय होता है ।

कषायरहित जीवोंको बताते हैं ।

अप्पपरोभयबाधणबन्धासंजमणिमित्तकोहादी ।

जेसिं णत्थि कसाया अमला अकसाइणो जीवा ॥ २८८ ॥

आत्मपरोभयबाधनबन्धासंयमनिमित्तक्रोधादयः ।

येषां न सन्ति कषाया अमला अकषायिणो जीवाः ॥ २८८ ॥

अर्थ—जिनके, खुदको दूसरेको तथा दोनोंको ही बाधा देने और बन्धन करने तथा असंयम करनेमें निमित्तभूत क्रोधादिक कषाय नहीं हैं, तथा जो बाह्य और अभ्यन्तर मलसे रहित हैं ऐसे जीवोंको अकषाय कहते हैं ।

क्रोधादि कषायोंके शक्तिकी अपेक्षासे स्थान बताते हैं ।

क्रोहादिकसायाणं चउ चउदसवीस होंति पदसंखा ।

सत्तीलेस्साआउगबंधाबंधगदभेदेहिं ॥ २८९ ॥

क्रोधादिकषायाणां चत्वारश्चतुर्दशविंशतिः भवन्ति पदसंख्याः ।

शक्तिलेख्याऽऽयुक्बंधाबंधगतभेदैः ॥ २८९ ॥

अर्थ—शक्ति, लेश्या, तथा आयुके बंधाबन्ध गत भेदोंकी अपेक्षासे क्रोधादिक कषायोंके क्रमसे चार चौदह और बीस स्थान होते हैं । भावार्थ—शक्तिकी अपेक्षा चार, लेश्याकी अपेक्षा चौदह और आयुके बन्धाबन्धकी अपेक्षा क्रोधादि कषायोंके बीस स्थान होते हैं ।

शक्तिकी अपेक्षासे होनेवाले चार स्थानोंको गिनाते हैं ।

सिलसेलवेणुमूलक्किमिरायादी कमेण चत्तारि ।

क्रोहादिकसायाणं सत्तिं पडि होंति णियमेण ॥ २९० ॥

शिलाशैलवेणुमूलकिमिरागादीनि कमेण चत्तारि ।

क्रोधादिकषायाणां शक्तिं प्रति भवन्ति नियमेन ॥ २९० ॥

अर्थ—शिलाभेद आदिक चार प्रकारका क्रोध, शैलसमान आदिक चार प्रकारका मान, वेणु (वांस) मूलके समान आदिक चार तरहकी माया, किमिरागके समान आदिक चार प्रकारका लोभ, इस तरह क्रोधादिक कषायोंके उक्त नियमके अनुसार क्रमसे शक्तिकी अपेक्षा चार २ स्थान हैं ।

लेश्याकी अपेक्षा होनेवाले चौदह स्थानोंको गिनाते हैं ।

किण्हं सिलासमाणे किण्हादी छक्कमेण भूमिम्हि ।

छक्कादी सुक्कोत्ति य धूलिम्मि जलम्मि सुक्कोक्का ॥ २९१ ॥

कृष्णा शिलासमाने कृष्णादयः षट् क्रमेण भूमौ ।

पट्कादिः शुक्लेति च धूलौ जले शुक्लैका ॥ २९१ ॥

अर्थ—शिलासमान क्रोधमें केवल कृष्ण लेश्याकी अपेक्षासे एक ही स्थान होता है । पृथ्वीसमान क्रोधमें कृष्ण आदिक लेश्याकी अपेक्षा छह स्थान हैं । धूलिसमान क्रोधमें छह लेश्यासे लेकर शुक्ललेश्यापर्यंत छह स्थान होते हैं । और जलसमान क्रोधमें केवल एक शुक्ललेश्या ही होती है । भावार्थ—शिलासमान क्रोधमें केवल कृष्णलेश्याका एक

ही स्थान होता है । पृथ्वीभेदसमान क्रोधमें छह स्थान होते हैं, पहला केवल कृष्णलेश्याका, दूसरा कृष्ण नील लेश्याका, तीसरा कृष्ण नील कपोत लेश्याका, चौथा कृष्ण नील कपोत पीत लेश्याका, पांचमा कृष्ण नील कपोत पीत पद्म लेश्याका, छठा कृष्ण नील कपोत पीत पद्म शुक्ललेश्याका । इस ही प्रकार धूम्ररेखा समान क्रोधमें भी छह स्थान होते हैं । पहला कृष्णादिक छह लेश्याका, दूसरा कृष्णरहित पांचलेश्याका, तीसरा कृष्ण नीलरहित चारलेश्याका, चौथा कृष्ण नील कपोतरहित अन्तकी तीन शुभ लेश्याओंका, पांचमा पद्म और शुक्ल लेश्याका, छठा केवल शुक्ल लेश्याका । जलरेखा समान क्रोधमें एक शुक्ल लेश्याका ही स्थान होता है । जिस प्रकार क्रोधके लेश्याओंकी अपेक्षा ये चौदह स्थान बताये हैं उस ही तरह मानादिक कषायमें भी चौदह २ भेद समझना चाहिये ।

आयुके बंधाबंधकी अपेक्षासे तीन गाथाओंद्वारा वीस स्थानोंको गिनाते हैं ।

सेलगाकिण्हे सुण्णं णिरयं च य भूगएगबिहाणे ।

णिरयं इगिबितिआऊ तिहाणे चारि सेसपदे ॥ २९२ ॥

शैलगकृष्णे शून्यं निरयं च च भूकैद्विस्थाने ।

निरयमेकद्विच्ययुस्त्रिस्थाने चत्वारि शेषपदे ॥ २९२ ॥

अर्थ—शैलगत कृष्णलेश्यामें कुछ स्थान तो ऐसे हैं कि जहांपर आयुबन्ध नहीं होता, इसके अनन्तर कुछ स्थान ऐसे हैं कि जिनमें नरक आयुका बन्ध होता है । इसके बाद पृथ्वीभेदगत पहले और दूसरे स्थानमें नरक आयुका ही बन्ध होता है । इसके भी बाद कृष्ण नील कपोत लेश्याके तीसरे भेदमें (स्थानमें) कुछ स्थान ऐसे हैं जहां नरक आयुका ही बन्ध होता है, और कुछ स्थान ऐसे हैं जहां नरक तिर्यञ्च दो आयुका बन्ध होसकता है, तथा कुछ स्थान ऐसे हैं जहांपर नरक तिर्यञ्च तथा मनुष्य तीनों ही आयुका बन्ध हो सकता है । शेषके तीन स्थानोंमें चारो आयुका बन्ध हो सकता है ।

धूलिगल्लकहाणे चउराऊतिगदुगं च उवरिलं ।

पणचट्टाणे देवं देवं सुण्णं च तिहाणे ॥ २९३ ॥

धूलिगषट्कस्थाने चतुरायूपि त्रिकद्विकं चोपरितनम् ।

पञ्चचतुर्थस्थाने देवं देवं शून्यं च तृतीयस्थाने ॥ २९३ ॥

अर्थ—धूलिभेदगत छहलेश्यावाले प्रथम भेदके कुछ स्थानोंमें चारो आयुका बन्ध होता है, इसके अनन्तर कुछ स्थानोंमें नरक आयुको छोड़कर शेष तीन आयुका और कुछ स्थानोंमें नरक तिर्यञ्चको छोड़कर शेष दो आयुका बन्ध होता है । कृष्णलेश्याको छोड़कर पांचलेश्यावाले दूसरे स्थानमें तथा कृष्ण नीललेश्याको छोड़कर शेष चार लेश्या

वाले तृतीयस्थानमें केवल देव आयुका बन्ध होता है । अन्तकी तीन लेख्यावाले चौथे भेदके कुछ स्थानोंमें देवायुका बन्ध होता है और कुछ स्थानोंमें आयुका अबन्ध है ।

सुण्णं दुग्गहिगिठाणे जलमिह सुण्णं असंखभजिदकमा ।

चउचोदसवीसपदा असंखलोगा हु पत्तेयं ॥ २९४ ॥

शून्यं द्विकैकस्थाने जले शून्यमसंख्यभजितकमा : ।

चतुश्चतुर्दशविंशतिपदा असंख्यलोका हि प्रत्येकम् ॥ २९४ ॥

अर्थ—इस हीके (भूलिभेदगतहीके) पद्म और शुक्ललेख्यावाले पांचमे स्थानमें और केवल शुक्ललेख्यावाले छठे स्थानमें आयुका अबन्ध है, तथा जलभेदगत केवल शुक्ललेख्यावाले एक स्थानमें भी आयुका अबन्ध है । इस प्रकार कथायोंके शक्तिकी अपेक्षा चार भेद, लेख्याओंकी अपेक्षा चौदह भेद, आयुके बन्धावन्धकी अपेक्षा बीस भेद हैं । इनमें प्रत्येकके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं । तथा अपने २ उत्कृष्टसे अपने २ जघन्यपर्यन्त क्रमसे असंख्यातगुणे २ हीन हैं ।

कथायमार्गणामें तीन गाथाओंद्वारा जीवोंकी संख्या बताते हैं ।

पुह पुह कसायकालो णिरये अंतोमुहुत्तपरिमाणो ।

लोहादी संखगुणो देवेसु य कोहपहुदीदो ॥ २९५ ॥

पृथक् पृथक् कषायकालः निरये अन्तर्मुहूर्तपरिमाणः ।

लोभादिः संख्यगुणो देवेषु च क्रोधप्रभृतितः ॥ २९५ ॥

अर्थ—नरकमें नारकियोंके लोभादि कषायका काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त मात्र होनेपर भी पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तर कषायका काल पृथक् २ संख्यातगुणा २ है । और देवोंमें क्रोधादिक लोभपर्यन्त कषायोंका काल सामान्यसे अन्तर्मुहूर्त; किन्तु विशेषरूपसे पूर्व २ की अपेक्षा उत्तरोत्तरका संख्यातगुणा २ काल है । **भावार्थ**—यद्यपि सामान्यसे प्रत्येक कषायका काल अन्तर्मुहूर्त है, तथापि नारकियोंके जितना लोभका काल है उससे संख्यातगुणा मायाका काल है, और जितना मायाका काल है उससे संख्यातगुणा मानका काल है, मानके कालसे भी संख्यातगुणा क्रोधका काल है । किन्तु देवोंमें इससे विपरीत है । अर्थात् जितना क्रोधका काल है उससे संख्यातगुणा मानका काल है, मानसे संख्यातगुणा मायाका और मायासे संख्यातगुणा लोभका काल है ।

सर्वसमासेणवाहिदसगसगरासी पुणोवि संगुणिदे ।

सगसगगुणगारेहिं य सगसगरासीणपरिमाणं ॥ २९६ ॥

सर्वसमासेनावहितस्वकस्वकराशौ पुनरपि संगुणिते ।

स्वकस्वकगुणकारैश्च स्वकस्वकराशीनां परिमाणम् ॥ २९६ ॥

अर्थ—अपनी २ गतिमें सम्भव जीवराशिमें समस्त कषायोंके उदयकालके जोड़का भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका अपने २ गुणाकारसे गुणन करनेपर अपनी २ राशिका परिमाण निकलता है । **भावार्थ**—कल्पना कीजिये कि देवगतिमें देव राशिका प्रमाण १७०० है और क्रोधादिकके उदयका काल क्रमसे ४, १६, ६४, २५६ है । इस लिये समस्त कषायोदयके कालका जोड़ ३४० हुआ । इसका उक्त देवराशिमें भाग देनेसे लब्ध ९ आवे हैं । इस लब्ध राशिका अपने कषायोदयकालसे गुणा करने पर अपनी २ राशिका प्रमाण निकलता है । यदि क्रोधकषायवालोंका प्रमाण निकालना हो तो ४ से गुणा करने पर वीस निकलता है, यदि मानकषायवालोंका प्रमाण निकालना हो तो १६ से गुणा करनेपर ८० प्रमाण निकलता है । इस ही प्रकार आगे भी समझना । जिस तरह यह देवोंकी अङ्कसंदृष्टि कही उस ही तरह नारकियोंकी भी समझना, किन्तु अङ्कसंदृष्टिको ही अर्थसंदृष्टि नहीं समझना । क्रोधादि कषायवाले जीवोंकी संख्या निकालनेका यह क्रम केवल देव तथा नरक-गतिमें ही समझना ।

मनुष्य तथा तिर्यच्चोंमें कषायवाले जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

णरतिरिय लोहमायाक्रोहो माणो विइंदियादिव्व ।

आवलिअसंखभज्जा सगकालं वा समासेज्ज ॥ २९७ ॥

नरतिरश्चोः लेभमायाक्रोहो मानो द्वीन्द्रियादिवत् ।

आवलयसंख्यभाज्याः स्वकालं वा समासाद्य ॥ २९७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय जीवोंकी संख्या पहले निकाली है उसही क्रमसे मनुष्य तथा तिर्यच्चोंके लेभ माया क्रोध और मानवाले जीवोंका प्रमाण आवलीके असंख्यातमे भाग क्रमसे निकालना चाहिये । अथवा अपने २ कालकी अपेक्षासे उक्त कषायवाले जीवोंका प्रमाण निकालना चाहिये । **भावार्थ**—चारो कषायोंका जितना प्रमाण है उसमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसके बहुभागको चारों जगह समान रूपसे विभक्त करना और शेष एक भागका “ बहुभागे समभागो ” इस गाथामें कहे हुए क्रमके अनुसार विभाग करनेसे चारो कषायवालोंका प्रमाण निकलता है । अथवा यदि इतने कालमें इतने जीव रहते हैं तो इतने कालमें कितने रहेंगे इस त्रैराशिक विधानसे भी कषायवालोंका प्रमाण निकलता है ।

इति कषायमार्गणाधिकारः ॥



क्रमप्राप्त ज्ञानमार्गणाके प्रारम्भमें ज्ञानका निरुक्तिसिद्ध सामान्य लक्षण कहते हैं ।

जाणइ तिकाविसए दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे ।

पञ्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं वेत्ति ॥ २९८ ॥

जानाति त्रिकालविषयान् द्रव्यगुणान् पर्यायांश्च बहुभेदान् ।

प्रत्यक्षं च परोक्षमनेन ज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ २९८ ॥

अर्थ—जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक (भूत भविष्यत वर्तमान) समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकारकी पर्यायोंको जाने उसको ज्ञान कहते हैं । इसके दो भेद हैं, एक प्रत्यक्ष दूसरा परोक्ष ।

ज्ञानके भेदोंको दिखाते हुए उनका क्षायोपशमिक और क्षायिकरूपसे विभाग करते हैं ।

पंचैव ह्येति णाणा मदिसुदओहीमणं च केवल्यं ।

खयउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं ॥ २९९ ॥

पञ्चैव भवन्ति ज्ञानानि मतिश्रुतावधिमनश्च केवलम् ।

क्षायोपशमिकानि चत्वारि केवलज्ञानं भवेत् क्षायिकम् ॥ २९९ ॥

अर्थ—ज्ञानके पांच भेद हैं । मति श्रुत अवधि मनःपर्यय तथा केवल । इनमें आदिके चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं, और केवलज्ञान क्षायिक है ।

मिथ्याज्ञानका कारण और स्वामी बताते हैं ।

अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतियं खु मिच्छअणउदये ।

णवरि विभंगं णाणं पंचिदियसण्णिपुण्णेव ॥ ३०० ॥

अज्ञानत्रिकं भवति हि सदज्ञानत्रिकं खलु मिथ्यात्वानोदये ।

नवरि विभङ्गं ज्ञानं पञ्चेन्द्रियसंज्ञिपूर्ण एव ॥ ३०० ॥

अर्थ—आदिके तीन (मति श्रुत अवधि) ज्ञान समीचीन भी होते हैं और मिथ्या भी होते हैं । ज्ञानके मिथ्या होनेका अन्तरङ्ग कारण मिथ्यात्व तथा अनन्तानुबन्धी कषायका उदय है । मिथ्या अवधिको विभंग भी कहते हैं । इसमें यह विशेषता है कि यह विभंग ज्ञान संज्ञी पर्याप्तक पंचेन्द्रियके ही होता है ।

मिश्रज्ञानका कारण और मनःपर्ययज्ञानका स्वामी बताते हैं ।

मिस्सुदये सम्मिस्सं अण्णाणतियेण णाणतियमेव ।

संजमविसेससहिण मणपज्जवणाणमुद्दिहं ॥ ३०१ ॥

मिश्रोदये संमिश्रमज्ञानत्रयेण ज्ञानत्रयेमेव ।

संयमविशेषसहिते मनःपर्ययज्ञानमुद्दिष्ट ॥ ३०१ ॥

अर्थ—मिश्र प्रकृतिके उदयसे आदिके तीन ज्ञानोंमें समीचीनता तथा मिथ्यापना दोनों ही पाये जाते हैं, इसलिये इनको मिश्र ज्ञान कहते हैं । मनःपर्ययज्ञान जिनके विशेष संयम होता है उनकी होता है । **भावार्थ**—मनःपर्यय ज्ञान प्रमत्त गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय

गुणस्थानपर्यन्त सात गुणस्थानोंमें होता है; परन्तु इनमें भी तिनका चारित्र उत्तरोत्तर वर्धमान होता है उनहीके होता है ।

तीन गाथाओंमें दृष्टान्तद्वारा मिथ्याज्ञानोंको स्पष्ट करते हैं ।

विसजंतकूडपंजरबंधादिसु विणुवएसकरणेण ।

जा खल्ल पवड्डइ मई मइअण्णाणांतिणं बेति ॥ ३०२ ॥

विषयन्त्रकूटपञ्जरबंधादिषु विनोपदेशकरणेन ।

या खल्ल प्रवर्तते मतिः मत्यज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३०२ ॥

अर्थ—दूसरेके उपदेशके बिना जो विषयन्त्र कूट पंजर तथा बंध आदिकके विषयमें जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं । **भावाार्थ**—जिसके खानेसे जीव मर सके उस द्रव्यको विष कहते हैं । भीतर पैर रखते ही जिसके किताड़ बन्द होजाय, और जिसके भीतर बकरी आदिको बांधकर सिंह आदिकको पकड़ा जाता है उसको यन्त्र कहते हैं । जिससे मूसे वगैरह पकड़े जाते हैं उसको कूट कहते हैं । रस्सीमें गांठ लगाकर जो जाल बनाया जाता है उसको पंजर कहते हैं । हाथी आदिको पकड़नेके लिये जो गड्डे आदिक बनाये जाते हैं उनको बंध कहते हैं । इत्यादिक पदार्थोंमें दूसरेके उपदेशके बिना जो बुद्धि प्रवृत्त होती है उसको मत्यज्ञान कहते हैं; क्योंकि उपदेशपूर्वक होनेसे वह ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जायगा ।

आभीयमासुरक्खं भारहरामायणादिउवएस ।

तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाणांति णं बेति ॥ ३०३ ॥

आभीतमासुरक्षं भारतरामायणाद्युपदेशाः ।

तुच्छा असाधनीया श्रुताज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३०३ ॥

अर्थ—चौरशास्त्र, तथा हिंसाशास्त्र, भारत, रामायण आदिके परमार्थशून्य अत एव अनादरणीय उपदेशोंको मिथ्या श्रुतज्ञान कहते हैं ।

विचरीयमोहिणाणं खओवसमियं च कम्मबीजं च ।

वेभंगोत्ति पउच्चइ समत्तणाणीण समयम्हि ॥ ३०४ ॥

विपरीतमविज्ञानं क्षायोपशमिकं च कर्मबीजं च ।

विभङ्ग इति प्रोच्यते समाप्तज्ञानिनां समये ॥ ३०४ ॥

अर्थ—सर्वज्ञोंके उपदिष्ट आगममें विपरीत अवधि ज्ञानको विभङ्ग कहते हैं । इसके दो भेद हैं, एक क्षायोपशमिक दूसरा भवप्रत्यय । **भावाार्थ**—देव नारकियोंके विपरीत अवधि-ज्ञानको भवप्रत्यय विभङ्ग कहते हैं, और मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंके विपरीत अवधिज्ञानको क्षायोपशमिक विभंग कहते हैं । इस विभङ्गका अन्तरङ्ग कारण मिथ्यात्व आदिक कर्म है ।

इसके निमित्तसे विशिष्ट (समीचीन) अधिज्ञानके भङ्ग होनेको (विपरीत होनेको) विभङ्ग कहते हैं । यह इसका (विभङ्गका) निरुक्तिसिद्ध अर्थ है ।

मतिज्ञानका स्वरूप, उत्पत्ति, कारण, भेद, विषय नौ गाथाओंमें दिखाते हैं ।

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिंदिइंदियजम् ।

अवगहईहावायाधारणगा होंति पत्तेयं ॥ ३०५ ॥

अभिमुखनियमितबोधनमाभिनिबोधिकमनिन्द्रियेन्द्रियजम् ।

अवग्रहेहावायधारणका भवन्ति प्रत्येकम् ॥ ३०५ ॥

अर्थ—इन्द्रिय और अनिन्द्रिय (मन) की सहायतासे अभिमुख और नियमित पदार्थका जो ज्ञान होता है उसको आभिनिबोधिक कहते हैं । इसमें प्रत्येकके अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार २ भेद हैं । **भावार्थ**—स्थूल वर्तमान योग्य क्षेत्रमें अवस्थित पदार्थको अभिमुख कहते हैं । और जैसे चक्षुका रूप विषय है इस ही तरह जिस इन्द्रियका जो विषय निश्चित है उसको नियमित कहते हैं । इस तरहके पदार्थोंका मन अथवा स्पर्शन आदिक पांच इन्द्रियोंकी सहायतासे जो ज्ञान होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं । इस प्रकार मन और इन्द्रियकी अपेक्षासे मतिज्ञानके छह भेद हुए । इसमें भी प्रत्येकके अवग्रह ईहा अवाय धारणा ये चार २ भेद होते हैं । प्रत्येकके चार २ भेद होते हैं इसलिये छहको चारसे गुणा करने पर मतिज्ञानके चौबीस भेद होते हैं ।

अवग्रहके भी भेद आदिक दिखाते हैं ।

वेंजणअत्थअवग्रहभेदा हु हवन्ति पत्तपत्तत्थे ।

कमसो ते वावरिदा पढमं ण हि चक्खुमणसाणं ॥ ३०६ ॥

व्यञ्जनार्थावग्रहभेदौ हि भवतः प्राप्ताप्राप्तार्थे ।

क्रमशस्तौ व्यापृतौ प्रथमो नहि चक्षुर्मनसोः ॥ ३०६ ॥

अर्थ—अवग्रहके दो भेद हैं, एक व्यञ्जनावग्रह दूसरा अर्थावग्रह । जो प्राप्त अर्थके विषयमें होता है उसको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं, और जो अप्राप्त अर्थके विषयमें होता है उसको अर्थावग्रह कहते हैं । और ये पहले व्यञ्जनावग्रह पीछे अर्थावग्रह इस क्रमसे होते हैं । तथा व्यञ्जनावग्रह चक्षु और मनसे नहीं होता । **भावार्थ**—इन्द्रियोंसे प्राप्त-सम्बद्ध अर्थको व्यञ्जन कहते हैं, और अप्राप्त-असम्बद्ध पदार्थको अर्थ कहते हैं । और इनके ज्ञानको क्रमसे व्यञ्जनावग्रह, अर्थावग्रह कहते हैं । (शङ्का) राजवार्तिकादिकमें व्यञ्जन शब्दका अर्थ अव्यक्त किया है, और यहां पर प्राप्त अर्थ किया है, इस लिये परस्पर विरोध आता है । (उत्तर) व्यञ्जन शब्दके अनभिर्व्यक्ति तथा प्राप्ति दोनो अर्थ होते हैं । इसलिये इसका ऐसा अर्थ समझना चाहिये कि इन्द्रियोंसे सम्बद्ध होने पर भी जब तक प्रकट न

हो तब तक उसको व्यञ्जन कहते हैं, प्रकट होनेपर अर्थ कहते हैं। अत एव चक्षु और मनके द्वारा व्यञ्जनावग्रह नहीं होता; क्योंकि ये अप्राप्यकारी हैं। जिस तरह नवीन मट्टीके सकोरा आदिपर एक दो पानीकी बूंद पड़नेसे वह व्यक्त नहीं होती; किन्तु अधिक बूंद पड़नेसे वही व्यक्त हो उठती है। इस ही तरह श्रोत्रादिकके द्वारा प्रथम अव्यक्त शब्दादि कके ग्रहणको व्यंजनावग्रह, और पीछे उसहीको प्रकटरूपसे ग्रहण करनेपर अर्थावग्रह कहते हैं। व्यंजन पदार्थका अवग्रह ही होता है, ईहा आदिक नहीं होते, इसलिये चार इन्द्रियोंकी अपेक्षा व्यंजनावग्रहके चार ही भेद हैं। पूर्वोक्त चौबीस भेदोंमें इन चार भेदोंको मिलानेसे मतिज्ञानके अट्ठाईस भेद होते हैं।

विसयाणं विसर्द्धणं संजोगाणंतं हवे णियमा ।

अवगहणाणं गहिदे विसेसकंखा हवे ईहा ॥ ३०७ ॥

विषयाणां विषयिणां संयोगानन्तरं भवेत् नियमात् ।

अवग्रहज्ञानं गृहीते विशेषाकांक्षा भवेद् ईहा ॥ ३०७ ॥

अर्थ—पदार्थ और इन्द्रियोंका योग्य क्षेत्रमें अवस्थानरूप सम्बन्ध होनेपर सामान्यका अवलोकन करनेवाला दर्शन होता है। और इसके अनन्तर विशेष आकार आदिकको ग्रहण करनेवाला अवग्रह ज्ञान होता है। इसके अनन्तर जिस पदार्थको अवग्रहने ग्रहण किया है उसहीके किसी विशेष अंशको ग्रहण करनेवाला ईहा ज्ञान होता है। भावार्थ—जिस तरह किसी दाक्षिणात्य पुरुषको देखकर यह कुछ है इस तरहके महासामान्यावलोकनको दर्शन कहते हैं। इसके अनन्तर ‘यह पुरुष है’ इस तरहके ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। और इसके अनन्तर “यह दाक्षिणात्य ही होना चाहिये” इस तरहके विशेष ज्ञानको ईहा कहते हैं।

ईहणकरणेण यदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु ।

कालांतरेवि णिण्णिवत्थुसमरणस्स कारणं तुरियं ॥ ३०८ ॥

ईहणकरणेन यदा सुनिर्णयो भवति स अवायस्तु ।

कालान्तरेऽपि निर्णीतवस्तुस्मरणस्य कारणं तुर्यम् ॥ ३०८ ॥

अर्थ—ईहा ज्ञानके अनन्तर वस्तुके विशेष निहोंको देखकर जो उसका विशेष निर्णय होता है उसको अवाय कहते हैं। जैसे भाषा वेप विन्यास आदिको देखकर “यह दाक्षिणात्य ही है” इस तरहके निश्चयको अवाय कहते हैं। जिसके द्वारा निर्णीत वस्तुका कालान्तरमें भी विस्मरण न हो उसको धारणा ज्ञान कहते हैं।

उक्त चार तरहके ज्ञानोंका बारह तरहका विषय दिखाते हैं।

बहु बहुविहं च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदं च ।

तत्थेक्केक्के जादे छत्तीसं तिसयभेदं तु ॥ ३०९ ॥

बहु बहुविधं च क्षिप्रानिःसृदनुक्तं ध्रुवं च इतरच्च ।

तत्रैकैकस्मिन् जाते षट्त्रिंशत् त्रिंशत् भेदं तु ॥ ३०९ ॥

अर्थ—उक्त मतिज्ञानके विषयभूत पदार्थके बारह भेद हैं । बहु, अल्प, बहुविध, एकविध, क्षिप्र, अक्षिप्र, अनिसृत, निसृत, अनुक्त, उक्त । इनमेंसे प्रत्येक विषयमें मति-ज्ञानके उक्त अष्टाईस भेदोंकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये बारहको अष्टाईससे गुणा करनेपर मतिज्ञानके तानिसौ छत्तीस भेद होते हैं ।

बहुवृत्तिजादिग्रहणे बहुबहुविहामियरामियरग्रहणम्हि ।

सगणामादो सिद्धा खिप्पादी सेदरा य तथा ॥ ३१० ॥

बहुव्यक्तिजातिग्रहणे बहु बहुविधमितरदितरग्रहणे ।

स्वकनामतः सिद्धाः क्षिप्रादयः सेतराश्च तथा ॥ ३१० ॥

अर्थ—एक जातिकी बहुतसी व्यक्तियोंको बहु कहते हैं । अनेक जातिके बहुत पदार्थोंको बहुविध कहते हैं । एक जातिकी एक दो व्यक्तियोंको अल्प (एक) कहते हैं । एक जातिकी अनेक व्यक्तियोंको एकविध कहते हैं । क्षिप्रादिक तथा उनके प्रतिपक्षियोंका उनके नामसे ही अर्थ सिद्ध है । भावार्थ—शीघ्र पदार्थको क्षिप्र कहते हैं, जैसे तेजीसे बहता हुआ जलप्रवाह । मन्द पदार्थको अक्षिप्र कहते हैं, जैसे कलुआ, धीरे १ चलनेवाला थोड़ा मनुष्य आदि । छिपे हुएको (अप्रकट) अनिसृत कहते हैं, जैसे जलमें डूबा हुआ हस्ती आदि । प्रकट पदार्थको निसृत कहते हैं, जैसे सामने खड़ा हुआ हस्ती । जो पदार्थ अभिप्रायसे समझा जाय उसको अनुक्त कहते हैं । जैसे किसीके हाथ या शिरसे इसारा करनेपर किसी कामके विषयमें हां या ना समझना । जो शब्दके द्वारा कहा जाय उसको उक्त कहते हैं, जैसे यह घट है । स्थिर पदार्थको ध्रुव कहते हैं, जैसे पर्वत आदि, क्षणस्थायी (अस्थिर) पदार्थको अध्रुव कहते हैं, जैसे विजली आदि ।

अनिसृत ज्ञानविशेषको दिखाते हैं ।

वत्थुस्स पदेसादो वत्थुगग्रहणं तु वत्थुदेसं वा ।

सकलं वा अवलंबिय अणित्सिदं अणवत्थुगई ॥ ३११ ॥

वस्तुनः प्रदेशात् वस्तुग्रहणं तु वस्तुदेशं वा ।

सकलं वा अवलम्ब्य अनिसृतमन्यवस्तुगतिः ॥ ३११ ॥

अर्थ—वस्तुके एकदेशको देखकर समस्त वस्तुका ज्ञान होना, अथवा वस्तुके एकदेश या पूर्ण वस्तुका ग्रहण करके उसके निमित्तसे किसी दूसरी वस्तुके होनेवाले ज्ञानको भी अनिसृत कहते हैं ।

इसका दृष्टान्त दिखाते हैं ।

पुष्करग्रहणे काले हस्तिस्स य वदणगवयग्रहणे वा ।

वत्थंतरचन्द्रस्स य धेणुस्स य बोहणं च हवे ॥ ३१२ ॥

पुष्करग्रहणे काले हस्तिनश्च वदनगवयग्रहणे वा ।

वत्स्वन्तरचन्द्रस्य च धेनोश्च बोधनं च भवेत् ॥ ३१२ ॥

अर्थ—जलमें डूबे हुए हस्तीकी मूँडको देखकर उस ही समयमें जलमग्न हस्तीका ज्ञान होना, अथवा मुखको देखकर उस ही समय उससे भिन्न किन्तु उसके सदृश चन्द्रमाका ज्ञान होना, अथवा गवयको देखकर उसके सदृश गौका ज्ञान होना । इनको अनिस्तृत ज्ञान कहते हैं ।

सामान्य विषय अर्ध विषय और पूर्ण विषयकी अपेक्षासे मतिज्ञानके स्थानोंको गिनते हैं ।

एकचउक्कं चउवीसट्ठावीसं च तिप्पडिं किच्चा ।

इगिच्छवारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि ॥ ३१३ ॥

एकचतुष्कं चतुर्विंशत्यष्टाविंशतिश्च त्रिःप्रति कृत्वा ।

एकपङ्क्तादशगुणिते मतिज्ञाने भवन्ति स्थानानि ॥ ३१३ ॥

अर्थ—मतिज्ञान सामान्यकी अपेक्षा एक भेद, अवग्रह ईहा अवाय धारणाकी अपेक्षा चार भेद, पांच इन्द्रिय और छठे मनसे अवग्रहादि चारके गुणा करनेकी अपेक्षा चौबीस भेद, अर्थावग्रह व्यञ्जनावग्रहकी अपेक्षासे अष्टाईस भेद मतिज्ञानके होते हैं । इनको क्रमसे तीन पंक्तियोंमें स्थापन करके एक छह और बारहसे यथाक्रमसे गुणा करनेपर मतिज्ञानके सामान्य अर्ध और पूर्ण स्थान होते हैं । **भावार्थ**—विषयसामान्यसे यदि इन चारका गुणा किया जाय तो क्रमसे एक चार चौबीस और अष्टाईस स्थान होते हैं । और यदि इन चार ही का बहु आदिक छहसे गुणा किया जाय तो मतिज्ञानके अर्ध स्थान होते हैं । और बहु आदिक बारहसे यदि गुणा किया जाय तो पूर्ण स्थान होते हैं ।

क्रमप्राप्त श्रुत ज्ञानका विशेष वर्णन करनेसे पहले उसका सामान्य लक्षण कहते हैं ।

अत्थादो अत्थंतरमुवलंभंतं भणंति सुदणाणं ।

आभिणिबोहियपुब्बं णियमेणिह सद्वजं पमुहं ॥ ३१४ ॥

अर्थादर्थान्तरमुपलभमानं भणन्ति श्रुतज्ञानम् ।

आभिनिबोधिकपूर्वं नियमेनेह शब्दज्ञं प्रमुखम् ॥ ३१४ ॥

अर्थ—मतिज्ञानके विषयभूत पदार्थसे भिन्न पदार्थके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान नियमसे मतिज्ञानपूर्वक होता है । इस श्रुतज्ञानके अक्षरात्मक अनक्षरात्मक इस तरह,

अथवा शब्दजन्य और लिङ्गजन्य इस तरहसे दो भेद हैं, इनमें मुख्य शब्दजन्य श्रुतज्ञान है । श्रुतज्ञानके भेद गिनाते हैं ।

लोगाणमसंखमिदा अणक्खरण्णे हवन्ति छट्ठाणा ।

वेरूवच्छट्ठवगपमाणं रूऊणमक्खरणं ॥ ३१५ ॥

लोकानामसंख्यमितानि अनक्षरात्मके भवन्ति षट् स्थानानि ।

द्विरूपषष्ठवर्गप्रमाणं रूपोन्मक्षरगम् ॥ ३१५ ॥

अर्थ—अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि अनन्तगुणवृद्धि इन षट्स्थानपातित वृद्धिकी अपेक्षासे अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके सबसे जघन्य स्थानसे लेकर उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त असंख्यातलोकप्रमाण भेद होते हैं । द्विरूप-वर्गधारामें छठे वर्गका जितना प्रमाण है (एकष्टी) उसमें एक कम करनेसे जितना प्रमाण बाकी रहे उतना ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का प्रमाण है । **भावार्थ—**अनक्षरात्मक श्रुतज्ञानके असंख्यात भेद हैं । अपुनरुक्त अक्षरात्म श्रुतज्ञानके संख्यात भेद हैं, और पुनरुक्त अक्षरात्म-कका प्रमाण इससे कुछ अधिक है ।

दूसरी तरहसे श्रुतज्ञानके भेद दो गाथाओंमें गिनाते हैं ।

पज्जायक्खरण्णदसंघादं पडिवत्तियाणिजोगं च ।

दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥ ३१६ ॥

तेसिं च समासेहि य वीसविहं वा हु होदि सुदणाणं ।

आवरणस्स वि भेदा तत्तियमेत्ता हवन्ति ॥ ३१७ ॥

पर्यायाक्षरपदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च ।

द्विकवारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च ॥ ३१६ ॥

तेषां च समासैश्च विंशविधं वा हि भवति श्रुतज्ञानम् ।

आवरणस्यापि भेदाः तावन्मात्रा भवन्ति इति ॥ ३१७ ॥

अर्थ—पर्याय पर्यायसमास अक्षर अक्षरसमास पद पदसमास संघात संघातसमास प्रतिपत्तिक प्रतिपत्तिकसमास अनुयोग अनुयोगसमास प्राभृतप्राभृत प्राभृतप्राभृतसमास प्राभृत प्राभृतसमास वस्तु वस्तुसमास पूर्व पूर्वसमास, इस तरह श्रुतज्ञानके बीस भेद हैं । इस ही लिये श्रुतज्ञानावरण कर्मके भी बीस भेद होते हैं । किन्तु पर्यायावरण कर्मके विषयमें कुछ भेद है उसको आगेके गाथामें बतावेंगे ।

चार गाथाओंमें पर्याय ज्ञानका स्वरूप दिखाते हैं ।

णवरि विसेसं जाणे सुहमजहण्णं तु पज्जयं णाणं ।

पज्जायावरणं पुण तदणंतरणाणभेदमिह ॥ ३१८ ॥

नवारि विशेषं जानीहि सूक्ष्मजघन्यं तु पर्यायं ज्ञानम् ।

पर्यायावरणं पुनः तदनन्तरज्ञानभेदे ॥ ३१८ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक के जो सबसे जघन्य ज्ञान होता है उसको पर्याय ज्ञान कहते हैं । इसमें विशेषता केवल यही है कि इसके आवरण करनेवाले कर्मके उदयका फल इसमें (पर्याय ज्ञानमें) नहीं होता; किन्तु इसके अनन्तरज्ञानके (पर्यायसमास) प्रथम भेदमें होता है । **भावार्थ**—यदि पर्यायावरण कर्मके उदयका फल पर्यायज्ञानमें होजाय तो ज्ञानोपयोगका अभाव होनेसे जीवका भी अभाव होजाय, इसलिये पर्यायावरण कर्मका फल उसके आगेके प्रथम ज्ञानके भेद में ही होता है । इसीलिये कमसे कम पर्यायरूप ज्ञान जीवके अवश्य पाया जाता है ।

सुहमणिगोदपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयग्धि ।

हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणम् ॥ ३१९ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।

भवति हि सर्वजघन्यं नित्योद्घाटं निरावरणम् ॥ ३१९ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें सबसे जघन्य ज्ञान होता है । इसीको पर्याय ज्ञान कहते हैं । इतना ज्ञान हमेशा निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है ।

पर्याय ज्ञानके स्वामीकी विशेषता दिखाते हैं ।

सुहमणिगोदपज्जत्तगेषु सगसंभवेसु भमिऊण ।

चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्टियेव हवे ॥ ३२० ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तगेषु स्वकसम्भवेषु भ्रमित्वा ।

चरमापूर्णत्रिवक्काणामादिमवक्कस्थिते एव भवेत् ॥ ३२० ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके अपने २ जितने भव (छह हजार बारह) सम्भव हैं उनमें भ्रमण करके अन्तके अपर्याप्त शरीरको तीन मोड़ाओंके द्वारा ग्रहण करनेवाले जीवके प्रथम मोड़ाके समयमें सर्वजघन्य ज्ञान होता है ।

सुहमणिगोदपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयग्धि ।

फासिंदियमादिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं ॥ ३२१ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य प्रथमसमये ।

स्पर्शेन्द्रियमतिपूर्वं श्रुतज्ञानं लब्ध्यक्षरकम् ॥ ३२१ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवके उत्पन्न होनेके प्रथम समयमें स्पर्शन इन्द्रियजन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है । **भावार्थ**—लब्धि नाम श्रुत-ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमका है, और अक्षर नाम अविनश्वरका है; इसलिये इस ज्ञानको

लब्धयश्चर कहते हैं; क्योंकि इस क्षयोपक्षमका कभी विनाश नहीं होता, कमसे कम इतना क्षयोपक्षम तो जीवके रहता ही है ।

पर्यायसमास ज्ञानका निरूपण करते हैं ।

अवरुवरिम्भि अणंतमसंखं संखं च भागवद्धीए ।

संखमसंखमणंतं गुणवद्धी होंति हु कमेण ॥ ३२२ ॥

अवरोपरि अनन्तमसंख्यं संख्यं च भागवद्धयः ।

संख्यमसंख्यमनन्तं गुणवृद्धयो भवन्ति हि कमेण ॥ ३२२ ॥

अर्थ—सर्वज्ञग्न्य पर्याय ज्ञानके उपर क्रमसे अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि होती हैं ।

जीवाणं च य रासी असंखलोगा वरं खु संखेज्जं ।

भागगुणभिह य कमसो अवट्ठिदा होंति छट्ठाणा ॥ ३२३ ॥

जीवानां च राशिः असंख्यलोका वरं खलु संख्यातम् ।

भागगुणयोश्च क्रमशः अवस्थिता भवन्ति षट्स्थाने ॥ ३२३ ॥

अर्थ—समस्त जीवराशि, असंख्यातलोकप्रमाण राशि, उत्कृष्ट संख्यात राशि ये तीन राशि, पूर्वोक्त अनन्तभागवृद्धि आदि छह स्थानोंमें भागहार अथवा गुणाकारकी क्रमसे अवस्थित राशि हैं । **भावार्थ**—अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार समस्त जीवराशिप्रमाण अवस्थित है, असंख्यातभागवृद्धि और असंख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार असंख्यातलोकप्रमाण अवस्थित है । संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार उत्कृष्ट संख्यात अवस्थित है ।

लाघवके लिये छह वृद्धियोंकी छह संज्ञा रखते हैं ।

उव्वंकं चउरंकं पणछस्सत्तंक अट्ठअंकं च ।

छव्वद्धीणं सण्णा कमसो संदिठ्ठिकरणट्ठं ॥ ३२४ ॥

उर्वङ्कश्चतुरङ्कः पञ्चषट्सप्ताङ्कः अष्टाङ्कश्च ।

षड्वृद्धीनां संज्ञा क्रमशः संदष्टिकरणार्थम् ॥ ३२४ ॥

अर्थ—लघुरूप संदष्टिकेलिये क्रमसे छह वृद्धियोंकी ये छह संज्ञा हैं । अनन्तभागवृद्धिकी उर्वङ्क, असंख्यातभागवृद्धिकी चतुरङ्क, संख्यातभागवृद्धिकी पञ्चाङ्क, संख्यातगुणवृद्धिकी षडङ्क, असंख्यातगुणवृद्धिकी सप्ताङ्क, अनन्तगुणवृद्धिकी अष्टाङ्क ।

अङ्कुलअसंखभागे पुब्बगवद्धीगदे दु परबद्धी ।

एकं वारं होदि हु पुणो पुणो चरिमउट्ठिती ॥ ३२५ ॥

अङ्गुलासंख्यातभागे पूर्वगवृद्धिगते तु परवृद्धिः ।

एकं वारं भवति हि पुनः पुनः चमरवृद्धिरिति ॥ ३२५ ॥

अर्थ—सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण पूर्व वृद्धि होनेपर एक वार उत्तर वृद्धि होती है । यह नियम अंतकी वृद्धि पर्यन्त समझना चाहिये । **भावार्थ—**सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होनेपर एक वार असंख्यातभागवृद्धि होती है, इसके अनन्तर सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होनेपर फिर एकवार असंख्यात-भागवृद्धि होती है । इसी क्रमसे असंख्यातभागवृद्धि भी जब सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण होजाय तब सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होनेपर एक वार संख्यात-भागवृद्धि होती है । इस ही तरह अन्तकी वृद्धिपर्यन्त जानना ।

आदिमछट्टाणमिह य पंच य वड्डी हवन्ति सेसेसु ।

छव्वड्डीओ होंति हु सरिसा सव्वत्थ पदसंखा ॥ ३२६ ॥

आदिमषट्स्थाने च पञ्च च वृद्धयो भवन्ति शेषेषु ।

षड्वृद्धयो भवन्ति हि सदृशा सर्वत्र पदसंख्या ॥ ३२६ ॥

अर्थ—असंख्यातलोके प्रमाण षट्स्थानोंमेंसे प्रथम षट्स्थानमें पांच ही वृद्धि होती हैं; अष्टाङ्क वृद्धि नहीं होती । शेष सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें अष्टाङ्कसहित छह वृद्धि होती हैं । सूच्यङ्गुलका असंख्यातमा भाग अवस्थित है इसलिये पदोंकी संख्या सब जगह सदृश ही समझनी चाहिये ।

प्रथम षट्स्थानमें अष्टाङ्कवृद्धि क्यों नहीं होती ? इसका हेतु लिखते हैं ।

छट्टाणाणं आदी अट्ठकं होदि चरिममुव्वकं ।

जम्हा जहण्णणाणं अट्ठकं होदि जिणदिट्ठं ॥ ३२७ ॥

षट्स्थानानामादिरष्टाङ्कं भवति चरममुर्वङ्कम् ।

यस्माज्जघन्यज्ञानमष्टाङ्कं भवति जिनदृष्टम् ॥ ३२७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण षट्स्थानोंमें आदिके स्थानको अष्टाङ्क और अन्तके स्थानको उर्वङ्क कहते हैं, क्योंकि जघन्य पर्यय ज्ञान भी अगुरुल्लु गुणके अविभागप्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा अष्टाङ्क हो सकता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने प्रत्यक्ष देखा है ।

एकं खलु अट्ठकं सत्तकं कंडयं तदो हेट्ठा ।

रुवहियकंडएण य गुणिदकमा जावमुव्वकं ॥ ३२८ ॥

एकं खलु अष्टाङ्कं सप्ताङ्कं काण्डकं ततोऽथः ।

रूपाधिककाण्डकेन च गुणितक्रमा यावदुर्वङ्कः ॥ ३२८ ॥

अर्थ—एक षट्स्थानमें एक ही अष्टाङ्क होता है । और सप्ताङ्क सूच्यङ्गुलके

असंख्यातमे भागमात्र होते हैं । इसके नीचे पङ्क पञ्चांक चतुरंक उर्वक ये एक २ अधिकवार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणित कम हैं । **भावार्थ**—पङ्क दो बार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणित है, और पञ्चांक तीन बार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागसे गुणित है । इस ही तरह चतुरकमें चार बार और उर्वकमें पांच बार सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागका गुणाकार होता है ।

सम्पूर्ण पङ्कद्वियोंका जोड़ बताते हैं ।

सच्चसमासो नियमा रूपाधिकण्डकस्य वर्गस्य ।

बिंदुस्य य संवर्गो होदिति जिनेहिं णिद्विट् ॥ ३२९ ॥

सर्वसमासो नियमात् रूपाधिकण्डकस्य वर्गस्य ।

वृन्दस्य च संवर्गो भवतीतिजिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ३२९ ॥

अर्थ—एक अधिक काण्डकके वर्ग और घनको परस्पर गुणा करनेसे जो प्रमाण लब्ध आवे उतना ही एक पटस्थानपतित वृद्धियोंके प्रमाणका जोड़ है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

भावार्थ—एक अधिक सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागको पांच जगह रख कर परस्पर गुणा करनेसे जो लब्ध आवे उतनी बार एक पटस्थानमें अनन्तभागवृद्धि आदि होते हैं ।

उक्तससंखमेत्तं तत्तिचउत्थेकदालछप्पणं ।

सत्तदसमं च भागं गंतूणय लद्धिअक्खरं दुगुणं ॥ ३३० ॥

उत्कृष्टसंख्यातमात्रं तत्रिचतुर्थैकचत्वारिंशत्षट्पञ्चाशम् ।

सप्तदशमं च भागं गत्वा लब्ध्यक्षरं द्विगुणम् ॥ ३३० ॥

अर्थ—एक अधिक काण्डकसे गुणित सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागप्रमाण अनन्तभाग-वृद्धिके स्थान, और सूच्यंगुलके असंख्यातमे भागप्रमाण असंख्यातभागवृद्धिके स्थान, इन दो वृद्धियोंको जघन्य ज्ञानके उपर होजानेपर एक बार संख्यातभागवृद्धिका स्थान होता है । इसके आगे उक्त क्रमानुसार उत्कृष्ट संख्यातमात्र संख्यातभागवृद्धियोंके होजानेपर उसमें प्रक्षेपक वृद्धिके होनेसे लब्ध्यक्षरका प्रमाण दूना होजाता है । परन्तु प्रक्षेपककी वृद्धि कहां २ पर कितनी २ होती है यह बत ते हैं । उत्कृष्ट संख्यातमात्र पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धिके स्था-नेंमेंसे तीन—चौथाई भागप्रमाण स्थानोंके होजानेपर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक इन दो वृद्धियोंको जघन्य ज्ञानके उपर होजानेसे लब्ध्यक्षरका प्रमाण दूना होजाता है । पूर्वोक्त संख्यात-भागवृद्धियुक्त उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानोंके छप्पन भागोंमेंसे इकतालीस भागोंके वीतजानेपर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपककी वृद्धि होनेसे साधिक (कुछ अधिक) जघन्यका दूना प्रमाण होजाता है । अथवा संख्यातभागवृद्धिके उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानोंमेंसे सत्रह स्थानोंके अनन्तर

प्रक्षेपक प्रक्षेपकप्रक्षेपके तथा पिशूलि इन तीन वृद्धियोंको साधिक जघन्यके ऊपर करनेसे साधिक जघन्यका प्रमाण दूना होता है ।

एवं असंखलोगा अणक्खरप्पे इवंति छाडणा ।

ते पज्जायसमासा अक्खरगं उवरि वोच्छामि ॥ ३३१ ॥

एवमसंख्यलोका अनक्षरात्मके पटस्थानानि ।

ते पर्यायसमासा अक्षरगमुपरि वदयामि ॥ ३३१ ॥

अर्थ—इस प्रकारसे अनक्षरात्मक श्रुत ज्ञानके असंख्यात लोकप्रमाण पटस्थान होते हैं । ये सब ही पर्यायसमास ज्ञानके भेद हैं । अब इसके आगे अक्षरात्मक श्रुत ज्ञानका वर्णन करेंगे ।

अर्थाक्षर श्रुत ज्ञानको बताते हैं ।

चरिमुव्वंकेणवहिदअत्थक्खरगुणिदचरिममुव्वंके ।

अत्थक्खरं तु पाणं होदित्ति जिणेहिं णिदिट्ठं ॥ ३३२ ॥

चरमोर्वकेणावहितार्थाक्षरगुणितचरमोर्वङ्कम् ।

अर्थाक्षरं तु ज्ञानं भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ३३२ ॥

अर्थ—अन्तके उर्वकका अर्थाक्षरसमूहमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अन्तके उर्वकसे गुणा करनेपर अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है । **भावार्थ—**असंख्यात—लोकप्रमाण पटस्थानोंमें अन्तके पटस्थानकी अन्तिम उर्वक—वृद्धिसे युक्त उत्कृष्ट पर्यायसमास ज्ञानसे अनन्तगुणा अर्थाक्षर ज्ञान होता है । यह अर्थाक्षर सम्पूर्ण श्रुत-केवल ज्ञानरूप है । इसमें एक कम एकट्ठीका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही अर्थाक्षर ज्ञानका प्रमाण होता है ।

श्रुतनिबद्ध विषयका प्रमाण बताते हैं ।

पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं ।

पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुदणिवद्धो ॥ ३३३ ॥

प्रज्ञापनीया भावा अनन्तभागस्तु अनभिलप्प्यानाम् ।

प्रज्ञापनीयानां पुनः अनन्तभागः श्रुतनिबद्धः ॥ ३३३ ॥

अर्थ—अनभिलप्य पदार्थोंके अनन्तमे भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं । और प्रज्ञापनीय पदार्थोंके अनन्तमे भाग प्रमाण श्रुतमें निबद्ध हैं । **भावार्थ—**जो केवल केवल-ज्ञानके द्वारा जाने जासकते हैं; किन्तु जिनका वचनके द्वारा निरूपण नहीं किया जासकता ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त हैं । इस तरहके पदार्थोंसे अनन्तमें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं कि

जिनका वचनके द्वारा निरूपण होसकता है, उनको प्रज्ञापनीय भाव कहते हैं । जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनन्तमा भाग श्रुतमें निरूपित है ।

अक्षरसमास ज्ञान तथा पदज्ञानका स्वरूप बताते हैं ।

एयक्खरादु उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो ।

संखेज्जे खलु उट्ठे पदणामं होदि सुदणाणं ॥ ३३४ ॥

एकाक्षरात्तूपरि एकैकेनाक्षरेण वर्धमानाः ।

संख्येये खलु वृद्धे पदनाम भवति श्रुतज्ञानम् ॥ ३३४ ॥

अर्थ—अक्षर ज्ञानके ऊपर क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब संख्यात अक्षरोंकी वृद्धि होजाय तब पदनामक श्रुतज्ञान होता है । अक्षर ज्ञानके ऊपर और पदज्ञानके पूर्व तक जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब अक्षरसमास ज्ञानके भेद हैं ।

एक पदके अक्षरोंका प्रमाण बताते हैं ।

सोलससयचउतीसा कोडी तियसीदिलक्खयं चेव ।

सत्तसहस्साट्ठसया अट्ठासीदी य पदवण्णा ॥ ३३५ ॥

षोडशशतचतुर्ध्विंशत्कोट्यः व्यशीतिलक्षकं चैव ।

सप्तसहस्राण्यष्टशतानि अष्टाशीतिश्च पदवर्णाः ॥ ३३५ ॥

अर्थ—सोलहसौ चौतीस कोटि तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी (१६३४८३०७८८८) एक पदमें अक्षर होते हैं । **भावार्थ**—पद तीन तरहके होते हैं, अर्थपद प्रमाण पद मध्यम पद । इनमेंसे “ सफेद गौको रस्सीसे बांधो ” “ अग्निको लाओ ” इत्यादि अनियत अक्षरोंके समूहरूप किसी अर्थविशेषके बोधक वाक्यको अर्थपद कहते हैं । आठ आदिक अक्षरोंके समूहको प्रमाणपद कहते हैं, जैसे श्लोकके एक पादमें आठ अक्षर होते हैं । इस ही तरह दूसरे छन्दोंके पदोंमें भी अक्षरोंका न्यूनाधिक प्रमाण होता है । परन्तु गाथामें कहे हुए पदके अक्षरोंका प्रमाण सर्वदाकेलिये निश्चित है, इस ही को मध्यमपद कहते हैं ।

संघात श्रुतज्ञानको बताते हैं ।

एयपदादो उवरिं एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो ।

संखेज्जसहस्सपदे उट्ठे संघादणाम सुदं ॥ ३३६ ॥

एकपदादुपरि एकैकेनाक्षरेण वर्धमानाः ।

संख्यातसहस्रपदे वृद्धे संघातनाम श्रुतश्च ॥ ३३६ ॥

अर्थ—एक पदके आगे भी क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते होते संख्यात हजार पदकी वृद्धि होजाय उसको संघातनामक श्रुत ज्ञान कहते हैं । एक पदके ऊपर और संघा-

त ज्ञानके पूर्व जितने ज्ञानके भेद हैं वे सब पदसमासके भेद हैं । यह संघात नामक श्रुतज्ञान चार गतिमेंसे एक गतिके स्वरूपका निरूपण करनेवाले अपुनरुक्त मध्यम पदोंका समूहरूप है ।

प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञानका स्वरूप बताते हैं ।

एकदरगदिगिरूवयसंवाद्सुदादु उवरि पुव्वं वा ।

वण्णे संखेज्जे संघादे उड्ढमिह पडिवत्ती ॥ ३३७ ॥

एकतरगतनिरूपकसंघातश्रुतादुपरि पूर्व वा ।

वर्ण संख्येये संघाते वृद्धे प्रतिपत्तिः ॥ ३३७ ॥

अर्थ—चार गतिमेंसे एक गतिका निरूपण करनेवाले संघात श्रुतज्ञानके ऊपर पूर्वकी तरह क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब संख्यात हजार संघातकी वृद्धि होजाय तब एक प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान होता है । संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञानके मध्यमें जितने ज्ञानके विकल्प हैं उतने ही संघातसमासके भेद हैं । यह ज्ञान नरकादिक चार गतियोंका विस्तृत स्वरूप जाननेवाला है ।

अनुयोग श्रुतज्ञानका स्वरूप बताते हैं ।

चउगइसरूवरूवयपडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा ।

वण्णे संखेज्जे पडिवत्तीउड्ढमिह अणियोगं ॥ ३३८ ॥

चतुर्गतिस्वरूपरूपकप्रतिपत्तितस्तु उपरि पूर्व वा ।

वर्ण संख्याते प्रतिपत्तिवृद्धे अनुयोगम् ॥ ३३८ ॥

अर्थ—चारों गतियोंके स्वरूपका निरूपण करनेवाले प्रतिपत्ति ज्ञानके ऊपर क्रमसे पूर्वकी तरह एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब संख्यात हजार प्रतिपत्तिकी वृद्धि होजाय तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है । इसके पहले और प्रतिपत्ति ज्ञानके ऊपर सम्पूर्ण प्रतिपत्तिसमास ज्ञानके भेद हैं । अन्तिम प्रतिपत्तिसमास ज्ञानके भेदमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे अनुयोग श्रुतज्ञान होता है । इस ज्ञानके द्वारा चौदह मार्गणाओंका विस्तृत स्वरूप जाना जाता है ।

प्राभृतप्राभृतकका स्वरूप दो गाथाओं द्वारा बताते हैं ।

चोइसमगणसंजुदअणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे ।

चउरादीअणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि ॥ ३३९ ॥

चतुर्दशमार्गणासंयुतानुयोगादुपरि वर्धिते वर्णे ।

चतुराद्यनुयोगे द्विकवारं प्राभृतं भवति ॥ ३३९ ॥

गो. १७

अर्थ—चौदह मार्गणाओंका निरूपण करनेवाले अनुयोग ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमके अनुसार एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब चतुरादि अनुयोगोंकी वृद्धि होजाय तब प्राभृत-प्राभृतक श्रुतज्ञान होता है । इसके पहले और अनुयोग ज्ञानके ऊपर जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब अनुयोगसमासके भेद जानना ।

अहियारो पाहुडयं एयट्ठो पाहुडस्स अहियारो ।

पाहुडपाहुडणामं होदिच्चि जिणेहिं णिदिट्ठं ॥ ३४० ॥

अधिकारः प्राभृतमेकार्थः प्राभृतस्याधिकारः ।

प्राभृतप्राभृतनामा भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ३४० ॥

अर्थ—प्राभृत और अधिकार ये दोनों एक अर्थके वाचक हैं । अत एव प्राभृतके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है । **भावार्थ**—वस्तुनाम श्रुतज्ञानके एक अधिकारको प्राभृत और अधिकारके अधिकारको प्राभृतप्राभृत कहते हैं ।

प्राभृतका स्वरूप बताते हैं ।

दुगवारपाहुडादो उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे ।

दुगवारपाहुडे संउट्ठे खलु होदि पाहुडयं ॥ ३४१ ॥

द्विकवारप्राभृतादुपरि वर्णं क्रमेण चतुर्विंशतौ ।

द्विकवारप्राभृते संवृद्धे खलु भवति प्राभृतकम् ॥ ३४१ ॥

अर्थ—प्राभृतप्राभृत ज्ञानके ऊपर पूर्वोक्त क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब चौबीस प्राभृतप्राभृतककी वृद्धि होजाय तब एक प्राभृतक श्रुत ज्ञान होता है । प्राभृतके पहले और प्राभृतप्राभृतके ऊपर जितने ज्ञानके विकल्प हैं वे सब ही प्राभृतप्राभृतसमासके भेद जानना । उत्कृष्ट प्राभृतप्राभृतसमासके भेदमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे प्राभृत ज्ञान होता है ।

वस्तु श्रुतज्ञानका स्वरूप दिखाते हैं ।

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एक्कवत्थुअहियारो ।

एक्केक्कवण्णउट्ठी कमेण सव्वत्थ णायव्वा ॥ ३४२ ॥

विंशतौ विंशतौ प्राभृताधिकारे एको वस्त्वधिकारः ।

एकैकवर्णवृद्धिः क्रमेण सर्वत्र ज्ञातव्या ॥ ३४२ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राभृत ज्ञानके ऊपर एक २ अक्षरकी वृद्धि होते २ जब क्रमसे बीस प्राभृतकी वृद्धि होजाय तब एक वस्तु अधिकार पूर्ण होता है । वस्तु ज्ञानके पहले और प्राभृत ज्ञानके ऊपर जितने विकल्प हैं वे सब प्राभृतसमास ज्ञानके भेद हैं । उत्कृष्ट प्राभृतसमासमें एक अक्षरकी वृद्धि होनेसे वस्तुनामक श्रुतज्ञान पूर्ण होता है ।

भावार्थ—एक २ वस्तु अधिकारमें बीस २ प्राभृत होते हैं और एक २ प्राभृतमें चौबीस २ प्राभृतप्राभृत होते हैं ।

पूर्व ज्ञानके भेदोंकी संख्या बताते हैं ।

दस चोदमद्व अट्टारसयं बारं च बार सोलं च ।

वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं ॥ ३४३ ॥

दश चतुर्दशाष्ट अष्टादशकं द्वादश च द्वादश षोडश च ।

विंशतिः त्रिंशत् पञ्चदश च दश चतुर्षु वस्तूनाम् ॥ ३४३ ॥

अर्थ—पूर्व ज्ञानके चौदह भेद हैं जिनमेंसे प्रत्येकमें क्रमसे दश, चौदह, आठ, अठा-
रह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पंद्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं ।

चौदह पूर्वके नाम गिनाते हैं ।

उत्पायपुव्वगाणियविरियपवादत्थिणत्थियपवादे ।

णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य ॥ ३४४ ॥

पच्चक्खाणे विज्जाणुवांदकल्लाणपाणवादे य ।

किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयविंदुसारं य ॥ ३४५ ॥

उत्पादपूर्वाग्रायणीयवीर्यप्रवादास्तिनास्तिकप्रवादानि ।

ज्ञानसत्यप्रवादे आत्मकर्मप्रवादे च ॥ ३४४ ॥

प्रत्यारूयानं वीर्यानुवादकल्याणप्राणवादानि च ।

क्रियाविशालपूर्वं क्रमशः अथ त्रिलोकविन्दुसारं च ॥ ३४५ ॥

अर्थ—उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्र-
वाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्यारूयान, वीर्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल,
त्रिलोकविन्दुसार, इस तरहसे ये क्रमसे पूर्वज्ञानके चौदह भेद हैं । **भावार्थ—**वस्तुज्ञानके
ऊपर एक २ अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे पदसंघातआदिकी वृद्धि होते २ जब क्रमसे दश वस्तुकी
वृद्धि होजाय तब पहला उत्पादपूर्व होता है । इसके आगे क्रमसे अक्षर पद संघात आदि-
ककी वृद्धि होते २ जब चौदह वस्तुकी वृद्धि होजाय तब दूसरा आग्रायणीय पूर्व होता है । इसके
आगे भी क्रमसे अक्षर पद संघात आदिकी वृद्धि होते २ जब क्रमसे आठ वस्तुकी वृद्धि होजाय
तब तीसरा वीर्यप्रवाद होता है । इसके आगे क्रमसे अक्षरादिककी वृद्धि होते २ जब अठा-
रह वस्तुकी वृद्धि होजाय तब चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद होता है । इस ही तरह आगेके पांचमें
आदिक पूर्व भी क्रमसे बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश,
वस्तुकी वृद्धिके होनेसे होते हैं । अर्थात् अस्तिनास्तिप्रवादके ऊपर क्रमसे बारह वस्तुकी वृद्धि

होनेसे पांचमा ज्ञानप्रवाद, और ज्ञानप्रवादके ऊपर भी क्रमसे बारह वस्तुकी वृद्धि होनेसे सत्यप्रवाद होता है । इस ही तरह आगेके आत्मप्रवाद आदिकका प्रमाण भी समझना चाहिये ।

चौदह पूर्वके समस्त वस्तुकी और उनके अधिकारभूत समस्त प्राभृतोंके जोड़का प्रमाण बताते हैं ।

पणणउदिसया वत्थू पाहुडया तियसहस्सणवयसया ।

एदेसु चोदसेसु वि पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि ॥ ३४६ ॥

पञ्चनवतिशतानि वस्तूनि प्राभृतकानि त्रिसहस्रनवशतानि ।

एतेषु चतुर्दशस्वपि पूर्वेषु भवन्ति मिलितानि ॥ ३४६ ॥

अर्थ—इन चौदह पूर्वोंके सम्पूर्ण वस्तुओंका जोड़ एकसौ पचानवे (१९९) होता है । और एक २ वस्तुमें बीस २ प्राभृत होते हैं इस लिये सम्पूर्ण प्राभृतोंका प्रमाण तीन हजार नौ सौ (३९००) होता है ।

पहले बीसप्रकारका जो श्रुतज्ञान बताया था उसहीका दो गाथाओंमें उपसंहार करते हैं ।

अत्थक्खरं च पदसंघातं पड्वित्तियाणिजोगं च ।

दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च ॥ ३४७ ॥

कमवण्णुत्तरवाड्डिय ताण समासा य अक्खरगदाणि ।

णाणवियप्पे वीसं गंथे बारस य चोदसयं ॥ ३४८ ॥

अर्थाक्षरं च पदसंघातं प्रतिपत्तिकानुयोगं च ।

द्विकवारप्राभृतं च च प्राभृतकं वस्तु पूर्वं च ॥ ३४७ ॥

क्रमवर्णोत्तरवर्धिते तेषां समासाश्च अक्षरगताः ।

ज्ञानविकल्पे विंशतिः ग्रन्थे द्वादश च चतुर्दशकम् ॥ ३४८ ॥

अर्थ—अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग, प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व, ये नव तथा क्रमसे एक २ अक्षरकी वृद्धिके द्वारा उत्पन्न होनेवाले अक्षरसमास आदि नव इस तरह अठारह भेद द्रव्य श्रुतके होते हैं । पर्याय और पर्यायसमासके मिलानेसे बीस भेद ज्ञानरूप श्रुतके होते हैं । यदि ग्रन्थरूप श्रुतकी विवक्षा की जाय तो आचाराङ्ग आदि बारह और उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद होते हैं ।

द्वादशाङ्गके समस्त पदोंकी संख्या बताते हैं ।

बारुत्तरसयकोडी तेसीदी तहय होंति लक्खाणं ।

अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं ॥ ३४९ ॥

द्वादशोत्तरशतकोट्यः त्र्यशीतिस्तथा भवन्ति लक्षानाम् ।

अष्टापञ्चाशत्सहस्राणि पञ्चैव पदानि अङ्गनाम् ॥ ३४९ ॥

अर्थ—द्वादशाङ्गके समस्त पद एक सौ बारह करोड़ त्र्यासी लाख अठ्ठावन हजार पांच (११२८३९८००९) होते हैं ।

अङ्गबाह्य अक्षर कितने हैं उनका प्रमाण बताते हैं ।

अडकोडिएलक्खा अट्टसहस्सा य एयसदिगं च ।

पणत्तरि वण्णाओ पट्ठणयाणं पमाणं तु ॥ ३५० ॥

अष्टकोट्येकल्ल॥णि अट्टसहस्राणि च एकशतकं च ।

पञ्चससतिः वर्णाः प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु ॥ ३५० ॥

अर्थ—आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एकसौ पचहत्तर (८०१०८१७९) प्रकीर्णक (अङ्गबाह्य) अक्षरोंका प्रमाण है ।

चार गाथाओंद्वारा उक्त अर्थको समझनेकी प्रक्रिया बताते हैं ।

तेतीस वेंजणाइं सत्तावीसा सरा तहा भणिया ।

चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ ॥ ३५१ ॥

त्रयस्त्रिंशत् व्यंजनानि सप्तविंशतिः स्वरास्तथा भणिताः ।

चत्वारश्च योगवहाः चतुःषष्टिः मूलवर्णाः ॥ ३५१ ॥

अर्थ—तेतीस व्यंजन सत्ताईस स्वर चार योगवाह इस तरह कुछ चौंसठ मूलवर्ण होते हैं । **भावार्थ**—स्वरके बिना जिनका उच्चारण न हो सके ऐसे अर्धक्षरोंको व्यंजन कहते हैं । उनके क् ख् से लेकर ह् पर्यन्त तेतीस भेद हैं । अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ये नव स्वर हैं, इनके ह्रस्व दीर्घे प्लुतकी अपेक्षा सत्ताईस भेद होते हैं । अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय उपध्मानीय ये चार योगवाह हैं । सब मिलकर चौंसठ अनादिनिधन मूलवर्ण हैं ।

यद्यपि दीर्घ लृ वर्ण संस्कृतमें नहीं है तब भी अनुकरणमें अथवा देशान्तरोंकी भाषामें आता है इसलिये चौंसठ वर्णोंमें इसका भी पाठ है ।

चउसट्ठिपदं विरलिय दुगं च दाउण संगुणं किञ्चा ।

रुऊणं च कए पुण सुदणाणस्सक्खरा होंति ॥ ३५२ ॥

चतुःषष्टिपदं विरल्यित्वा द्विकं च दत्त्वा संगुणं कृत्वा ।

रूपेण च कृते पुनः श्रुतज्ञानस्याक्षराणि भवन्ति ॥ ३५२ ॥

अर्थ—उक्त चौंसठ अक्षरोंका विरलन करके प्रत्येकके ऊपर दोका अङ्क देकर परस्पर सम्पूर्ण दोके अङ्कोंका गुणा करनेसे लब्ध राशिमें एक घटा देनेसे जो प्रमाण रहता है उतने ही श्रुत ज्ञानके अक्षर होते हैं ।

वे अक्षर कितने हैं उसका प्रमाण बताते हैं ।

एकठ च च य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता ।

सुण्णं णव पण पंच य एकं छक्केकगो य पणगं च ॥ ३५३ ॥

एकाष्ट च च च षट्ससकं च च च शून्यसप्तत्रिकसप्त ।

शून्यं नव पञ्च पञ्च च एकं षट्कैककश्च पञ्चकं च ॥ ३५३ ॥

अर्थ—परस्पर गुणा करनेसे उत्पन्न होनेवाले अक्षरोंका प्रमाण यह है । एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पांच पांच एक छह एक पांच । भावार्थ—१८४४६७४४०७३७०९५९१६१९ इतने अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुतके समस्त अपुनरुक्त अक्षर हैं । पुनरुक्त अक्षरोंकी संख्याका नियम नहीं है ।

इन अक्षरोंमेंसे अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य श्रुतके अक्षरोंका विभाग करते हैं ।

मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि ।

सेसक्खरसंखा ओ पइण्णयाणं पमाणं तु ॥ ३५४ ॥

मध्यमपदाक्षरावहितवर्णास्ते अङ्गपूर्वगपदानि ।

शेषाक्षरसंख्या अहो प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु ॥ ३५४ ॥

अर्थ—मध्यमपदके अक्षरोंका जो प्रमाण है उसका समस्त अक्षरोंके प्रमाणमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने अंग और पूर्वगत मध्यम पद होते हैं । शेष जितने अक्षर रहें उतना अङ्गबाह्य अक्षरोंका प्रमाण है । भावार्थ—पहले मध्यम पदके अक्षरोंका प्रमाण बताया है कि एक मध्यम पदमें सोलहसौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठसौ अठासी अक्षर होते हैं । जब इतने अक्षरोंका एक पद होता है तब समस्त अक्षरोंके कितने पद होंगे इस तरह त्रैराशिक करनेसे—अर्थात् फलराशि (एक मध्यम पद) और इच्छा-राशिका (समस्त अक्षरोंका) परस्पर गुणा कर उसमें प्रमाण राशिका (एक मध्यम पदके समस्त अक्षरोंके प्रमाणका) भाग देनेसे जो लब्ध आवे वह समस्त मध्यम पदोंका प्रमाण है । इन समस्त मध्यम पदोंके जितने अक्षर हुए वे अङ्गप्रविष्ट अक्षर हैं और जो शेष अक्षर रहे वे अङ्गबाह्य अक्षर हैं ।

तेरह गाथाओंमें अङ्गोंके और पूर्वोंके पदोंकी संख्या बताते हैं ।

आयारे सुहयडे ठाणे समवायणामगे अंगे ।

तत्तो बिक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा ॥ ३५५ ॥

तोवासयअज्झयणे अंतयडे पुत्तरोववाददसे ।

पण्हणं वायरणे विवायसुत्ते य पदसंखा ॥ ३५६ ॥

आचारे सूत्रकृते स्थाने समवायनामके अङ्गे ।

ततो व्याख्याप्रज्ञप्तौ नाथस्य धर्मकथायां ॥ ३५६ ॥

तत उपासकाध्ययने अन्तकृते अनुत्तरोपपाददशे ।

प्रश्नानां व्याकरणे विपाकसूत्रे च पदसंख्या ॥ ३५६ ॥

अर्थ—आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथाङ्ग, उपासकाध्ययनाङ्ग, अन्तःकृदशाङ्ग, अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग, प्रश्नव्याकरण, और विपाकसूत्र इन ग्यारह अङ्गोंके पदोंकी संख्या क्रमसे निम्नलिखित है ।

अट्टारस छत्तीसं बादालं अडकडी अडवि छप्पणं ।

सत्तरि अट्ठावांसं चउदालं सोलससहस्सा ॥ ३५७ ॥

इगिदुगपंचेयारं तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी ।

चुलसीदिलक्खमेया कोडी य विवागसूत्तमिह ॥ ३५८ ॥

अष्टादश पट्तिशत् द्वाचत्वारिंशत् अष्टकृतिः अष्टद्वि पट्पञ्चाशत् ।

सप्ततिः अष्टाविंशतिः चतुश्चत्वारिंशत् षोडशसहस्राणि ॥ ३५७ ॥

एकद्विपञ्चैकादशत्रयोविंशतिद्वित्रिनवतिलक्षं चतुर्थादिषु ।

चतुरशीतिलक्षमेका कोटिश्च विपाकसूत्रे ॥ ३५८ ॥

अर्थ—आचाराङ्गमें अठारह हजार पद हैं, सूत्रकृताङ्गमें छत्तीस हजार, स्थानाङ्गमें वियालीस हजार, समवायाङ्गमें एक लाख चौंसठ हजार, व्याख्याप्रज्ञप्तिमें दो लाख अट्ठाईस हजार, धर्मकथाङ्गमें पांच लाख छप्पन हजार, उपासकाध्ययनाङ्गमें ग्यारह लाख सत्तर हजार, अन्तःकृदशाङ्गमें तेईस लाख अट्ठाई हजार, अनुत्तरोपपादिक दशाङ्गमें बानवे लाख चबालीस हजार, प्रश्नव्याकरण अङ्गमें तिरानवे लाख सोलह हजार पद हैं । तथा ग्यारहमे विपाकसूत्र अङ्गमें एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं ।

सम्पूर्ण पदोंका जोड़ बताते हैं ।

वापणनरनोनानं एयारंगे जुदी हु वादमिह ।

कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाहिरे वण्णा ॥ ३५९ ॥

वापणनरनोनानं एकादशाङ्के युतिर्हि वादे ।

कनजतजमताननमं जनकनजयसीम बाह्ये वर्णाः ॥ ३५९ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त ग्यारह अङ्गोंके पदोंका जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार (४१ ५०२०००) होता है । बारहमे दृष्टिवाद अङ्गमें सम्पूर्ण पद १०८६८५६००५ होते हैं । और अङ्गबाह्य अक्षरोंका प्रमाण आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (८०१०८१७५) है ।

बारहमें अङ्गके भेद और उनके पदोंका प्रमाण बताते हैं ।

चंद्रविजुवुदीवयदीवसमुद्भववियाहपण्णत्ती ।

परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो ॥ ३६० ॥

पुव्वं जलथलमाया आगासयरूवगयमिमा पंच ।

भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो ॥ ३६१ ॥

चन्द्रविजम्बूद्वीपकद्वीपसमुद्रकल्याख्याप्रज्ञप्तयः ।

परिकर्म पञ्चविधं सूत्रं प्रथमानुयोगमतः ॥ ३६० ॥

पूर्वं जलस्थलमायाकाशकरूपगता इमे पञ्च ।

भेदा हि चूलिकायाः तेषु प्रमाणमिदं कमशः ॥ ३६१ ॥

अर्थ—बारहमें दृष्टिवाद अङ्गके पांच भेद हैं—परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका । इसमें परिकर्मके पांच भेद हैं—चन्द्रप्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति द्वीपसागरप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्ति । पूर्वगतके चौदह भेद हैं जिनका वर्णन आगे करेंगे । चूलिकाके पांच भेद हैं जलगता स्थलगता मायागता आकाशगता रूपगता । अब इनके पदोंका प्रमाण कमसे बताते हैं ।

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा ।

मननन धममननोनननामं रनधजधराननजलादी ॥ ३६२ ॥

याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होंति परिकम्मे ।

कानवधिवाचनाननमेसो पुण चूलियाजोगो ॥ ३६३ ॥

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्षाणि ।

मननन धममननोनननामं रनधजधरानन जलादिषु ॥ ३६२ ॥

याजकनामेनाननमेतानि पदानि भवन्ति परिकर्मणि ।

कानवधिवाचनाननमेवः पुनः चूलिकायोगः ॥ ३६३ ॥

अर्थ—कमसे चन्द्रप्रज्ञप्तिमें छत्तीस लाख पांच हजार; सूर्यप्रज्ञप्तिमें पांच लाख तीन हजार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें तीन लाख पच्चीस हजार, द्वीपसागरप्रज्ञप्तिमें बावन लाख छत्तीस हजार, व्याख्याप्रज्ञप्तिमें चौरासी लाख छत्तीस हजार पद हैं । सूत्रमें अठासी लाख पद हैं । प्रथमानुयोगमें पांच हजार पद हैं । चौदह पूर्वोंमें पचानवे करोड़ पचास लाख पांच पद हैं । पांचो चूलिकाओंमेंसे प्रत्येकमें दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं । चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि पांचप्रकारके परिकर्मके पदोंका जोड़ एक करोड़ इक्यासी लाख पांच हजार है । पांच प्रकारकी चूलिकाके पदोंका जोड़ दश करोड़ उनंचास लाख छ्यालीस हजार (१०४९४६०००) है । **भावार्थ**—यहां पर जो अक्षर तथा पदोंका प्रमाण बताया है वह अपुनरुक्त अक्षर तथा पदोंका प्रमाण समझना ।

चौदह पूर्वोंमेंसे प्रत्येक पूर्वके पदोंका प्रमाण बताते हैं ।

पण्णहदाल पणतीस तीस पण्णास पण्ण तेरसदं ।

णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरससयादं ॥ ३६४ ॥

छस्सय पण्णासादं चउसयपण्णास छसयपणुवीसा ।

बिहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छट्ठे ॥ ३६५ ॥

पञ्चाशदष्टचत्वारिंशत् पञ्चत्रिंशत् त्रिंशत् पञ्चाशत् पञ्चाशत् त्रयोदशशतम् ।

नवतिः द्वाचत्वारिंशत् पूर्वं पञ्चपञ्चाशत् त्रयोदशशतानि ॥ ३६४ ॥

षट्छतपञ्चाशानि चतुःशतपञ्चाशत् षट्छतपञ्चत्रिंशतिः ।

द्वाभ्यां लक्षाभ्यां तु गुणितानि पञ्चमं रूपोऽनं षट्युतानि षष्ठे ॥ ३६५ ॥

अर्थ—चौदह पूर्वोंमेंसे क्रमसे प्रथम उत्पाद पूर्वमें एक करोड़ पद हैं । दूसरे आग्नीयणीय पूर्वमें छद्यानेवे लाख पद हैं । तीसरे वीर्यप्रवादमें मत्तर लाख पद हैं । चतुर्थ अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्वमें साठ लाख पद हैं । पांचमे ज्ञानप्रवादमें एक कम एक करोड़ (९९९९९९९) पद हैं । छठे सत्यप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ छह (१००००००६) पद हैं । सातमे आत्मप्रवादमें छत्वीस करोड़ पद हैं । आठमे कर्मप्रवाद पूर्वमें एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं । नौमे प्रत्याख्यान पूर्वमें चउरासी लाख पद हैं । दशमे विद्यानुवाद पूर्वमें एक करोड़ दश लाख पद हैं । ग्यारहमे कल्याणवाद पूर्वमें छत्वीस करोड़ पद हैं । बारहमे प्राणावाद पूर्वमें तेरह करोड़ पद हैं । तेरहमे क्रियाविशाल पूर्वमें नौ करोड़ पद हैं । चौदहमे त्रिलोकविन्दुसारमें बारह करोड़ पचास लाख पद हैं । **भावार्थ—**चौदह पूर्वोंमेंसे किस २ पूर्वमें कितने २ पद हैं यह इन दो गाथाओंमें बता दिया है । अब प्रकरण पाकर यहांपर द्वादशाङ्ग तथा चौदह पूर्वोंमें किस २ विषयका वर्णन है यह संक्षेपसे विशेष बताया जाता है । प्रथम आचाराङ्गमें ' किस तरह आचरण करै ? किस तरह खड़ा हो ? किस तरह बैठे । किस तरह शयन करै । किस तरह भाषण करै ? किस तरह भोजन करै ? पापका बन्ध किस तरह से नहीं होता ? ' इत्यादि प्रश्नोंके अनुसार 'यत्नपूर्वक आचरण करै, यत्नपूर्वक खड़ा हो, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक शयन करै, यत्नपूर्वक भाषण करै, यत्नपूर्वक भोजन करै, इस तरहसे पापका बन्ध नहीं होता' इत्यादि उत्तररूप वाक्योंके द्वारा मुनियोंके समस्त आचारणका वर्णन है । दूसरे सूत्रकृताङ्गमें ज्ञानविनय आदि निर्विघ्न अध्ययनक्रियाका अथवा प्रज्ञापना कल्पाकल्प छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मक्रियाका, तथा स्वसमय और परसमयका स्वरूप सूत्रोंके द्वारा बताया है । तीसरे स्थानाङ्गमें सम्पूर्ण द्रव्योंके एकसे लेकर कितने

१ कथं चरे कथं चित्ते कथमासे कथं सए, कथं भुंजीज भासेज जदो पावं ण बंधई ' इसके उत्तरमें " जदं चरे जदं चित्ते जदमासे जदं सये जदं भुंजीज भासेज एवं पावं ण बंधई " इत्यादि ॥

विकल्प हो सकते हैं उन विकल्पोंका वर्णन किया है । जैसे सामान्यकी अपेक्षासे जीवद्रव्यका एक ही स्थान (विकल्प=भेद) है, संसारी और मुक्तकी अपेक्षासे दो भेद हैं, उत्पाद व्यय ध्रौव्यकी अपेक्षासे तीन भेद हैं, चार गतियोंकी अपेक्षासे चार भेद हैं । इत्यादि । इस ही तरह पुद्गल आदिक द्रव्योंके भी विकल्प समझना । चौथे समवायाङ्गमें सम्पूर्ण द्रव्योंमें परस्पर किस २ धर्मकी अपेक्षासे सादृश्य है यह बताया है । पाचमे व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्गमें जीव है या नहीं ? वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है ? नित्य है या अनित्य है ? एक है या अनेक है ? इत्यादि साठ हजार प्रश्नोंका व्याख्यान है । छठे नाथधर्मकथा अथवा ज्ञातृधर्मकथा अङ्गमें जीवादि वस्तुओंका स्वभाव, तीर्थंकरों का माहात्म्य, तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनिका समय तथा माहात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयधर्मका स्वरूप बताया है । तथा गणधर इन्द्र चक्रवर्ती आदिकी कथा उपकथाओंका वर्णन है । सातमे उपासकाध्ययन अङ्गमें उपासकोंकी (श्रावकोंकी) सम्यग्दर्शनादिक ग्यारह प्रतिमासम्बन्धी व्रत गुण शील आचार तथा दूसरे क्रिया काण्ड और उनके मन्त्रादिकोंका सविस्तर वर्णन किया है । आठमें अन्तःकृद्दशाङ्गमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें^१ जो दश २ मुनि चार प्रकारका तीव्र उपसर्ग सहन करके संसारके अन्तको प्राप्त हुए उनका वर्णन है । नौमे अनुत्तरौपदादिकदशाङ्गमें प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें होनेवाले उन दश २ दक्ष मुनियोंका वर्णन है जो कि घोर उपसर्गको सहन करके अन्तमें समाधिके द्वारा अपने प्राणोंका त्याग करके विजय आदि पांच प्रकारके अनुत्तर विमानोंमें उत्पन्न हुए । दशमे प्रश्नव्याकरण अङ्गमें दूतवाक्य नष्ट मुष्टि चिन्ता आदि अनेक प्रकारके प्रश्नोंके अनुसार तीन कालसम्बन्धी घन धान्यादिका लालालभ सुख दुःख जीवन मरण जय पराजय आदि फलका वर्णन है । और प्रश्नके अनुसार आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनी इन चार प्रकारकी कथाओंका वर्णन है । ग्यारहमे विपाकसूत्रमें द्रव्य क्षेत्र काल भावके अनुसार शुभाशुभ कर्मोंकी तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक प्रकारकी अनुभाग—शक्तिके फल देनेरूप विषयका वर्णन है । बाहरमे दृष्टिवाद अङ्गमें तीन सौ त्रैसठ मिथ्या मतों का वर्णन और उनका निराकरण है । दृष्टिवाद अङ्गके पांच भेद हैं—परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका । परिकर्ममें गणित के करणसूत्रोंका वर्णन है । इसके (परिकर्मके) पांच भेद हैं, चन्द्रप्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति द्वीपसागरप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्ति । चन्द्रप्रज्ञप्तिमें चन्द्रमासम्बन्धी विमान आयु परिवार ऋद्धि गमन हानि वृद्धि पूर्ण ग्रहण अर्ध ग्रहण चतुर्थीश ग्रहण आदिका वर्णन है । इस ही प्रकार सूर्यप्रज्ञप्तिमें सूर्यसम्बन्धी आयु परिवार गमन ग्रहण आदिका वर्णन है । जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें जम्बूद्वीपसम्बन्धी मेरु

एक तीर्थंकरके अनन्तर जब तक दूसरा तीर्थंकर उत्पन्न न हो तब तकके समयको प्रथम तीर्थंकरका तीर्थ कहते हैं ।

कुलाचल महाहृद (तलाव) क्षेत्र कंड वेदिका वन व्यन्तरोंके आताम महानदी आदिका वर्णन है । द्वीपसागरप्रज्ञासिमें असंख्यात द्वीप और समुद्रोंका स्वरूप तथा वहापर होनेवाले अकृत्रिम चैत्यालयोंका वर्णन है । व्याख्याप्रज्ञासिमें भव्य अभव्य—भेद प्रमाण लक्षण रूपी अरूपी जीव अजीव द्रव्योंका और अनन्तरसिद्ध परंपरासिद्धोंका तथा दूसरी वस्तुओंका भी वर्णन है । दृष्टिवादके दूसरे भेद—सूत्रमें तीनसौ त्रैसठ मिथ्यादृष्टियोंका पूर्वपक्षपूर्वक निराकरण है । तीसरे भेद प्रथमानुयोगमें त्रैसठ शलाका पुरुषोंका वर्णन है । चौथे पूर्वके चौदह भेद हैं । उनमें क्रिस् २ विषयका वर्णन है यह संक्षेपसे क्रमसे बताते हैं । उत्पादपूर्वमें प्रत्येक द्रव्यके उत्पाद व्यय प्रौढ्य और उनके संयोगी धर्मोंका वर्णन है । आग्रायणीय पूर्वमें द्वादशाङ्गमें प्रधानभूत सातसौ सुनय तथा दुर्णय पञ्चास्तिकाय षड्द्रव्य सप्त तत्त्व नव पदार्थ आदिका वर्णन है । वीथानुवादमें आत्मवीर्य परवीर्य उभयवीर्य कालवीर्य तपोवीर्य द्रव्यवीर्य गुणवीर्य पर्यायवीर्य आदि अनेकप्रकारके वीर्य (सामर्थ्य) का वर्णन है । अस्तिनास्तिप्रवादमें स्यादस्ति स्यान्नास्ति आदि सप्तभंगीका वर्णन है । ज्ञानप्रवादमें मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवल रूप प्रमाण—ज्ञान, तथा कुमति कुश्रुत विभङ्ग रूप अप्रमाण ज्ञानके स्वरूप संख्या विषय फलका वर्णन है । सत्यप्रवादमें आठ प्रकारके शब्दोच्चारणके स्थान, पांच प्रयत्न, वाक्यसंस्कारके कारण, शिष्ट दृष्ट शब्दों के प्रयोग, लक्षण, वचनके भेद, बारह प्रकारकी भाषा, अनेक प्रकारके असत्यवचन, दशप्रकारका सत्यवचन, वाग्गुप्ति, मौन आदिका वर्णन है । आत्मप्रवादमें आत्माके कर्तृत्व आदि अनेक धर्मोंका वर्णन है । कर्मप्रवादमें मूलोत्तर प्रकृति तथा बंध उदय उदीरणा आदि कर्मकी अनेक अवस्थाओंका वर्णन है । प्रत्याख्यानपूर्वमें नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव, पुरुषके संहनन आदिकी अपेक्षासे सदोष वस्तुका त्याग, उपवासकी विधि, पांच समिति, तीन गुप्ति आदिका वर्णन है । विद्यानुवादमें अंगुष्ठप्रसेना आदि सातसौ अल्पविद्या, तथा रोहिणी आदि पांचसौ महा विद्याओंका स्वरूप सामर्थ्य मन्त्र तन्त्र पूजा—विधान आदिका, तथा सिद्ध विद्याओंका फल और अन्तरिक्ष भौम अंग स्वर स्वप्न लक्षण व्यंजन छिन्न इन आठ महा-निमित्तोंका वर्णन है । कल्याणवादमें तीर्थकरादिके गर्भावतरणादि कल्याण, उनके कारण पुण्य-कर्म षोडश भावना आदिका, तथा चन्द्र सूर्य ग्रह नक्षत्रोंके चारका, ग्रहण शकुन आदिके फलका वर्णन है । प्राणावादमें कायचिकित्सा आदि आठ प्रकारके आयुर्वेदका, इडा पिंगला आदिका, दश प्राणोंके उपकारक अपकारक द्रव्योंका गतियोंके अनुसारसे वर्णन किया है । क्रियाविशालमें संगीत छंद अलङ्कार पुरुषोंकी बहत्तर कला स्त्रीके चौंसठ गुण, शिल्पादिविज्ञान, गर्भाधानादि क्रिया, नित्य नैमित्तिक क्रियाओंका वर्णन है । त्रिलोकचिन्दुसारमें लोकका स्वरूप, छत्तीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बाँज, मोक्षका स्वरूप, उसके गमनका कारण, क्रिया, मोक्षसुखके स्वरूपका वर्णन है । दृष्टिवादानामक बारहमे अंगका पाचमा भेद चूलिका है । उसके

पांच भेद हैं, जलगता स्थलगता मायागता आकाशगता रूपगता । इनमेंसे जलगतामें जलगमन अग्निस्तम्भन अग्निभक्षण अग्निका आसन अग्निप्रवेश आदिके मन्त्र तन्त्र तपश्चर्या आदिका वर्णन है । स्थलगतामें मेरु कुलचल भूमि आदिमें प्रवेश शीघ्रगमन आदिके कारण मन्त्र तन्त्र आदिका वर्णन है । मायागतामें इन्द्रजाल सम्बन्धी मन्त्रादिका वर्णन है । आकाशगतामें आकाशगमनके कारण मन्त्र तन्त्र आदिका वर्णन है । रूपगतामें सिंहादिक अनेक प्रकारके रूप बनानेके कारण भूत मन्त्रादिका वर्णन है ।

अङ्गबाह्य श्रुतके भेद गिनाते हैं ।

सामाह्वयचउवीसत्थयं तदो बंदणा पडिक्कमणं ।

वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं ॥ ३६६ ॥

कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं ।

महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोहसमंगबाहिरयं ॥ ३६७ ॥

सामायिकचतुर्विंशस्तवं ततो वंदना प्रतिक्रमणम् ।

वैनयिकं कृतिकर्म दशवैकालिकं च उत्तराध्ययनम् ॥ ३६९ ॥

कल्पव्यवहार—कल्पाकल्पिक—महाकल्पं च पुंडरीकम् ।

महापुंडरीकनिषिद्धिके इति चतुर्दशाङ्गबाह्यम् ॥ ३६७ ॥

अर्थ—सामायिक, चतुर्विंशस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका ये अङ्गबाह्यश्रुतके चौदह भेद हैं ।

श्रुतज्ञानका माहात्म्य बताते हैं ।

सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो ।

सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं ॥ ३६८ ॥

श्रुतं केवलं च ज्ञानं द्वेऽपि सदशे भवतो बोधात् ।

श्रुतज्ञानं तु परोक्षं प्रत्यक्षं केवलं ज्ञानम् ॥ ३६८ ॥

अर्थ—ज्ञानकी अपेक्षा श्रुत ज्ञान तथा केवल ज्ञान दोनों ही सदश हैं । परन्तु दोनोंमें अन्तर यही है कि श्रुत ज्ञान परोक्ष है और केवल ज्ञान प्रत्यक्ष है । **भावार्थ—**जिस तरह श्रुत ज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य और उनकी पर्यायोंको जानता है उस ही तरह केवल ज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायोंको जानता है । विशेषता इतनी ही है कि श्रुत ज्ञान इन्द्रिय और मनकी सहायतासे होता है इसलिये इसकी अमूर्त पदार्थोंमें और उनकी अर्थपर्याय तथा दूसरे सूक्ष्म अंशोंमें स्पष्टरूपसे प्रवृत्ति नहीं होती । किन्तु केवल ज्ञान निरावरण होनेके कारण समस्त पदार्थोंको स्पष्टरूपसे विषय करता है ।

कमप्राप्त अवधि ज्ञानका निरूपण करते हैं ।

अवहीयदिति ओही सीमाणाणेति वणिणयं समये ।

भवगुणपञ्चयविहियं जमोहिणाणेति णं वेति ॥ ३६९ ॥

अवधीयते इत्यवधिः सीमाज्ञानमिति वर्णितं समये ।

भवगुणप्रत्ययविधिकं यदवधिज्ञानमिति इदं ब्रुवन्ति ॥ ३६९ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र क. १ भावकी अपेक्षासे जिसके विषयकी सीमा हो उसको अवधि ज्ञान कहते हैं । इस ही लिये परमाण्वममे इसको सीमाज्ञान कहा है । तथा इसके जिनेन्द्रदेवने दो भेद कहे हैं, एक भवप्रत्यय दूसरा गुणप्रत्यय । **भावार्थ—**नारकादि भवकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर जो अवधिज्ञान हो उसको भवप्रत्यय अवधि कहते हैं । जो सम्यग्दर्शनादि कारणोंकी अपेक्षासे अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होकर अवधिज्ञान होता है उसको गुणप्रत्यय अवधि कहते हैं । इसके विषयको परिमित होनेसे इस ज्ञानको अवधिज्ञान अथवा सीमाज्ञान कहते हैं । यद्यपि दूसरे मतिज्ञानादिके विषयकी भी सामान्यसे सीमा है, इसलिये दूसरे ज्ञानोंको भी अवधिज्ञान कहना चाहिये; तथापि समभिरूढनयकी अपेक्षासे ज्ञानविशेषको ही अवधि ज्ञान कहते हैं ।

दोनोप्रकारके अवधि ज्ञानका स्वामी तथा स्वरूप बताते हैं ।

भवपञ्चङ्गो सुरणिरयाणं तिथेवि सव्वअंगुत्थो ।

गुणपञ्चङ्गो णरतिरियाणं संखादिचिह्नभवो ॥ ३७० ॥

भवप्रत्ययकं सुरनारकाणां तीर्थेऽपि सर्वाङ्गेत्यम् ।

गुणप्रत्ययकं नरतिरिक्तां संखादिचिह्नभवम् ॥ ३७० ॥

अर्थ—भवप्रत्यय अवधिज्ञान देव नारकी तथा तीर्थकरोंके होता है । और यह ज्ञान सम्पूर्ण अङ्गसे उत्पन्न होता है । गुणप्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्य तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तीर्थचार्क भी होता है । और यह ज्ञान शंखादि चिह्नोंसे होता है । **भावार्थ—**नाभिके ऊपर शंख पद्म वज्र स्वस्तिक कलश आदि जो शुभ चिह्न होते हैं; उस जगह के आत्मप्रदेशोंमें होनेवाले अवधिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे गुणप्रत्यय अवधिज्ञान होता है । किन्तु भवप्रत्यय अवधि सम्पूर्ण आत्मप्रदेशोंसे होता है ।

उत्तरार्धमें प्रकारान्तरसे सामान्य अवधिके तथा पूर्वार्धमें गुणप्रत्यय अवधिके भेदोंको गिनाते हैं ।

गुणपञ्चङ्गो छद्वा अणुगावट्टिदपवट्टमाणिदरा ।

देसोही परमोही सव्वोहित्ति य तिथा ओही ॥ ३७१ ॥

गुणप्रत्ययकः षोढा अनुगावस्थितप्रवर्धमानेतरै ।

देशावधिः परमावधिः सर्वावधिरिति च त्रिधा अवधिः ॥ ३७१ ॥

अर्थ—गुणप्रत्यय अवधिज्ञानके छह भेद हैं, अनुगामी अननुगामी अवस्थित अनवस्थित वर्धमान हीयमान । तथा सामान्यसे अवधिज्ञानके देशावधि परमावधि सर्वावधि इसतरहसे तीन भेद भी होते हैं । **भावार्थ**—जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीवके साथ जाय उसको **अनुगामी** कहते हैं । इसके तीन भेद हैं, क्षेत्रानुगामी भवानुगामी उभयानुगामी । जो दूसरे क्षेत्रमें अपने स्वामीके साथ जाय उसको क्षेत्रानुगामी कहते हैं । जो दूसरे भवमें साथ जाय उसको भवानुगामी कहते हैं । जो दूसरे क्षेत्र तथा भव दोनोंमें साथ जाय उसको उभयानुगामी कहते हैं । जो अपने स्वामी जीवके साथ न जाय उसको **अननुगामी** कहते हैं, इसके भी तीन भेद हैं क्षेत्रानुगामी भवानुगामी उभयानुगामी । जो सूर्यमण्डलके समान न घटे न बड़े उसको **अवस्थित** कहते हैं । जो चन्द्रमण्डलकी तरह कभी कम हो कभी अधिक हो उसको **अनवस्थित** कहते हैं । जो शुक्लपक्षके चन्द्रकी तरह अपने अन्तिम स्थानतक बढ़ता जाय उसको **वर्धमान** अवधि कहते हैं । जो कृष्णपक्षके चन्द्रकी तरह अन्तिम स्थानतक घटता जाय उसको **हीयमान** कहते हैं ।

भवपञ्चङ्गो ओही देसोही होदि परमसञ्चोही ।

गुणपञ्चङ्गो नियमा देसोही वि य गुणे होदि ॥ ३७२ ॥

भवप्रत्ययकोऽवधिः देशावधिः भवति परमसर्वावधी ।

गुणप्रत्ययको नियमात् देशावधिरपि च गुणे भवति ॥ ३७२ ॥

अर्थ—भवप्रत्यय अवधि नियमसे देशावधि ही होता है । और दर्शनविशुद्धि आदि गुणोंके निमित्तसे होनेवाला गुणप्रत्यय अवधि ज्ञान देशावधि परमावधि सर्वावधि इस तरह तीनों प्रकारका होता है ।

देसोहिस्स य अवरं णरतिरिये होदि संजदम्हि वरं ।

परमोही सञ्चोही चरमशरीरस्स विरदस्स ॥ ३७३ ॥

देशावधेश्च अवरं नरतिरश्चोः भवति संयते वरम् ।

परमावधिः सर्वावधिः चरमशरीरस्य विरतस्य ॥ ३७३ ॥

अर्थ—नवन्य देशावधि ज्ञान संयत तथा असंयत दोनों ही प्रकारके मनुष्य तथा तिर्यचोंके होता है । उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान संयत जीवोंके ही होता है । किन्तु परमावधि और सर्वावधि चरमशरीरी और महाव्रतीके ही होता है ।

पडिवादी देसोही अप्पडिवादी हवन्ति सेसा ओ ।

मिच्छन्तं अविरमणं ण य पडिवज्जन्ति चरिमदुगे ॥ ३७४ ॥

प्रतिपाती देशावधिः अप्रतिपातिनौ भवतः शेषो अहो ।

मिथ्यात्वमविरमणं न च प्रतिपद्येते चरमद्विके ॥ ३७४ ॥

अर्थ—देशावधि ज्ञान प्रतिपाती होता है । और परमावधि तथा सर्वावधि अप्रतिपाती होते हैं । तथा परमावधि और सर्वावधिवाले जीव नियमसे मिथ्यात्व और अत्रत अवस्थाको प्राप्त नहीं होते । **भावार्थ**—सम्यक्त्व और चारित्र्यं च्युत होकर मिथ्यात्व और असंय-
मकी प्राप्तिको प्रतिपात करते हैं , यह प्रतिपात देशावधिवालेका ही होता है । परमावधि और सर्वावधिवालेका नहीं होता ।

अवधि ज्ञानका द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे वर्णन करते हैं ।

द्वयं खेत्तं कालं भावं पण्डि रूढि जाणदे ओही ।

अवरादुक्कस्सोत्ति य वियप्परहिदो दु सव्वोही ॥ ३७५ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति रूपि जानीते अवधिः ।

अवरादुत्कृष्ट इति च विकल्परहितस्तु सर्वावधिः ॥ ३७५ ॥

अर्थ—जघन्य भेदसे लेकर उत्कृष्ट भेदपर्यन्त सब ही अवधि ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे रूपि (पुद्गल) द्रव्यको ही जानता है । तथा उसके सम्बन्धसे संसारी जीव द्रव्यको भी जानता है । किन्तु सर्वावधि ज्ञानमें जघन्य उत्कृष्ट आदि भेद नहीं हैं—वह निर्विकल्प है ।

अवधि ज्ञानके विषयभूत सबसे जघन्य द्रव्यका प्रमाण बताते हैं ।

णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगजियं सविससचयं ।

लोयविभक्तं जाणदि अवरोही द्ववदो णियमा ॥ ३७६ ॥

नोकर्मोरालसंचयं मध्यमयोगार्जितं सविस्त्रसोपचयम् ।

लोकविभक्तं जानाति अवरावधिः द्रव्यतः नियमात् ॥ ३७६ ॥

अर्थ—मध्यम योगके द्वारा संचित विस्त्रसोपचयसहित नोकर्म औदारिक वर्णानके संचयमें लोकका भाग देनेसे जितना द्रव्य लब्ध आवे उतनेको नियमसे जघन्य अवधि ज्ञान द्रव्यकी अपेक्षासे जानता है । **भावार्थ**—विस्त्रसोपचयसहित और जिसका मध्यम योगके द्वारा संचय हुआ हो ऐसे डेढगुणहानिमात्र समयप्रचद्वरूप औदारिक नोकर्मके समूहमें लोक-
प्रमाणका भाग देनेसे जो द्रव्य लब्ध आवे उतने द्रव्यको जघन्य अवधि ज्ञान नियमसे क्षेत्रका जानता है ।

अवधि ज्ञानके विषयभूत जघन्य प्रमाण बताते हैं ।

सुहमाणिगोदअपज्जत्तयस्स जावस्स तवियसमयम्हि ।

अवरोगाहणमाणं जह्णणयं ओहिरवेत्तं तु ॥ ३७७ ॥

सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकस्य जातस्य तृतीयसमये ।

अवरावगाहनमानं जघन्यकमवधिक्षेत्रं तु ॥ ३७७ ॥

अर्थ—सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी उत्पन्न होनेसे तीसरे समयमें जो जघन्य अवगाहना होती है उसका जितना प्रमाण है उतना ही अवधि ज्ञानके जघन्य क्षेत्रका प्रमाण है । **भावार्थ**—इतने क्षेत्रमें जितने जघन्य द्रव्य होंगे जिसका कि प्रमाण पहले बताया गया है उनको जघन्य देशावधिवाला जान सकता है—इसके बाहर नहीं ।

जघन्य क्षेत्रके विषयमें विशेष कथन करते हैं ।

अवरोहिखेत्तदीहं वित्थारुस्सेहयं ण जाणामो ।

अण्णं पुण समकरणे अवरोगाहणपमाणं तु ॥ ३७८ ॥

अवरावधिक्षेत्रदीर्घं विस्तारोत्सेधकं न जानीमः ।

अन्यत् पुनः समीकरणे अवरावगाहनाप्रमाणं तु ॥ ३७८ ॥

अर्थ—जघन्य अवधि ज्ञानके क्षेत्रकी उंचाई लम्बाई चौड़ाईका भिन्न २ प्रमाण हम नहीं जानते । तथापि यह मालुम है कि समीकरण करनेसे जितना जघन्य अवगाहनका प्रमाण होता है उतना ही जघन्य अवधिका क्षेत्र है ।

अवरोगाहणमाणं उत्सेहंगुलअसंखभागस्स ।

सूइस्स य घणपदरं होदि हु तक्खेत्तसमकरणे ॥ ३७९ ॥

अवरावगाहनमानमुत्सेधाङ्गुलासंख्यभागस्य ।

सूक्ष्म घनप्रतरं भवति हि तत्क्षेत्रसमीकरणे ॥ ३७९ ॥

अर्थ—उत्सेधाङ्गुलकी अपेक्षासे उत्पन्न व्यवहार सूच्यङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण—भुजा कोटी और बेधमें परस्पर गुणा करनेसे जितना जघन्य अवगाहनाका प्रमाण होता है उतना ही समीकरण करनेसे जघन्य अवधि ज्ञानका क्षेत्र होता है । **भावार्थ**—गुणा करनेसे अङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण जघन्य अवधिका क्षेत्र होता है ।

अवरं तु ओहिखेत्तं उत्सेहं अंगुलं हवे जम्हा ।

सुहमोगाहणमाणं उवरि पमाणं तु अंगुलयं ॥ ३८० ॥

अवरं तु अवधिक्षेत्रमुत्सेधमङ्गुलं भवेद्यस्मात् ।

सूक्ष्मावगाहनमानमुपरि प्रमाणं तु अङ्गुलकम् ॥ ३८० ॥

अर्थ—जो जघन्य अवधिका क्षेत्र पहले बताया है वह भी उत्सेधाङ्गुल ही है; क्योंकि वह सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तककी जघन्य अवगाहना प्रमाण है । परन्तु आगे अङ्गुलसे प्रमाणाङ्गुलका ग्रहण करना । **भावार्थ**—जघन्य अवगाहनके समान अङ्गुलके असंख्यातमे भाग जो जघन्य अवधिका क्षेत्र बताया है वह भी उत्सेधाङ्गुलकी अपेक्षासे ही है

ऐसा समझना चाहिये; क्यों कि परमागमका ऐसा नियम है कि शरीर गन्ध आग्न नगर आदिके प्रमाण उत्सेधाङ्गुलसे ही लिये जाते हैं । परन्तु आगे अङ्गुलशब्दसे प्रमाणाङ्गुल लेना चाहिये ।

अवरोहिखेत्तमज्ज्ञे अवरोही अवरद्वयमवगमदि ।

तद्वयस्सवगाहो उत्सेहासंख्यघनपदरा ॥ ३८१ ॥

अवरावधिक्षेत्रमध्ये अवरावधिः अवरद्रव्यमवगच्छति ।

तद्रव्यस्यावगाहः उत्सेधासंख्यघनप्रतरः ॥ ३८१ ॥

अर्थ—जघन्य अवधि अपने जघन्य क्षेत्रमें जितने जघन्य द्रव्य हैं उन सबको जानता है । उस द्रव्यका अवगाह उत्सेधाङ्गुलके असंख्यातमे भागका घनप्रतर होता है ।

भावार्थ—यद्यपि जघन्य अवधिके क्षेत्रसे जघन्य द्रव्यके अवगाह—क्षेत्रका प्रमाण असंख्यातगुणा हीन है; तथापि घनरूप उत्सेधाङ्गुलके असंख्यातमे भागमात्र है । इसकी भुजा कोटी तथा वेधका प्रमाण सूच्यगुलके असंख्यातमे भाग है ।

आवलिअसंखभागं तीदभविस्सं च कालदो अवरं ।

ओही जाणदि भावे कालअसंखेज्जभागं तु ॥ ३८२ ॥

आवल्यसंख्यभागमतीतभविष्यच्च कालतः अवरम् ।

अवधिः जानाति भावे कालासंख्यातभागं तु ॥ ३८२ ॥

अर्थ—जघन्य अवधि ज्ञान कालकी अपेक्षासे आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण द्रव्यकी व्यंजन पर्यायोंको जानता है । तथा जितनी पर्यायोंको कालकी अपेक्षासे जानता है उसके असंख्यातमे भागप्रमाण वर्तमान कालकी पर्यायोंको भावकी अपेक्षासे जानता है ।

इस प्रकार जघन्य देशावधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्य क्षेत्र काल भावकी सीमाको बताकर द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षासे देशावधि ज्ञानके विकल्पोंका वर्णन करते हैं ।

अवरद्वद्वादुवरिमद्वयवियप्पाय होदि ध्रुवहारो ।

सिद्धाणंतिममाणो अभव्वसिद्धादणंतगुणो ॥ ३८३ ॥

अवरद्रव्यादुपरिमद्रव्यविकल्पाय भवति ध्रुवहारः ।

सिद्धान्तमभागः अभव्यसिद्धादनन्तगुणः ॥ ३८३ ॥

अर्थ—जघन्य द्रव्यके ऊपर द्रव्यके दूसरे भेद निकालनेके लिये ध्रुवहार होता है । इसका (ध्रुवहारका) प्रमाण सिद्धराशिसे अनन्तमे भाग और अभव्यराशिसे अनन्तगुणा है ।

अवधि ज्ञानके विषयमें समयप्रवद्धका प्रमाण बताते हैं ।

ध्रुवहारकम्मवग्गणगुणगारं कम्मवग्गणं गुणिवे ।

समयपबद्धपमाणं जाणिज्जो ओहिविसयम्हि ॥ ३८४ ॥

गो. १९

ध्रुवहारकर्मणवर्गणागुणकारं कर्मणवर्गणां गुणिते ।

समयप्रबद्धप्रमाणं ज्ञातव्यमवधिविषये ॥ ३८४ ॥

अर्थ—ध्रुवहाररूप कर्मण वर्गणाके गुणाकारका और कर्मण वर्गणाका परस्पर गुणा करनेसे अवधि ज्ञानके विषयमें समयप्रबद्धका प्रमाण निकलता है ।

ध्रुवहारका प्रमाण विशेषतासे बताते हैं ।

मणद्वववग्गणाण वियप्पाणंतिमसमं खु ध्रुवहारो ।

अवरुक्कस्सविसेसा रूवहिया तव्वियप्पा हु ॥ ३८५ ॥

मनोद्रव्यवर्गणानां विकल्पानन्तिमसमं खलु ध्रुवहारः ।

अवरोत्कृष्टविशेषाः रूपाधिकास्तद्विकल्पा हि ॥ ३८५ ॥

अर्थ—मनोद्रव्य—वर्गणाके उत्कृष्ट प्रमाणमेंसे जघन्य प्रमाणके घटानेसे जो शेष रहे उसमें एक मिलानेसे मनोद्रव्य—वर्गणाके विकल्पोंका प्रमाण होता है । इन विकल्पोंका जितना प्रमाण हो उसके अनन्त भागोंमेंसे एक भागकी बराबर अवधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्यके ध्रुवहारका प्रमाण होता है ।

मनोद्रव्य—वर्गणाके जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाणको बताते हैं ।

अवरं होदि अणंतं अणंतभागेण अहियमुक्कस्सं ।

इदि मणभेदाणंतिमभागो दव्वम्मि ध्रुवहारो ॥ ३८६ ॥

अवरं भवति अनन्तमनन्तभागेनाधिकमुत्कृष्टम् ।

इति मनोभेदानन्तिमभागो द्रव्ये ध्रुवहारः ॥ ३८६ ॥

अर्थ—मनोद्रव्यवर्गणाका जघन्य प्रमाण अनन्त, इसमें इसीके (जघन्यके) अनन्त भागोंमेंसे एक भाग मिलानेसे मनोवर्गणाका उत्कृष्ट प्रमाण होता है । इस प्रकार जितने मनोवर्गणाके भेद हुए उसके अनन्त भागोंमेंसे एकभाग-प्रमाण अवधि ज्ञानके विषयभूत द्रव्यके विषयमें ध्रुवहारका प्रमाण होता है ।

प्रकारान्तरसे फिर भी ध्रुवहारका प्रमाण बताते हैं ।

ध्रुवहारस्स पमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि ।

समयपबद्धाणिमित्तं कम्मणवग्गणागुणादो दु ॥ ३८७ ॥

होदि अणंतिमभागो तग्गुणगारो वि देसओहिस्स ।

दोऊणदव्वभेदपमाणद्धुवहारसंवग्गो ॥ ३८८ ॥

ध्रुवहारस्य प्रमाणं सिद्धानन्तिमप्रमाणमात्रमपि ।

समयप्रबद्धनिमित्तं कर्मणवर्गणागुणतस्तु ॥ ३८७ ॥

भवत्यनन्तिमभागस्तद्गुणकारो वि देशावधेः ।

धूनद्रव्यभेदप्रमाणध्रुवहारसंवर्गः ॥ ३८८ ॥

अर्थ—यद्यपि ध्रुवहारका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तमे भाग है, तथापि अथर्वि-
ज्ञान—विषयक समयप्रवद्धका प्रमाण निकालनेके निमित्तभूत कर्मण वर्णाकाे गुणकारसे अनन्तमें
भाग समझना चाहिये । द्रव्यकी अपेक्षासे देशावधि ज्ञानके जितने भेद हैं उनमें दो कम कर-
नेसे जो प्रमाण शेष रहे उसका ध्रुवहारप्रमाण परस्पर गुणा करनेसे कर्मण वर्णाके गुणकारका
प्रमाण निकलता है ।

देशावधिः ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षा कितने भेद हैं यह बताते हैं ।

अंगुलअसंखगुणदा खेत्तवियप्पा य द्दवभेदा हु ।

खेत्तवियप्पा अवरोक्कस्सविसेसं हवे एत्थ ॥ ३८९ ॥

अङ्गुलासंख्यगुणिताः क्षेत्रविकल्पाश्च द्रव्यभेदा हि ।

क्षेत्रविकल्पा अवरोत्कृष्टविशेषो भवेदत्र ॥ ३८९ ॥

अर्थ—देशावधि ज्ञानके क्षेत्रकी अपेक्षा जितने भेद हैं उनको सूच्यगुलके असंख्यातमे
भागसे गुणा करनेपर, द्रव्यकी अपेक्षासे देशावधिके भेदोंका प्रमाण निकलता है । क्षेत्रकी अपेक्षा
उत्कृष्ट प्रमाणमेंसे सर्व—जघन्य प्रमाणको घटाने और एक मिलानेसे जो प्रमाण शेष रहे
उतने ही क्षेत्रकी अपेक्षासे देशावधिके विकल्प होते हैं ।

क्षेत्रकी अपेक्षा जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण कितना है यह बताते हैं ।

अंगुलअसंखभागं अवरोक्कस्सयं हवे लो गो ।

इदि वग्गणगुणगारो असंखध्रुवहारसंवग्गो ॥ ३९० ॥

अङ्गुलासंख्यभागमवरमुत्कृष्टं भवेल्लोकः ।

इति वर्माणागुणकारोऽसंख्यध्रुवहारसंवर्गः ॥ ३९० ॥

अर्थ—देशावधिका पूर्वोक्त लब्धपर्याप्तकी जघन्य अवगाहनाप्रमाण, अर्थात् घना-
ङ्गुलके असंख्यातमे भागस्वरूप जो प्रमाण बताया है वही जघन्य क्षेत्रका प्रमाण है । सम्पूर्ण
लोकप्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र है । इसलिये असंख्यात ध्रुवहारोंका परस्पर गुणा करनेसे कर्मण वर्ग-
णाका गुणकार निष्पन्न होता है ।

वर्माणाका प्रमाण बताते हैं ।

वग्गणरासिपमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि ।

दुगसह्वियपरमभेदपमाणवहाराण संवग्गो ॥ ३९१ ॥

वर्माणाराशिप्रमाणं सिद्धान्तमप्रमाणमात्रमपि ।

द्विकसहितपरमभेदप्रमाणावहाराणां संवर्गः ॥ ३९१ ॥

अर्थ—कर्मण वर्माणाका प्रमाण यद्यपि सिद्धराशिके अनन्तमे भाग है; तथापि परमा-

वधिके भेदोंमें दो मिलानेसे जो प्रमाण हो उतनी जगह ध्रुवहार रखकर परस्पर गुणा करनेसे लब्धराशिप्रमाण कर्मण वर्णाका प्रमाण होता है ।

परमावधिके कितने भेद हैं यह बताते हैं ।

परमावहिस्स भेदा सगओगाहणवियप्पहदतेऊ ।

इदि ध्रुवहारं वर्गणगुणगारं वर्गणं जाणे ॥ ३९२ ॥

परमावधेर्भेदाः स्वकावगाहनविकल्पहततेजसः ।

इति ध्रुवहारं वर्गणगुणकारं वर्गणां जानीहि ॥ ३९२ ॥

अर्थ—तेजस्कायिक जीवोंकी अवगाहनाके जितने विकल्प हैं उसका और तेजस्कायिक जीवराशिका परस्पर गुणा करनेसे जो राशि लब्ध आवे उतना ही परमावधि ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षासे भेदोंका प्रमाण होता है । इस प्रकार ध्रुवहार, वर्णाका गुणकार, और वर्णाका स्वरूप समझना चाहिये ।

देशोहिअवरद्व्वं ध्रुवहारेणवहिदे हवे विदियं ।

तदियादिवियप्पेसु वि असंखवारोत्ति एस कम्पो ॥ ३९३ ॥

देशावध्यवरद्वयं ध्रुवहारेणावहिते भवेत् द्वितीयम् ।

तृतीयादिविकल्पेष्वपि असंख्यवार इत्येषः क्रमः ॥ ३९३ ॥

अर्थ—देशावधि ज्ञानके जघन्य द्रव्यका जो प्रमाण पहले बताया है उसमें ध्रुवहारका एक बार भाग देनेसे देशावधिके दूसरे विकल्पके द्रव्यका प्रमाण निकलता है । दूसरे विकल्पके द्रव्यमें ध्रुवहारका एक बार भाग देनेसे तीसरे विकल्पके द्रव्यका और तीसरे विकल्पके द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग देनेसे चौथे विकल्पके द्रव्यका प्रमाण निकलता है । इसी तरह आगेके विकल्पोंके द्रव्यका प्रमाण निकालनेकेलिये क्रमसे असंख्यात बार ध्रुवहारका भाग देना चाहिये ।

देशोहिमज्झभेदे सविस्ससोवचयतेजकम्मंगं ।

तेजोभासमणाणं वर्गणयं केवलं जत्थ ॥ ३९४ ॥

पस्सदि ओही तत्थ असंखेज्जाओ हवन्ति दीउवही ।

वासाणि असंखेज्जा होंति असंखेज्जगुणिदकमा ॥ ३९५ ॥

देशावधिमध्यभेदे सविस्ससोपचयतेजःकर्माङ्गम् ।

तेजोभाषामनसां वर्गणां केवलं यत्र ॥ ३९४ ॥

पश्यत्यवधिस्तत्र असंख्येया भवन्ति द्वीपोद्वयः ।

वर्षाणि असंख्यातानि भवन्ति असंख्यातगुणितकमाणि ॥ ३९५ ॥

अर्थ—इस प्रकार असंख्यात वार ध्रुवहारका भाग देते १ देशावधि ज्ञानके मध्य भेदोंमेंसे जहां पर प्रथम भेद विस्त्रसोपचयसहित तैजस शरीरको विषय करता है, अथवा इसके आगेका दूसरा मध्यभेद विस्त्रसोपचयसहित कर्मण शरीरको विषय करता है, अथवा तीसरा भेद विस्त्रसोपचयरहित तैजस वर्गणाको विषय करता है, अथवा चौथा भेद विस्त्रसोपचयरहित भाषा वर्गणाको विषय करता है, अथवा पांचवा भेद विस्त्रसोपचयरहित मनोवर्गणाको विषय करता है, वहां पर सामान्यसे देशावधिके उक्त पांचो ही मध्य भेदोंके क्षेत्रका प्रमाण असंख्यात द्वीपसमुद्र और कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है । परंतु विशेषताकी अपेक्षासे पूर्व २ भेदके क्षेत्र और कालके प्रमाणसे उत्तरोत्तर भेदके क्षेत्र और कालका प्रमाण असंख्यातगुणा असंख्यातगुणा है; क्योंकि असंख्यातके ग्री असंख्यात भेद होते हैं ।

तत्तो कम्मइयस्सिगिसमयपबद्धं विविस्ससोवचयं ।

ध्रुवहारस्स विभज्जं सव्वोही जाव ताव हवे ॥ ३९६ ॥

ततः कर्मणस्य एकसमयप्रबद्धं विविस्त्रसोपचयम् ।

ध्रुवहारस्य विभाज्यं सर्वावधिः यावत् तावत् भवेत् ॥ ३९६ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर मनोवर्गणामें ध्रुवहारका भाग देना चाहिये । इस तरह भाग देते २ विस्त्रसोपचयरहित कर्मणके एक समयप्रबद्धको विषय करता है । उक्त क्रमानुसार इसमें भी सर्वावधिके विषयपर्यन्त ध्रुवहारका भाग देते जाना चाहिये ।

एदम्हि विभज्जंते दुचरिमदेशावहिम्मि वग्गणयं ।

चरिमे कम्मइयस्सिगिवग्गणमिगिवारभजिदं तु ॥ ३९७ ॥

एतस्मिन् विभज्यमाने द्विचरमदेशावधौ वर्गणा ।

चरमे कर्मणस्यैकवर्गणा एकवारभक्ता तु ॥ ३९७ ॥

अर्थ—इस समयप्रबद्धमें भी ध्रुवहारका भाग देनेसे देशावधि ज्ञानके द्विचरम भेदके विषयभूत द्रव्यका कर्मण वर्गणारूप प्रमाण निकलता है । इस एक कर्मण वर्गणामें भी एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना देशावधिके चरम भेदके विषयभूत द्रव्यका प्रमाण निकलता है ।

अंगुलअसंखभागे द्धववियप्पे गदे तु खेत्तम्हि ।

एगागासपदेसो वड्ढदि संपुण्णलोगोत्ति ॥ ३९८ ॥

अङ्गुलासंख्यभागे द्रव्यविकल्पे गते तु क्षेत्रे ।

एकाकाशप्रदेशो वर्धते संपूर्णं लोक इति ॥ ३९८ ॥

अर्थ—सूच्यंगुलके असंख्यातमे भाग प्रमाण जब द्रव्यके विकल्प होजाय तब क्षेत्रकी

अपेक्षा एक आकाशका प्रदेश बढ़ता है । इस ही क्रमसे एक २ आकाशके प्रदेशकी वृद्धि वहांतक करनी चाहिये कि जहां तक देशावधिका उत्कृष्ट क्षेत्र सर्वलोक हो जाय ।

आवलिअसंखभागो जहण्णकालो कमेण समयेण ।

वड्ढदि देसोहिवरं पल्लं समऊणयं जाव ॥ ३९९ ॥

आवलयसंख्यभागो जघन्यकालः क्रमेण समयेन ।

वर्धते देशावधिवरं पल्यं समयोनकं यावत् ॥ ३९९ ॥

अर्थ—जघन्य देशावधिके विषयभूत कालका प्रमाण आवलीका असंख्यातमा भाग है । इसके ऊपर उत्कृष्ट देशावधिके विषयभूत एक समय कम एक पल्यप्रमाण काल पर्यन्त, ध्रुव तथा अध्रुव वृद्धिरूप क्रमसे एक एक समयकी वृद्धि होती है ।

उक्त दोनों क्रमोंको उन्नीस काण्डकोंमें कहनेकी इच्छासे आचार्य पहले प्रथम काण्डकमें उनका दाईं गाथाओंद्वारा वर्णन करते हैं ।

अंगुलअसंखभागं ध्रुवरूपेण य असंखवारं तु ।

असंखसंखं भागं असंखवारं तु अज्जुवगे ॥ ४०० ॥

अङ्गुलासंख्यभागं ध्रुवरूपेण च असंख्यवारं तु ।

असंख्यसंख्यं भागमसंख्यवरं तु अध्रुवगे ॥ ४०० ॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें चरम विकल्पपर्यन्त असंख्यात वार घनाङ्गुलके असंख्यात भागप्रमाण ध्रुव वृद्धि होती है । और इस ही काण्डकके अन्त पर्यन्त घनाङ्गुलके असंख्यातमें और संख्यातमे भाग प्रमाण ध्रुव वृद्धि भी असंख्यात वार होती है ।

ध्रुवअज्जुवरूपेण य अवरे खेत्तमिह वड्ढिदे खेत्ते ।

अवरे, कालमिह पुणो एक्केक्कं वड्ढुदे समयं ॥ ४०१ ॥

ध्रुवाध्रुवरूपेण च अवरे क्षेत्रे वर्द्धिते क्षेत्रे ।

अवरे काले पुनः एकैको वर्धते समयः ॥ ४०१ ॥

अर्थ—जघन्य देशावधिके विषयभूत क्षेत्रके ऊपर ध्रुवरूपसे अथवा अध्रुवरूपसे क्षेत्रकी वृद्धि होनेपर जघन्य कालके ऊपर एक एक समयकी वृद्धि होती है ।

संखातीदा समया पढमे पव्वम्मि उभयदो वड्ढी ।

खेत्तं कालं अस्सिय पढमादी कंढये वोच्छं ॥ ४०२ ॥

संख्यातीताः समयाः प्रथमे पर्वे उभयतो वृद्धिः ।

क्षेत्रं कालमाश्रित्य प्रथमादीनि काण्डकानि वक्ष्ये ॥ ४०२ ॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें ध्रुवरूपसे और अध्रुवरूपसे असंख्यात समयकी वृद्धि होती है । इसके आगे प्रथमादि काण्डकोंका क्षेत्र और कालके आश्रयसे वर्णन करते हैं ।

अंगुलमावल्याए भागमसंखेज्जदोवि संखेज्जो ।

अंगुलमावलियंतो आवलियं चांगुलपुधत्तं ॥ ४०३ ॥

अङ्गुलावल्योः भागोऽसंख्येयोऽपि संख्येयः ।

अङ्गुलमावल्यन्त आवलिकश्चाङ्गुलपृथक्त्वम् ॥ ४०३ ॥

अर्थ—प्रथम काण्डकमें जघन्य क्षेत्रका प्रमाण घनाङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण, और उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण घनाङ्गुलके संख्यातमे भाग प्रमाण है । और जघन्य कालका प्रमाण आवलीका असंख्यातमा भाग, तथा उत्कृष्ट कालका प्रमाण आवलीका संख्यातमा भाग है, दूसरे काण्डकमें क्षेत्र घनाङ्गुलप्रमाण और काल कुछ कम एक आवली प्रमाण है । तीसरे काण्डकमें क्षेत्र घनाङ्गुल—पृथक्त्व और काल आवली—पृथक्त्व—प्रमाण है ।

आवलियपुधत्तं पुण हत्थं तह गाउयं मुहुत्तं तु ।

जोयणभिण्णमुहुत्तं दिवसंतो पण्णवीसं तु ॥ ४०४ ॥

आवलपृथक्त्वं पुनः हस्तस्तथा गव्युतिः मुहूर्तस्तु ।

योजनं भिन्नमुहूर्तः दिवसान्तः पञ्चविंशतिस्तु ॥ ४०४ ॥

अर्थ—चतुर्थ काण्डकमें काल आवलीपृथक्त्व और क्षेत्र हस्तप्रमाण है । पाचमे काण्डकमें क्षेत्र एक कोश और काल अन्तर्मुहूर्त है । छठे काण्डकमें क्षेत्र एक योजन और काल भिन्नमुहूर्त है । सातमे काण्डकमें काल कुछ कम एक दिन और क्षेत्र पञ्चीस योजन है ।

भरहम्मि अद्धमासं साहियमासं च जम्बुदीवग्मि ।

वासं च मणुवलोए वासपुधत्तं च रुचगग्मि ॥ ४०५ ॥

भरते अर्धमासः साधिकमासश्च जम्बूद्वीपे ।

वर्षश्च मनुजलोके वर्षपृथक्त्वं च रुचके ॥ ४०५ ॥

अर्थ—आठमे काण्डकमें क्षेत्र भरतक्षेत्र प्रमाण और काल अर्धमास (पक्ष) प्रमाण है । नौमे काण्डकमें क्षेत्र जम्बूद्वीप प्रमाण और काल एक माससे कुछ अधिक है । दशमे काण्डकमें क्षेत्र मनुष्यलोक प्रमाण और काल एक वर्षप्रमाण है । ग्यारहमे काण्डकमें क्षेत्र रुचक द्वीप और काल वर्षपृथक्त्व प्रमाण है ।

संखेज्जपमे वासे दीवसमुद्धा हवंति संखेज्जा ।

बासग्मि असंखेज्जे दीवसमुद्धा असंखेज्जा ॥ ४०६ ॥

संख्यातप्रमे वर्षे द्वीपसमुद्रा भवन्ति संख्याताः ।

वर्षे असंख्येये द्वीपसमुद्रा असंख्येयाः ॥ ४०६ ॥

अर्थ—बारहमे काण्डकमें संख्यात वर्ष प्रमाण काल और संख्यात द्वीपसमुद्रप्रमाण क्षेत्र है । इसके आगे तेरहमे से लेकर उन्नीसमे काण्डक पर्यन्त असंख्यात वर्ष—प्रमाण काल और असंख्यात द्वीपसमुद्र—प्रमाण क्षेत्र है ।

कालविसेसेणवहिद्वेत्तविसेसो ध्रुवा हवे वट्ठी ।

अध्रुववट्ठीवि पुणो अविद्वं इद्वकंढम्मि ॥ ४०७ ॥

कालविशेषेणावहितक्षेत्रविशेषो ध्रुवा भवेत् वृद्धिः ।

अध्रुववृद्धिरपि पुनः अविद्वद् इष्टकाण्डे ॥ ४०७ ॥

अर्थ—किसी विवक्षित काण्डकके क्षेत्रविशेषमें कालविशेषका भाग देनेसे जो शेष रहे उतना ध्रुव वृद्धिका प्रमाण है । इस ही तरह आविरोधरूपसे इष्ट काण्डकमें अध्रुव वृद्धिका भी प्रमाण समझना चाहिये । इस अध्रुव वृद्धिका क्रम आगेके गाथामें कहेंगे । भावार्थ—विवक्षित काण्डकके उत्कृष्ट क्षेत्रप्रमाणमेंसे जघन्य क्षेत्रप्रमाणको घटाने पर जो शेष रहे उसको क्षेत्रविशेष कहते हैं । और उत्कृष्ट कालके प्रमाणमेंसे जघन्य कालके प्रमाणको घटानेपर जो शेष रहे उसको कालविशेष कहते हैं । किसी विवक्षित क्षेत्रविशेषमें उसके कालविशेषका भाग देनेसे जो प्रमाण शेष रहे उतना ध्रुव वृद्धिका प्रमाण है । तथा अध्रुव वृद्धिका क्रम किसी भी विवक्षित काण्डकमें आविरोधकरके सिद्ध करना चाहिये ।

अध्रुव वृद्धिका क्रम बताते हैं ।

अंगुलअसंखभागं संखं वा अंगुलं च तस्सेव ।

संखमसंखं एवं सेढ्ढीपवरस्स अध्रुवगे ॥ ४०८ ॥

अंगुलसंख्यभागः संख्यं वा अङ्गुलं तस्यैव ।

संख्यमसंख्यमेवं श्रेणीप्रतरयोः अध्रुवगायाम् ॥ ४०८ ॥

अर्थ—घनाङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण, वा घनाङ्गुलके संख्यातमे भागप्रमाण वा घनाङ्गुलमात्र, वा संख्यात घनाङ्गुलमात्र, वा असंख्यात घनाङ्गुलमात्र, वा श्रेणीके असंख्यातमे भागप्रमाण, वा श्रेणीके संख्यातमे भागप्रमाण, वा श्रेणीप्रमाण, वा संख्यात श्रेणीप्रमाण, वा असंख्यात श्रेणीप्रमाण, वा प्रतरके असंख्यातमे भाग—प्रमाण, वा प्रतरके संख्यातमे भाग—प्रमाण, वा प्रतरप्रमाण, वा संख्यात प्रतर—प्रमाण, वा असंख्यात प्रतर-प्रमाण प्रदेशोंकी वृद्धि होने पर एक एक समयकी वृद्धि होती है । यही अध्रुव वृद्धिका क्रम है । भावार्थ—जहां पर जितने प्रकारकी वृद्धियोंका होना सम्भव हो, वहां पर उतने प्रकारकी वृद्धियोंमेंसे कभी किसी प्रकारकी और कभी किसी प्रकारकी प्रदेश वृद्धिके होने पर एक एक समयकी वृद्धिका होना यही अध्रुव वृद्धिका क्रम है ।

उत्कृष्ट देशावधिके विषयभूत द्रव्य क्षेत्र काल भावका प्रमाण वताते हैं ।

कम्मइयवग्गणं ध्रुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं :

उक्कस्सं खेत्तं पुण लोको संपुण्णओ होदि ॥ ४०९ ॥

कर्मणवर्गणां ध्रुवहारेणैकवारभाजिते द्रव्यम् ।

उत्कृष्टं क्षेत्रं पुनः लोकः संपूर्णो भवति ॥ ४०९ ॥

अर्थ—कर्मण वर्गणामें एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना देशावधिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण है । तथा सम्पूर्ण लोक उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण है ।

पल्लसमऊण काले भावेण असंखलोगमेत्ता हु ।

दव्वस्स य पज्जाया वरदेसोहिस्स विसया हु ॥ ४१० ॥

पल्यं समयोने काले भावेनासंख्यलोकमात्रा हि ।

द्रव्यस्य च पर्याया वरदेशावधेर्विषया हि ॥ ४१० ॥

अर्थ—कालकी अपेक्षा एक समय कम एक पल्य, और भावकी अपेक्षा असंख्यात-लोकप्रमाण द्रव्यकी पर्याय उत्कृष्ट देशावधिका विषय है । **भावार्थ—**काल और भाव शब्दके द्वारा द्रव्यकी पर्यायोंका ग्रहण किया जाता है । इसलिये कालकी अपेक्षा एक समय कम पल्य-प्रमाण और भावकी अपेक्षा असंख्यातलोकप्रमाण द्रव्यकी पर्यायोंको उत्कृष्ट देशावधि ज्ञान विषय करता है ।

काले चउण्ण उड्डी कालो भजिदव्व खेत्तउड्डी य ।

उड्डीए दव्वपज्जय भजिदव्वा खेत्तकाला हु ॥ ४११ ॥

काले चतुर्णां वृद्धिः कालो भजितव्यः क्षेत्रवृद्धिश्च ।

वृद्ध्या द्रव्यपर्याययोः भजितव्यौ क्षेत्रकालौ हि ॥ ४११ ॥

अर्थ—कालकी वृद्धि होने पर चारो प्रकारकी वृद्धि होती है । क्षेत्रकी वृद्धि होने पर कालकी वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती है । इस ही तरह द्रव्य और भावकी अपेक्षा वृद्धि होने पर क्षेत्र और कालकी वृद्धि होती भी है और नहीं भी होती है । परन्तु क्षेत्र और कालकी वृद्धि होने पर द्रव्य और भावकी वृद्धि अवश्य होती है ।

देशावधिका निरूपण समाप्त हुआ, अतः क्रमप्राप्त परमावधिका निरूपण करते हैं ।

देसावहिवरदव्वं ध्रुवहारेणवहिदे हवे णियमा ।

परमावहिस्स अवरं दव्वपमाणं तु जिणदिट्ठम् ॥ ४१२ ॥

देशावधिवरद्रव्यं ध्रुवहारेणावहिते भवेत् नियमात् ।

परमाधेरवरं द्रव्यप्रमाणं तु जिनदिष्टम् ॥ ४१२ ॥

अर्थ—देशावधिका जो उत्कृष्ट द्रव्य—प्रमाण है उसमें ध्रुवहारका भाग देनेसे नियमसे परमावधिके जघन्य द्रव्यका प्रमाण निकलता है ऐसा जिनेन्द्र देवने कहा है ।

परमावधिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण बताते हैं ।

परमावहिस्स भेदा सगउग्गाहणवियप्पहदतेऊ ।

चरमे हारपमाणं जेटुस्स य होदि दव्वं तु ॥ ४१३ ॥

परमावधेर्भेदाः स्वकावगाहनविकल्पहततेजाः ।

चरमे हारप्रमाणं ज्येष्ठस्य च भवति द्रव्यं तु ॥ ४१३ ॥

अर्थ—अपनी (तेजस्कायिक जीवराशि) अवगाहनाके भेदोंका जो प्रमाण है, उसका तेजस्कायिक जीवराशिके साथ गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने ही परमावधिके भेद हैं । इनमेंसे सर्वोत्कृष्ट अन्तिम भेदमें द्रव्य ध्रुवहारप्रमाण होता है ।

सव्वावहिस्स एको परमाणू होदि णिव्वियप्पो सो ।

गंगामहाणइस्स पवाहोव्व ध्रुवो हवे हारो ॥ ४१४ ॥

सर्वावधेरकः परमाणुर्भवति निर्विकल्पः सः ।

गंगामहानद्याः प्रवाह इव ध्रुवो भवेत् हारः ॥ ४१४ ॥

अर्थ—परमावधिके उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका एकवार भाग देनेसे लब्ध एक परमाणु—मात्र द्रव्य सर्वावधिका विषय होता है । यह ज्ञान तथा इसका विषयभूत परमाणु निर्विकल्पक है । भागहार गंगा महानदीके प्रवाहकी तरह ध्रुव है । **भावार्थ**—जिसतरह गंगा महानदीका प्रवाह हिमाचलसे निकलकर अविच्छिन्न प्रवाहके द्वारा बहता हुआ पूर्व समुद्रमें जाकर अवस्थित होगया है । उसी तरह यह भागहार जघन्य देशावधि द्रव्यप्रमाणसे आगे परमावधिके सर्वोत्कृष्ट द्रव्यपर्यन्त अविच्छिन्न रूपसे जाते २ परमाणुपर जाकर अवस्थित होगया है ।

परमोहिदव्वभेदा जेत्थियमेत्ता हु तेत्थिया होंति ।

तस्सेव खेत्तकालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा ॥ ४१५ ॥

परमावधिद्रव्यभेदा यावन्मात्रा हि तावन्मात्रा भवन्ति ।

तस्यैव क्षेत्रकालविकल्पा विषया असंख्यगुणितक्रमाः ॥ ४१५ ॥

अर्थ—परमावधिके जितने द्रव्यकी अपेक्षासे भेद हैं उतने ही भेद क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे हैं । परन्तु उनका विषय असंख्यातगुणितक्रम है ।

असंख्यातगुणितक्रम किस तरहसे है यह बताते हैं ।

आवलिअसंखमागा इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ ।

देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे ॥ ४१६ ॥

आवलयसंख्यभागा इच्छितगच्छधनमानमात्राः ।

देशावधेः क्षेत्रे कालेऽपि च भवन्ति संवर्गं ॥ ४१६ ॥

अर्थ—किसी भी परमावधिके विवक्षित विकल्पमें अथवा विवक्षित कालके विकल्पमें संकल्पित धनका जितना प्रमाण हो उतनी जगह आवलीके असंख्यातमे भागोंको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो वही देशावधिके उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालमें गुणकारका प्रमाण होता है । **भावार्थ**—परमावधिके प्रथम विकल्पमें संकल्पित धनका प्रमाण एक और दूसरे विकल्पमें तीन तथा तीसरे विकल्पमें छह चौथे विकल्पमें दश पंचमे विकल्पमें पन्द्रह छठे विकल्पमें इक्कीस सातमे विकल्पमें अठ्ठाईस होता है । इसी तरह आगे भी संकल्पित धनका प्रमाण समझना चाहिये । परमावधिके जिस विकल्पके क्षेत्र या कालका प्रमाण निकालना हो, उस विकल्पके संकल्पित धनके प्रमाणकी बराबर आवलीके असंख्यातमे भागोंको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो, उसका देशावधिके उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालके प्रमाणके साथ गुणा करनेसे परमावधिके विवक्षित विकल्पके क्षेत्र और कालका प्रमाण निकलता है ।

जितनेमा भेद विवक्षित हो वहां पर्यन्त एकसे लेकर एक एक अधिक अङ्क रखकर सबको जोड़नेसे जो राशि उत्पन्न हो वह उस विवक्षित भेदका संकल्पित धन होता है । जैसे प्रथम भेदका एक, दूसरे भेदका तीन, तीसरे भेदका छह, इत्यादि ।

प्रकारान्तरसे गुणकारका प्रमाण बताते हैं ।

गच्छसमा तत्कालियतीदे रूऊणगच्छधनमेत्ता ।

उभये वि य गच्छस्स य धनमेत्ता होंति गुणगारा ॥ ४१७ ॥

गच्छसमाः तात्कालिकातीते रूपानगच्छधनमात्राः ।

उभयेऽपि च गच्छस्य च धनमात्रा भवन्ति गुणगाराः ॥ ४१७ ॥

अर्थ—विवक्षित गच्छकी जो संख्या हो उतने प्रमाणको विवक्षित गच्छसे अव्यवहित पूर्वके गच्छके प्रमाणमें मिला कर एक कम करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उसमें विवक्षित गच्छकी संख्या मिलानेसे संकल्पित धनका प्रमाण होता है । यही गुणकारका प्रमाण है । **भावार्थ**—जैसे चौथा भेद विवक्षित है, तो गच्छके प्रमाण चारको अव्यवहित पूर्वके भेद तीनमें मिलाकर एक कम करनेसे छह होते हैं, इसमें विवक्षित गच्छके प्रमाण चारको मिलानेसे दश होते हैं, यही गुणकारका प्रमाण है । तथा यही विवक्षित भेदका संकल्पितधन है ।

परमावहिवरखेत्तेणवहिदुक्कस्सओहिखेत्तं तु ।

सत्त्वावहिगुणगारो काले वि असंखलोगो दु ॥ ४१८ ॥

१ यही तीसरे भेदका संकल्पितधन है ।

परमावधिवरक्षेत्रेणावहितोत्कृष्टावधिक्षेत्रं तु ।

सर्वावधिगुणकारः कालेऽपि असंख्यलोकस्तु ॥ ४१८ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट अवधि ज्ञानके क्षेत्रमें परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना सर्वावधिसम्बन्धी क्षेत्रकेलिये गुणकार है । तथा सर्वावधिसम्बन्धी कालका प्रमाण लानेके लिये असंख्यात लोकका गुणकार है । **भावार्थ**—असंख्यात लोकके प्रमाणको पांचवार लोकके प्रमाणसे गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो उतना सर्वावधि ज्ञानके उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण है । इसमें परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रका भाग देनेसे सर्वावधिके क्षेत्रसम्बन्धी गुणकारका प्रमाण निकलता है । अर्थात् इस गुणकारका परमावधिके उत्कृष्ट क्षेत्रप्रमाणके साथ गुणा करनेसे सर्वावधिके क्षेत्रका प्रमाण निकलता है । और इस ही तरह सर्वावधिके कालका प्रमाण निकालनेकेलिये असंख्यातलोकका गुणकार है । अर्थात् असंख्यातलोकका परमावधिके उत्कृष्ट कालप्रमाणके साथ गुणा करनेसे सर्वावधिके कालका प्रमाण निकलता है ।

परमावधिके विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट कालका प्रमाण निकालनेकेलिये दो करणसूत्रोंको कहते हैं ।

इच्छिदरासिच्छेदं दिग्गच्छेदेहिं भाजिदे तत्थ ।

लद्धमिददिग्गारासीणमभासे इच्छिदो रासी ॥ ४१९ ॥

इच्छितराशिच्छेदं देयच्छेदैर्भाजिते तत्र ।

लब्धमितदेयराशीनामभ्यासे इच्छितो राशिः ॥ ४१९ ॥

अर्थ—विवक्षित राशिके अर्धच्छेदोंमें देय राशिके अर्धच्छेदोंका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह देयराशिको रखकर परस्पर गुणा करनेसे विवक्षित राशिका प्रमाण निकलता है ।

दिग्गच्छेदेणवह्विलोगच्छेदेण पदधणे भजिदे ।

लद्धमिदलोगगुणणं परमावहिवरिमगुणगारो ॥ ४२० ॥

देयच्छेदेनावहितलोकच्छेदेन पदधने भजिते ।

लब्धमितलोकगुणनं परमावधिचरमगुणकारः ॥ ४२० ॥

अर्थ—देयराशिके अर्धच्छेदोंका लोकके अर्धच्छेदोंमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका विवक्षित संकल्पित धनमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतनी जगह लोकप्रमाणको रखकर परस्पर गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो वह विवक्षित पदमें क्षेत्र या कालका गुणकार होता है । ऐसे ही परमावधिके अन्तिम भेदमें भी गुणकार जानना ।

आवलिअसंखमागा जहण्णदव्वस्स होंति पज्जाया ।

कालस्स जहण्णादो असंखगुणहीणमेत्ता हु ॥ ४२१ ॥

आवृत्यसंख्यभागा जघन्यद्रव्यस्य भवन्ति पर्यायाः ।

कालस्य जघन्यतः असंख्यगुणहीनमात्रा हि ॥ ४२१ ॥

अर्थ—जघन्य देशावधिके विषयभूत द्रव्यकी पर्याय आवृत्यके असंख्यातमे भागप्रमाण हैं । और जघन्य देशावधिके विषयभूत कालका जितना प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा हीन जघन्य देशावधिके विषयभूत भावका प्रमाण है ।

सर्वोद्दिष्टि य कमसो आवलिअसंखभागगुणिदकमा ।

दव्वाणं भावाणं पदसंखा सरिसगा होंति ॥ ४२२ ॥

सर्वावधिरिति च क्रमशः आवृत्यसंख्यभागगुणितक्रमाः ।

द्रव्यानां भावानां पदसंख्याः सदृशकाः भवन्ति ॥ ४२१ ॥

अर्थ—देशावधिके जघन्य द्रव्यकी पर्यायरूप भाव, जघन्य देशावधिसे सर्वावधिपर्यन्त आवलीके असंख्यातमे भागसे गुणितक्रम हैं । अत एव द्रव्य तथा भावके पदोंकी संख्या सदृश है । **भावार्थ**—जहां पर देशावधिके विषयभूत द्रव्यकी अपेक्षा जघन्य भेद है वहां पर भावकी अपेक्षा भी आवलीके असंख्यातमे भाग प्रमाण जघन्य भेद होता है । और जहां पर द्रव्यकी अपेक्षा दूसरा भेद होता है, वहां भावकी अपेक्षा भी प्रथम भेदसे आवलीके असंख्यातमे भागगुणा दूसरा भेद होता है । जहां पर द्रव्यकी अपेक्षा तीसरा भेद होता है वहां पर भावकी अपेक्षा दूसरे भेदसे आवलीके असंख्यातमे भागगुणा तीसरा भेद होता है । इस ही क्रमसे सर्वावधिपर्यन्त जानना । अवधि ज्ञानके द्रव्यकी अपेक्षासे जितने भेद हैं उतने ही भेद भावकी अपेक्षासे हैं । अत एव द्रव्य तथा भावकी पदसंख्या सदृश है ।

नरक गतिमें अवधिके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण बताते हैं ।

सत्तमखिदिग्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्डवे ताव ।

जाव य पढमे गिरये जोयणमेकं हवे पुण्णं ॥ ४२३ ॥

सप्तमक्षितौ कोशं कोशम्यार्थार्थं प्रवर्धते तावत् ।

यावच्च प्रथमे निरये योजनमेकं भवेत् पूर्णम् ॥ ४२३ ॥

अर्थ—सातमी भूमिमें अवधि ज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण एक कोस है । इसके ऊपर आध २ कोस की वृद्धि तब तक होती है जब तक कि प्रथम नरकमें अवधि ज्ञानके विषयभूत क्षेत्रका प्रमाण पूर्ण एक योजन हो । **भावार्थ**—सातमी पृथ्वीमें अवधिका क्षेत्र एक कोस है । इसके ऊपर प्रथम भूमिके अवधि—क्षेत्र पर्यन्त क्रमसे आध २ कोसकी वृद्धि होती है । प्रथम भूमिमें अवधि—क्षेत्रका प्रमाण एक योजन है ।

तिर्यग्गति और मनुष्यगतिमें अवधिको बताते हैं ।

तिरिये अवरं ओघो तेजोयंते य होदि उक्कस्सं ।

मणुए ओघं देवे जहाकमं सुणह वोच्छामि ॥ ४२४ ॥

तिरिश्चि अवरमोघः तेजोऽन्ते च भवति उत्कृष्टम् ।

मनुजे ओघः देवे यथाक्रमं शृणुत वक्ष्यामि ॥ ४२४ ॥

अर्थ—तिर्यक्षोके अवधि ज्ञान जग्न्य देशावधिसे लेकर उत्कृष्टताकी अपेक्षा उस भेदपर्यन्त होता है कि जो देशावधिका भेद तैजस शरीरको विषय करता है । मनुष्य गतिमें अवधि ज्ञान जग्न्य देशावधिसे लेकर उत्कृष्टतया सर्वावधिपर्यन्त होता है । देवगतिमें अवधि ज्ञानको यथाक्रमसे कहूंगा सो सुनो ।

प्रतिज्ञाके अनुसार देवगतिमें अवधिके क्षेत्रादिका वर्णन करते हैं ।

पणुवीसजोयणाइं दिवसंतं च य कुमारभोम्माणं ।

संखेज्जगुणं खेत्तं बहुगं कालं तु जोइसिगे ॥ ४२५ ॥

पञ्चविंशतियोजनानि दिवसान्तं च च कुमारभौमयोः ।

संख्यातगुणं क्षेत्रं बहुकः कालस्तु ज्योतिष्के ॥ ४२५ ॥

अर्थ—भवनवासी और व्यन्तरोंकी अवधिके क्षेत्रका जग्न्य प्रमाण पचीस योजन और जग्न्य काल कुछ कम एक दिन है । और ज्योतिषी देवोंकी अवधिका क्षेत्र इससे संख्यातगुण है और काल इससे बहुत अधिक है ।

असुराणमसंखेज्जा कोडीओ सेसजोइसंताणं ।

संखातीदसहस्सा उक्कस्सोहीण विसओ दु ॥ ४२६ ॥

असुराणामसंख्येयाः कोट्यः शेषज्योतिष्कान्तानाम् ।

संख्यातीतसहस्रा उत्कृष्टावधीनां विषयस्तु ॥ ४२६ ॥

अर्थ—असुरकुमारोंकी अवधिका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात कोटि योजन है । शेष नौ प्रकारके भवनवासी तथा व्यन्तर और ज्योतिषी इनकी अवधिका उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात हजार योजन है ।

असुराणमसंखेज्जा वस्सा पुण सेसजोइसंताणं ।

तस्संखेज्जदिभागं कालेण य होदि णियमेण ॥ ४२७ ॥

असुराणामसंख्येयानि वर्षाणि पुनः शेषज्योतिष्कान्तानाम् ।

तत्संख्यातभागं कालेन च भवति नियमेन ॥ ४२७ ॥

अर्थ—असुरकुमारोंकी अवधिके उत्कृष्ट कालका प्रमाण असंख्यात वर्ष है । और शेष नौ प्रकारके भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनकी अवधिके उत्कृष्ट कालका प्रमाण असुरोंकी अवधिके उत्कृष्ट कालके प्रमाणसे नियमसे संख्यातमें भागमात्र है ।

भवणतियाणमधोधो थोवं तिरियेण होदि बहुगं तु ।

उड्डेण भवणवासी सुरगिरिसिहरोत्ति पस्सन्ति ॥ ४२८ ॥

भवनत्रिकाणामधोऽधः स्तोकं तिरश्चा भवति बहुकं तु ।

ऊर्ध्वेन भवनवासिनः सुरगिरिशिखरान्तं पश्यन्ति ॥ ४२८ ॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनकी अवधिका क्षेत्र नीचे २ कम होता है और तिर्यग् रूपसे अधिक होता है । तथा भवनवासी देव अपने अवस्थित स्थानसे सुरगिरिके (मेरुके) शिखरपर्यन्त अवधिदर्शनके द्वारा देखते हैं ।

सक्कीसाणा पढमं बिदियं तु सणक्कुमारमाहिंदा ।

तदियं तु बम्हलांतव सुक्कसहस्सारया तुरियं ॥ ४२९ ॥

शकैशानाः प्रथमं द्वितीयं तु सनत्कुमारमाहेन्द्राः ।

तृतीयं तु ब्रह्मालन्तवाः शुक्रसहस्रारकाः तुरियम् ॥ ४२९ ॥

अर्थ—सौधर्म और ऐशान स्वर्गके देव अवधिके द्वारा प्रथम भूमिपर्यन्त देखते हैं । सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके देव दूसरी पृथ्वीतक देखते हैं । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ स्वर्गवाले देव तीसरी भूमि तक देखते हैं । शुक्र महाशुक्र शतार सहस्रार स्वर्गके देव चौथी भूमि तक देखते हैं ।

आणदपाणदवासी आरण तह अच्चुदा य पस्सन्ति ।

पंचमखिदिपेरंतं छट्ठिं गेवेज्जगा देवा ॥ ४३० ॥

आनतप्राणतवासिनः आरणास्तथा अच्युताश्च पश्यन्ति ।

पञ्चमक्षितिपर्यन्तं षष्ठीं त्रैवेयका देवाः ॥ ४३० ॥

अर्थ—आनत प्राणत आरण अच्युत स्वर्गके देव पांचमी भूमि तक अवधिके द्वारा देखते हैं । और त्रैवेयकवासी देव छठी भूमि तक देखते हैं ।

सव्वं च लोयणालिं पस्सन्ति अणुत्तरेसु जे देवा ।

सक्खेत्ते य सकम्मे रुव्वगदमणंतभागं च ॥ ४३१ ॥

सर्वा च लोकनालीं पश्यन्ति अनुत्तरेषु ये देवाः ।

स्वक्षेत्रे च स्वकर्मणि रूपगतमनन्तभागं च ॥ ४३१ ॥

अर्थ—अनुत्तरवासी देव सन्पूर्ण लोकनालीको अवधिद्वारा देखते हैं । अवधिके विषयभूत क्षेत्रका जितना प्रदेशप्रचय है उसमें से एक २ कम करते जाना चाहिये और अवधिज्ञानावरण कर्मका जितना द्रव्य है उसमें ध्रुवहारका भाग देते जाना चाहिये । अवधिके क्षेत्ररूप प्रदेशप्रचयमें एक २ प्रदेश कहां तक कम करना चाहिये ? और अवधिज्ञानावरण कर्मरूप द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग कहां तक देते जाना चाहिये ? इसीको आगे स्पष्ट करते हैंः—

कप्पसुराणं सगसगओहीखेत्तं विविस्ससोबचयं ।

ओहीद्ववपमाणं संठाविय धुवहरेण हरे ॥ ४३२ ॥

सगसगखेत्तपदेससलायपमाणं समप्पदे जाव ।

तत्थतणचरिमखंडं तत्थतणोहिस्स दव्वं तु ॥ ४३३ ॥

कल्पसुराणां स्वकस्वकावधिक्षेत्रं विविस्सोपचयस्य ।

अवधिद्रव्यप्रमाणं संस्थाप्य ध्रुवहरेण हरेत् ॥ ४३२ ॥

स्वकस्वकक्षेत्रप्रदेशशाल्याकाप्रमाणं समाप्यते यावत् ।

तत्रतनचरमखण्डं तत्रतनावधेर्द्रव्यं तु ॥ ४३३ ॥

अर्थ—कल्पवासी देवोंमें अपनी २ अवधिके क्षेत्रका जितना २ प्रमाण है उसका एक जगह स्थापन कर, और दूसरी जगह विस्सोपचयरहित अवधिज्ञानावरण कर्मरूप द्रव्यका स्थापन कर, द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रमाणमें एक कम करना चाहिये । द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका एकवार भाग देनेसे लब्ध द्रव्यप्रमाणमें दूसरीवार ध्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रचयमें एक और कम करना चाहिये । दूसरी बार भाग देनेसे लब्ध द्रव्यप्रमाणमें तीसरी बार ध्रुवहारका भाग देना चाहिये और प्रदेशप्रचयमें तीसरी बार एक कम करना चाहिये । इस प्रकार उत्तरोत्तर लब्ध द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग, एक २ प्रदेश कम करते २ जब सम्पूर्ण प्रदेशप्रचयरूप शाल्याका राशि समाप्त होजाय वहां तक देना चाहिये । इसतरह प्रदेशप्रचयमें एक २ प्रदेश कम करते २ और द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देते २ जहां पर प्रदेशप्रचय समाप्त हो वहां पर द्रव्यका जो स्कन्ध शेष रहे उतने स्कन्धको अवधिके द्वारा वे कल्पवासी देव जानते हैं कि जिनकी अवधिके विषयभूत क्षेत्रका प्रदेशप्रचय विवक्षित हो । **भावार्थ**—जैसे सौधर्म और ईशानकल्पवासी देवोंका क्षेत्र प्रथम नरक पर्यंत है । ईशान कल्पके ऊपरके भागसे प्रथम नरक डेढ़ राजू है । इसलिये एक राजू लम्बे चौड़े और डेढ़ राजू ऊंचे क्षेत्रके जितने प्रदेश हों उनको एक जगह रखना, और दूसरी जगह अवधि ज्ञानावरण कर्मके द्रव्यका स्थापन करना । द्रव्यप्रमाणमें एक बार ध्रुवहारका भागदेना और प्रदेशप्रमाणमेंसे एक कम करना । इस पहली बार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आया उस द्रव्यप्रमाणमें दूसरीवार ध्रुवहारका भाग देना और प्रदेशप्रमाणमेंसे दूसरा एक और कम करना । इस तरह प्रदेशप्रमाणमेंसे एक २ कम करते २ तथा उत्तरोत्तर लब्ध द्रव्यप्रमाणमें ध्रुवहारका भाग देते २ प्रदेशप्रचय समाप्त होनेपर द्रव्यका जो परिमाण शेष रहे उतने परमाणुओंके सूक्ष्म पुद्गलस्कन्धको सौधर्म और ईशान कल्पवासी देव अवधिके द्वारा जानते हैं । इससे स्पूलको तो जानते ही हैं, किन्तु इससे सूक्ष्मको नहीं जानते । इस ही तरह आगे भी समझना ।

सौधर्म ईशान कल्पवासी देवोंका क्षेत्र डेढ़राज्, सनत्कुमार माहेन्द्रवालोंका चार राज्, ब्रह्म ब्रह्मोत्तरवालोंका साढ़े पांच राज्, लांतव कापिष्ठवालोंका छह राज्, शुक महाशुकवा-
लोंका साढ़े सात राज्, सतार सहस्रारवालोंका आठ राज्. अनात प्राणतवालोंका साढ़े नव-
राज्, आरण अच्युतवालोंका दश राज्, ध्रैवेयकवालोंका म्यारह राज्. अनुदिश विमानवा-
लोंका कुछ अधिक तेरह राज्, अनुत्तरविमानवालोंका कुछ कम चौदह राज् क्षेत्र है । इस
क्षेत्रप्रमाणके अनुसार ही उनकी (कल्पवासी देवों की) अवधिके विषयभूत द्रव्यका प्रमाण
उक्त क्रमानुसार निकलता है ।

सौहृद्मीसाणाणमसंखेज्जाओ हु वस्सकोडीओ ।

उवरिमकप्पचउक्के पल्लासंखेज्जभागो हु ॥ ४३४ ॥

तत्तो लांतवकप्पप्पहुदी सव्वत्थसिद्धिपेरंतं ।

किंचूणपल्लमेत्तं कालपमाणं जहाजोग्गम् ॥ ४३५ ॥

सौधर्मैशानानामसंख्येया हि वर्षकोट्यः ।

उपरिमहल्पचतुष्के पल्यासंख्यातभागस्तु ॥ ४३४ ॥

ततोऽलान्तवकल्पप्रभृति सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तम् ।

किञ्चिदूनपल्यमात्रं कालप्रमाणं यथायोग्यम् ॥ ४३५ ॥

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्गके देवोंकी अवधिका काल असंख्यात कोटि वर्ष है ।
इसके ऊपर सनत्कुमार माहेन्द्र ब्रह्म ब्रह्मोत्तर कल्पवाले देवोंकी अवधिका काल यथायोग्य
पल्यका असंख्यातमा भाग है । इसके ऊपर लान्तव स्वर्गसे लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त वाले
देवोंकी अवधिका काल कुछ कम पल्यप्रमाण है ।

जोइसियंताणोहीखेत्ता उत्ता ण होंति घणपदरा ।

कप्पसुराणं च पुणो विसरित्थं आयदं होदि ॥ ४३६ ॥

ज्योतिष्कान्तानामवधिक्षेत्राणि उक्तानि न भवन्ति घनप्रतराणि ।

कल्पसुराणां च पुनः विसदृशमायतं भवति ॥ ४३६ ॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इनकी अवधिका क्षेत्र बराबर घनरूप नहीं है । कल्प-
वासी देवोंकी अवधिका क्षेत्र आयतचतुरस्र (चौकोर; किन्तु लम्बईमें अधिक और चौड़ाईमें
थोड़ा) है । शेष मनुष्य तिर्यच नारकी इनकी अवधिका विषयभूत क्षेत्र बराबर घनरूप है ।

॥ इति अवधिज्ञानप्ररूपणा ॥

मनःपर्यय ज्ञानका स्वरूप बताते हैं ।

चित्तियमचित्तियं वा अद्धंचित्तियमणेयमेयगयं ।

मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए ॥ ४३७ ॥

चिन्तितमचिन्तितं वा अर्थं चिन्तितमनेकभेदगतम् ।

मनःपर्यय इत्युच्यते यज्जानाति तत्स्वल् नरलोके ॥ ४३७ ॥

अर्थ—जिसका भूत कालमें चिन्तवन किया हो, अथवा जिसका भविष्यत् कालमें चिन्तवन किया जायगा, अथवा वर्तमानमें जिसका आधा चिन्तवन किया है, इत्यादि अनेक भेदस्वरूप दूसरेके मनमें स्थित पदार्थ जिसके द्वारा जाना जाय उस ज्ञानको मनःपर्यय कहते हैं । यह मनःपर्यय ज्ञान मनुष्यक्षेत्रमें ही होता है, बाहर नहीं ।

मनःपर्ययके भेदोंको गिनाते हैं ।

मणपज्जवं च दुविहं उज्जुविउलमदित्ति उज्जुमदी तिविहा ।

उज्जुमणवयणे काए गदत्थविसयात्ति णियमेण ॥ ४३८ ॥

मनःपर्ययश्च द्विविधः ऋजुविपुलमतीति ऋजुमत्तिस्त्रिविधा ।

ऋजुमनोवचने काये गतार्थविषया इति नियमेन ॥ ४३८ ॥

अर्थ—सामान्यकी अपेक्षा मनःपर्यय एक प्रकारका है । और विशेष भेदोंकी अपेक्षा दो प्रकारका है । एक ऋजुमति दूसरा विपुलमति । ऋजुमतिके भी तीन भेद हैं । ऋजुमनोगतार्थ-विषयक, ऋजुवचनगतार्थविषयक, ऋजुकायगतार्थविषयक । परकीयमनोगत होने पर भी जो सरलतया मन वचन कायके द्वारा किया गया हो ऐसे पदार्थको विषय करनेवाले ज्ञानको ऋजुमति कहते हैं । अतएव सरल मन वचन कायके द्वारा किये हुए पदार्थको विषय करनेकी अपेक्षा ऋजुमतिके पूर्वोक्त तीन भेद हैं ।

विउलमदीवि य छद्धा उज्जुगाणुजुवयणकायचित्तगयं ।

अत्थं जाणदि जम्हा सदत्थगया हु ताणत्था ॥ ४३९ ॥

विपुलमतिरपि च पोद्वा ऋजुमानृजुवचनकायचित्तगतम् ।

अर्थ जानाति यस्मात् शब्दार्थगता हि तेषामर्थाः ॥ ४३९ ॥

अर्थ—विपुलमतिके छह भेद हैं । ऋजु मन वचन कायगत पदार्थको विषय करनेकी अपेक्षा तीन भेद, और कुटिल मन वचन कायके द्वारा किये हुए परकीय मनोगत पदार्थोंको विषय करनेकी अपेक्षा तीन भेद । ऋजुमति तथा विपुलमति मनःपर्ययके विषय शब्दगत तथा अर्थगत दोनों ही प्रकारके होते हैं ।

तियकालविसयरूविं चित्तिं वट्टमाणजीवेण ।

उज्जुमदिणाणं जाणदि भूदभविस्सं च विउलमदी ॥ ४४० ॥

त्रिकालविषयरूपि चित्तिं वर्तमानजीवेन ।

ऋजुमतिज्ञानं जानाति भूतभविष्यच्च विपुलमतिः ॥ ४४० ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्य त्रिकालविषयक है । उसमें वर्तमान जीवके द्वारा चिन्त्यमान (वर्तमानमें जिसका चिंतवन किया जा रहा है) पदार्थको ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है । और विपुलमतिज्ञान भूत भविष्यत्को भी जानता है । **भावार्थ**—जिसका मूलकालमें चिन्तवन किया हो अथवा जिसका भविष्यत्में चिन्तवन किया जायगा यद्वा वर्तमानमें जिसका चिन्तवन हो रहा है, ऐसे तीनों ही प्रकारके पदार्थको विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान जानता है ।

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही ।

मणपज्जवं च दव्वमणादो उप्पज्जदे णियमा ॥ ४४१ ॥

सर्वाङ्गाङ्गसम्भवचिह्नादुत्पद्यते यथावधिः ।

मनःपर्ययं च द्रव्यमनस्त उत्पद्यते नियमात् ॥ ४४१ ॥

अर्थ—जिस प्रकार अवधिज्ञान शंखादि शुभ चिह्नोंसे युक्त समस्त अङ्गसे उत्पन्न होता है । उस तरह मनःपर्यय ज्ञान जहांपर द्रव्यमन होता है उसी प्रदेशोंसे उत्पन्न होता है । **भावार्थ**—जहांपर द्रव्य मन होता है उस स्थानपर जो आत्माके प्रदेश हैं वही मनःपर्यय ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होता और वहींसे मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है । किन्तु अवधि सर्वाङ्गसे होती है; क्योंकि यद्यपि अवधि शंखादि चिह्नों के स्थानसे ही होती है तथापि इन चिह्नों का स्थान द्रव्यमन की तरह निश्चित नहीं है । यह उत्पत्तिस्थानकी अपेक्षा अवधि और मनःपर्यय ज्ञानमें अंतर है ।

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसियअट्टच्छदारविंदं वा ।

अङ्गोवंगुदयादो मणवग्गणखंधदो णियमा ॥ ४४२ ॥

हृदि भवति हि द्रव्यमनः विकसिताष्टछदारविंदवत् ।

आङ्गोपाङ्गोदयात् मनोवर्गणास्कन्धतो नियमात् ॥ ४४२ ॥

अर्थ—आङ्गोपाङ्गनामकर्मके उदयसे मनोवर्गणाके स्कन्धोंके द्वारा हृदयस्थानमें नियमसे विकसित आठ पांखड़ीके कमलके आकारमें द्रव्यमन उत्पन्न होता है ।

णोइंदियत्ति सण्णा तस्स हवे सेसइंदियाणं वा ।

वत्तत्ताभावादो मणमणपज्जं च तत्थ हवे ॥ ४४३ ॥

नोइन्द्रियमिति संज्ञा तस्य भवेत् शेषेन्द्रियाणां वा ।

व्यक्तत्वाभावात् मनो मनःपर्ययश्च तत्र भवेत् ॥ ४४३ ॥

अर्थ—इस द्रव्यमनकी नोइन्द्रिय संज्ञा भी है; क्योंकि दूसरी इन्द्रियोंकी तरह यह व्यक्त नहीं है । इस द्रव्यमन के होनेपर ही भावमन तथा मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है ।

मनःपर्यय ज्ञान का स्वामी बताते हैं ।

मणपज्जबं च णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तइद्धीणं ।

एगादिजुदेसु हवे वद्धंतविसिट्टचरणेषु ॥ ४४४ ॥

मनःपर्ययश्च ज्ञानं सत्तसु विरतेषु सत्तर्धानाम् ।

एकादियुतेषु भवेत् वर्धमानविशिष्टाचरणेषु ॥ ४४४ ॥

अर्थ—प्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थानोंमेंसे किसी एक गुणस्थानवालेके, इस पर भी सात ऋद्धियोंमेंसे किसी एक ऋद्धिको धारण करनेवालेके, ऋद्धिप्राप्तमें भी वर्धमान तथा विशिष्ट चारित्रिको धारणकरनेवालेके ही यह मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है ।

इंदियणोइंदियजोगादिं पेक्खित्तु उज्जुमदी होदि ।

णिरवेक्खिय विउलमदी ओहिं वा होदि णियमेण ॥ ४४५ ॥

इन्द्रियनोइन्द्रिययोगादिमपेक्ष्य ऋजुमतिर्भवति ।

निरपेक्ष्य विपुलमतिः अवधिर्वा भवति नियमेन ॥ ४४५ ॥

अर्थ—अपने तथा परके स्पर्शनादि इन्द्रिय और मन तथा मनोयोग काययोग वचन-योगकी अपेक्षासे ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न होता है । अर्थात् वर्तमानमें विचार-प्राप्त स्पर्शनादिके विषयोंको ऋजुमति जानता है । किन्तु विपुलमति अवधिकी तरह इनकी अपेक्षाके बिना ही नियमसे होता है ।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि बिदिया हु ।

सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो बिदियबोहो हु ॥ ४४६ ॥

प्रतिपाती पुनः प्रथमः अप्रतिपाती हि भवति द्वितीयो हि ।

शुद्धः प्रथमो बोधः शुद्धतरो द्वितीयबोधस्तु ॥ ४४६ ॥

अर्थ—ऋजुमति प्रतिपाती है; क्योंकि ऋजुमतिवाला उपशमक तथा क्षपक दोनों श्रेणियोंपर चढ़ता है । उसमें यद्यपि क्षपककी अपेक्षा ऋजुमतिवालेका पतन नहीं होता; तथापि उपशम श्रेणीकी अपेक्षा पतन सम्भव है । विपुलमति सर्वथा अप्रतिपाती है । तथा ऋजुमति शुद्ध है, और विपुलमति इससे भी शुद्ध होता है ।

परमणांसिट्ठियमट्ठं ईहामदिणा उजुट्ठियं लहिय ।

पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणदे णियमा ॥ ४४७ ॥

परमनसिस्थितमर्थमीहामत्या ऋजुस्थितं लब्ध्वा ।

पश्चात् प्रत्यक्षेण च ऋजुमतिना जानीते नियमात् ॥ ४४७ ॥

अर्थ—ऋजुमतिवाला दूसरेके मनमें सरलताके साथ स्थित पदार्थको पहले ईहामति-ज्ञानके द्वारा जानता है, पीछे प्रत्यक्ष रूपसे नियमसे ऋजुमति ज्ञानके द्वारा जानता है ।

चित्तिमचिंतिं वा अद्धं चित्तिमणेयमेयगं ।

ओहिं वा विउलमदी लहिऊण विजाणए पच्छा ॥ ४४८ ॥

चिन्तितमचिन्तितं वा अद्धं चिन्तितमनेकभेदगतम् ।

अवधिर्वा विपुलमतिः लब्ध्वा विजानाति पश्चात् ॥ ४४८ ॥

अर्थ—चिन्तित अचिन्तित अर्धचिन्तित इस तरह अनेक भेदोंको प्राप्त दूसरेके मनोगत पदार्थको अवधिकी तरह विपुलमति प्रत्यक्षरूपमे जानता है ।

द्ववं खेत्तं कालं भावं पडि जीवलक्खियं रूढिं ।

उजुविउलमदी जाणदि अवरवरं मज्झिमं च तहा ॥ ४४९ ॥

द्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं प्रति जीवलक्षितं रूपि ।

ऋजुविपुलमती जानीतः अवरवरं मध्यमं च तथा ॥ ४४९ ॥

अर्थ—द्रव्य क्षेत्र काल भावकी अपेक्षासे रूपि (पुद्गल) द्रव्यको तथा उसके सम्बन्धसे जीवद्रव्यको भी ऋजुमति और विपुलमति जघन्य मध्यम उत्कृष्ट तीन तीन प्रकारसे जानते हैं ।

ऋजुमतिका जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाण बताते हैं ।

अवरं द्ववमुदालियसरीरणिज्जिणसमयबद्धं तु ।

चत्थिंस्वदियणिज्जणं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे ॥ ४५० ॥

अवरं द्रव्यमौरालिकशरीरनिर्जीर्णसमयप्रबद्धं तु ।

चक्षुरिन्द्रियनिर्जीर्णमुत्कृष्टमृजुमतेर्भवेत् ॥ ४५० ॥

अर्थ—औदारिक शरीरके निर्जीर्ण समयप्रबद्धप्रमाण ऋजुमतिके जघन्य द्रव्यका प्रमाण है । तथा चक्षुरिन्द्रियकी निर्जरा-द्रव्य-प्रमाण उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण है ।

विपुलमतिके द्रव्यका प्रमाण बताते हैं ।

मणद्वववगणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं ।

खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं द्ववं ॥ ४५१ ॥

मनोद्रव्यवर्णानामनन्तिमभागेण ऋजुगोत्कृष्टम् ।

खण्डितमात्रं भवति हि विपुलमतेरवरं द्रव्यम् ॥ ४५१ ॥

अर्थ—मनोद्रव्यवर्णानके जितने विकल्प हैं, उसमें अनन्तका भाग देनेसे लब्ध एक भागप्रमाण ध्रुवहारका, ऋजुमतिके विषयभूत उत्कृष्ट द्रव्यप्रमाणमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने द्रव्यस्कन्धको विपुलमति जघन्यकी अपेक्षासे जानता है ।

अट्ठहं कम्माणं समयपवद्धं विविस्ससोबचयम् ।

धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे द्ववं ॥ ४५२ ॥

अष्टानां कर्मणां समयप्रबद्धं विविक्सोपचयम् ।

ध्रुवहारेणैकवारं भजिते द्वितीयं भवेत् द्रव्यम् ॥ ४९२ ॥

अर्थ—विविक्सोपचयसे रहित आठ कर्मोंके समयप्रबद्धका जो प्रमाण है उसमें एकवार ध्रुवहारका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यका प्रमाण होता है ।

तद्विदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं ।

ध्रुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं द्ढवं ॥ ४९३ ॥

तद्वितीयं कल्पानामसंख्येयानां च समयसंख्यासमम् ।

ध्रुवहारेणावहते भवति हि उत्कृष्टकं द्रव्यम् ॥ ४९३ ॥

अर्थ—असंख्यात कल्पों के जितने समय हैं उतनी बार विपुलमतिके द्वितीय द्रव्यमें ध्रुवहारका भाग देनेसे विपुलमतिके उत्कृष्ट द्रव्यका प्रमाण निकलता है ।

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं ।

विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं ॥ ४९४ ॥

गन्वृत्तिपृथक्त्वमवरमुत्कृष्टं भवति योजनपृथक्त्वम् ।

विपुलमतेश्च अवरं तस्य पृथक्त्वं वरं खलु नरलोकः ॥ ४९४ ॥

अर्थ—ऋजुमतिका जघन्य क्षेत्र दो तीन कोस और उत्कृष्ट सात आठ योजन है । विपुलमतिका जघन्य क्षेत्र आठ नव योजन तथा उत्कृष्ट मनुष्यलोकप्रमाण है ।

णरलोएत्ति य वयणं विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स ।

जम्हा तग्घणपदरं मणपज्जवखेत्तमुद्दिदं ॥ ४९५ ॥

नरलोक इति च वचनं विष्कम्भनियामकं न वृत्तस्य ।

यस्मात् तद्वनप्रतरं मनःपर्ययक्षेत्रमुद्दिष्टम् ॥ ४९५ ॥

अर्थ—मनःपर्ययके उत्कृष्ट क्षेत्रका प्रमाण जो नरलोकप्रमाण कहा है सो नरलोक इस शब्दसे मनुष्यलोकका विष्कम्भ ग्रहण करना चाहिये नकि वृत्त; क्योंकि दूसरेके द्वारा चिंतित और मानुषोत्तर पर्वतके बाहर स्थित पदार्थको भी विपुलमति जानता है; क्योंकि मनःपर्यय ज्ञानका उत्कृष्ट क्षेत्र समचतुरस्र घनप्रतररूप पैतालीस लाख योजनप्रमाण है ।

दुगातिगभवा हु अवरं सत्तट्टमवा हवंति उक्कस्सं ।

अडणवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं ॥ ४९६ ॥

द्विकत्रिकभवा हि अवरं सप्ताष्टभवा भवन्ति उत्कृष्टम् ।

अष्टनवभवा हि अवरमसंख्येयं विपुलउत्कृष्टम् ॥ ४९६ ॥

अर्थ—कालकी अपेक्षासे ऋजुमतिका विषयभूत जघन्य काल दो तीन भव और उत्कृष्ट सात आठ भव, तथा विपुलमतिका जघन्य आठ नौ भव और उत्कृष्ट पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण है ।

आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं ।

तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी ॥ ४५७ ॥

आवलयसंख्यभागमवरं च वरं च वरमसंख्यगुणम् ।

ततः असंख्यगुणितमसंख्यलोकं तु विपुलमतिः ॥ ४५७ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षासे ऋजुमत्तिका जघन्य तथा उत्कृष्ट विषय आवलीके असंख्या-
तमे भागप्रमाण है; तथापि जघन्य प्रमाणसे उत्कृष्ट प्रमाण असंख्यातगुणा है । विपुलमत्तिका
जघन्यप्रमाण ऋजुमत्तिके उत्कृष्ट विषयसे असंख्यातगुणा है, और उत्कृष्ट विषय असंख्यात
लोकप्रमाण है ।

मज्झिमद्ववं खेतं कालं भावं च मज्झिमं णाणं ।

जाणदि इदि मणपज्जवणाणं कहिवं समासेण ॥ ४५८ ॥

मध्यमद्रव्यं क्षेत्रं कालं भावं च मध्यमं ज्ञानम् ।

जानातीति मनःपर्ययज्ञानं कथितं समासेन ॥ ४५८ ॥

अर्थ—इस प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भावका जघन्य और उत्कृष्ट प्रमाण बताया इनके
मध्यके जितने भेद हैं उनको मनःपर्यय-ज्ञानके मध्यम भेद विषय करते हैं । इस तरह
संक्षेपसे मनःपर्यय ज्ञानका निरूपण किया ।

केवलज्ञानका निरूपण करते हैं ।

संपुण्णं तु समग्रं केवलमसवत्त सव्वभावगयं ।

लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेद्ववं ॥ ४५९ ॥

सम्पूर्णं तु समग्रं केवलमसपत्नं सर्वभावगतम् ।

लोकालोकवितिमिरं केवलज्ञानं मन्तव्यम् ॥ ४५९ ॥

अर्थ—यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, समग्र, केवल, प्रतिपक्षरहित, सर्वपदार्थगत, और लोका-
लोकमें अन्धकार रहित होता है । **भावार्थ—**यह ज्ञान समस्त पदार्थोंको विषय करनेवाला
है और लोकालोकके विषयमें आवरण रहित है । तथा जीवद्रव्यकी ज्ञान शक्तिके जितने अंश
हैं वे यहांपर सम्पूर्ण व्यक्त होगये हैं इसलिये उसको (केवल ज्ञानको) सम्पूर्ण कहते हैं ।
मोहनीय और अन्तरायका सर्वथा क्षय होजानेके कारण वह अप्रतिहतशक्ति युक्त है, अत
एव उसको समग्र कहते हैं । इन्द्रियोंकी सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये केवल
कहते हैं । समस्त पदार्थोंके विषयकरनेमें उसका कोई बाधक नहीं है इसलिये उसको असपत्न
(प्रतिपक्षरहित) कहते हैं ।

ज्ञानमार्गणामें जीवसंख्याका निरूपण करते हैं ।

चदुगदिमदिसुदुबोद्धा पल्लासंखेज्जया हु मणपज्जा ।

संखेज्जा केवलिणो सिद्धादो होंति अतिरित्ता ॥ ४६० ॥

चतुर्गतिमतिश्रुतबोधाः पल्यासंख्येया हि मनःपर्यायाः ।

संख्येयाः केवलिनः सिद्धात् भवन्ति अतिरिक्ताः ॥ ४६० ॥

अर्थ—चारों गतिसम्बन्धी मतिज्ञानियोंका अथवा श्रुतज्ञानियोंका प्रमाण पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण है । और मनःपर्ययवाले कुल संख्यात हैं । तथा केवलियोंका प्रमाण सिद्धराशिसे कुछ अधिक है । **भावार्थ**—सिद्धराशिमें जिनकी (अर्हन्तोंकी) संख्या मिलानेसे केवलियोंका प्रमाण होता है ।

ओहिरहिदा तिरिक्खा मदिणाणिअसंखभागगा मणुगा ।

सखेज्जा हु तदूणा मदिणाणी ओहिपरिमाणं ॥ ४६१ ॥

अवधिरहिताः तिर्यञ्चः मतिज्ञान्यसंख्यभागका मनुजाः ।

संख्येया हि तदूना मतिज्ञानिनः परिमाणम् ॥ ४६१ ॥

अर्थ—अवधिज्ञानरहित तिर्यञ्च—मतिज्ञानियोंकी संख्याका असंख्यातमा भाग, और अवधिज्ञानरहित मनुष्यों की संख्यात राशि इन दो राशियोंको मतिज्ञानियोंके प्रमाणमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना ही अवधि ज्ञानका प्रमाण है ।

पल्लासंखघणंगुलहदसेहितिरिक्खगदिविभङ्गजुदा ।

णरसहिदा किंचूणा चदुगदिवेभङ्गपरिमाणम् ॥ ४६२ ॥

पल्यासंख्यघनाङ्कुलहतश्रेणितिर्यग्गतिविभंगयुतः ।

नरसहिताः किञ्चिदूनाः चतुर्गतिवैभङ्गपरिमाणम् ॥ ४६२ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमे भागसे गुणित घनाङ्कुलका और जगच्छ्रेणीका गुणा करनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने तिर्यञ्च, और संख्यात मनुष्य, घनाङ्कुलके द्वितीय वर्गमूलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण नारकी, तथा सम्यग्दृष्टियोंके प्रमाणसे रहित सामान्य देवराशि, इन चारों राशियोंके जोड़नेसे जो प्रमाण हो उतने विभङ्गज्ञानी हैं ।

सण्णाणरासिपंचयपरिहीणो सब्वजीवरासी हु ।

मदिसुदअण्णाणीणं पत्तेयं होदि परिमाणं ॥ ४६३ ॥

सर्वज्ञानराशिपञ्चकपरिहीनः सर्वजीवराशिर्हि ।

मतिश्रुताज्ञानिनां प्रत्येकं भवति परिमाणम् ॥ ४६३ ॥

अर्थ—पांच सम्यग्ज्ञानी जीवोंके प्रमाणको (केवलियोंके प्रमाणसे कुछ अधिक) सम्पूर्ण जीवराशिके प्रमाणमेंसे घटानेपर जो शेष रहे उतने कुमतिज्ञानी तथा उतने ही कुश्रु तज्ञानी जीव हैं ।

इति ज्ञानमार्गणाधिकारः ॥

॥ अथ संयममार्गणाधिकारः ।

वदसमितिकसायाणं दंडाण तर्हिंदियाण पंचणहं ।

धारणपालणणिग्गहचागजओ संजमो भणिओ ॥ ४६४ ॥

व्रतसमितिकसायाणां दण्डानां तथेन्द्रियाणां पञ्चानाम् ।

धारणपालननिग्रहत्यागजयः संयमो भणितः ॥ ४६४ ॥

अर्थ—अहिंसा अचौर्य सत्य शील (ब्रह्मचर्य) अपस्त्रिह इन पांच महामृतोका धारण करना, इर्या भाषा एषणा आदाननिक्षेप उत्सर्ग इन पांच समितियोंका पालना, चारप्रकारकी कषायोंका निग्रह करना, मन वचन काय रूप दण्डका त्याग, तथा पांच इन्द्रियोंका जय, इसको संयम कहते हैं । अतएव संयमके पांच भेद हैं ।

संयमकी उत्पत्तिका कारण बताते हैं ।

बादरसंजलणुदये सुहुमुदये समखये य मोहस्स ।

संजमभावो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्विं ॥ ४६५ ॥

बादरसंज्वलनोदये सूक्ष्मोदये शमक्षययोश्च मोहस्य ।

संयमभावो नियमात् भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ४६५ ॥

अर्थ—बादर संज्वलनके उदयसे अथवा सूक्ष्मलोभके उदयसे और मोहनीय कर्मके उपशमसे अथवा क्षयसे नियमसे संयमरूप भाव उत्पन्न होते हैं ऐसा जिनैन्द्रदेवने कहा है । इसी अर्थको दो गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

बादरसंजलणुदये बादरसंजमतियं खु परिहारो ।

पमदिदरे सुहुमुदये सुहुमो संजमगुणो होदि ॥ ४६६ ॥

बादरसंज्वलनोदये बादरसंयमत्रिकं खलु परिहारः ।

प्रमत्तेतरस्मिन् सूक्ष्मोदये सूक्ष्मः संयमगुणो भवति ॥ ४६६ ॥

अर्थ—जो संयमके विरोधी नहीं हैं ऐसे बादर संज्वलन कषायके देशवाति स्पर्धकोंके उदयसे सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि ये तनि चारित्र्य होते हैं । इनमेंसे परिहारविशुद्धि संयम तो प्रमत्त और अप्रमत्तमें ही होता है, किन्तु सामायिक और छेदोपस्थापना प्रमत्तादि अनिवृत्तिकरणपर्यन्त होते हैं । सूक्ष्मकृष्टिको प्राप्त संज्वलन लोभके उदयसे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थानवर्ती संयम होता है ।

जहत्वाद्संजमो पुण उवसमदो होदि मोहणीयस्स ।

खयदो वि य सो णियमा होदित्ति जिणेहिं णिद्विं ॥ ४६७ ॥

यथाख्यातसंयमः पुनः उपशमतो भवति मोहनीयस्य ।

क्षयतोऽपि च स नियमात् भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ४६७ ॥

अर्थ—यथाख्यात संयम नियमसे मोहनीय कर्मके उपशम तथा क्षयसे भी होता है ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

तद्विद्यकसायुदयेण य विरदाविरदो गुणो हवे जुगवं ।

विद्विद्यकसायुदयेण य असंजमो होदि णियमेण ॥ ४६८ ॥

तृतीयकषायोदयेन च विरताविरतो गुणो भवेत् युगपत् ।

द्वितीयकषायोदयेन च असंयमो भवति नियमेन ॥ ४६८ ॥

अर्थ—तीसरी प्रत्याख्यानवरण कषायके उदयसे विरताविरत=देशविरत=मिश्रविरत पांचमा गुणस्थान होता है । और दूसरी अप्रत्याख्यान कषायके उदयसे असंयम (संयमका अभाव) होता है ।

सामायिक संयमका निरूपण करते हैं ।

संगहिय सयलसंजममेयजममणुत्तरं दुरवगम्भं ।

जीवो समुव्वहंतो सामाइयसंजमो होदि ॥ ४६९ ॥

संगृह्य सकलसंयममेकयममनुत्तरं दुरवगम्यम् ।

जीवः समुद्रहन् सामायिकसंयमो भवति ॥ ४६९ ॥

अर्थ—उक्त व्रतधारण आदिक पांच प्रकारके संयममें संग्रह नयकी अपेक्षासे अमेद करके “ मैं सर्व सावद्यका त्यागी हूं ” इस तरह जो सम्पूर्ण सावद्यका त्याग करना इसको सामायिक संयम कहते हैं । यह संयम अनुपम तथा दुर्धर्ष है । इसके पालन करने वालेको सामायिकसंयम (मी) कहते हैं ।

छेदोपस्थापना संयमका निरूपण कहते हैं ।

छेत्तूण य परियायं पोरणं जो ठवेइ अप्पाणं ।

पंचजमे धम्मे सो छेदोवढावगो जीवो ॥ ४७० ॥

छित्त्वा च पर्यायं पुराणं यः स्थापयति आत्मानम् ।

पंचयमे धर्मे सः छेदोपस्थापको जीवः ॥ ४७० ॥

अर्थ—प्रमादके निमित्तसे सामायिकादिसे च्युत होकर जो सावद्य क्रियाके करनेरूप सावद्यपर्याय होती है, उसका प्रायश्चित्तविधिके अनुसार छेदन करके जो जीव अपनी आत्माको व्रतधारणादिक पांचप्रकारके संयमरूप धर्ममें स्थापन करता है उसको छेदोपस्थापनसंयमी कहते हैं ।

परिहारविशुद्धिसंयमीका स्वरूप बताते हैं ।

पंचसमिदो तिगुत्तो परिहरइ सदावि जो हु सावज्जं ।

पंचेक्कजमो पुरिसो परिहारयसंजदो सो हु ॥ ४७१ ॥

पञ्चसमितः त्रिगुप्तः परिहरति सदापि यो हि सावद्यम् ।

पञ्चैकयमः पुरुषः परिहारकसंयतः स हि ॥ ४७१ ॥

अर्थ—पांच प्रकारके भंयमियोंमेंसे जो जीव पांच समिति तीन गुप्तोंको धारण कर सदा सावद्यका त्याग करता है उस पुरुषको परिहारविशुद्धिसंयमी कहते हैं ।

इसीका विशेष स्वरूप कहते हैं ।

तीसं वासो जम्मे वासपुधत्तं खु तित्थयरमूले ।

एच्चक्खाणं पट्ठिदो संझूणदुगाउयविहारो ॥ ४७२ ॥

त्रिंशद्धार्षो जन्मनि वर्षपृथक्त्वं खलु तीर्थकरमूले ।

प्रत्याख्यानं पठितः संध्यो न द्विगम्युतिविहारः ॥ ४७२ ॥

अर्थ—जन्मसे तीस वर्षतक सुखी रहकर दीक्षा ग्रहण करके श्री तीर्थकरके पादमूलमें आठ वर्षतक प्रत्याख्यान नामक नौमे पूर्वका अध्ययन करनेवाले जीवके यह संयम होता है । इस संयमवाला जीव तीन संध्याकालोंको छोड़कर दो कोस पर्यन्त गमन करता है; किन्तु रात्रिको गमन नहीं करता । और वर्षकालमें गमन करनेका नियम नहीं है ।

भावार्थ—जिस संयममें परिहारके साथ विशुद्धि हो उसको परिहारविशुद्धि संयम कहते हैं । प्राणिपीडाके त्यागको परिहार कहते हैं । इस संयमवाला जीव जीवराशमें विहार करता हुआ भी जलसे कमलकी तरह हिंसासे लिप्त नहीं होता ।

सूक्ष्मसाम्पराय संयमवालेका स्वरूप बताते हैं ।

अणुलोहं वेदंतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।

सो सुहुमसांपराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥ ४७३ ॥

अणुलोभं विदन् जीवः उपशमको वा क्षपको वा ।

स सूक्ष्मसाम्परायः यथाख्येतेनोनः किञ्चित् ॥ ४७३ ॥

अर्थ—जिस उपशमश्रेणी अथवा क्षपक श्रेणिवाले जीवके सूक्ष्मकृष्टिको प्रातः लाभक-धायका उदय होता है, उसको सूक्ष्मसांपरायसंयमी कहते हैं । इसके परिणाम यथाख्यात चारित्र्यवाले जीवके परिणामोंसे कुछ ही कम होते हैं । क्योंकि यह संयम दशमे गुणस्थानमें होता है, और यथाख्यात संयम ग्यारहमेसे शुरू होता है ।

यथाख्यात संयमका स्वरूप बताते हैं ।

उवसंते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि ।

छदुमट्ठो व जिणो वा जहखादो संजदो सो दु ॥ ४७४ ॥

उपशान्ते क्षीणे वा अशुभे कर्मणि मोहनीये ।

छद्मस्थो वा जिनो वा यथाख्यातः संयतः स तु ॥ ४७४ ॥

अर्थ—अशुभरूप मोहनीय कर्मके सर्वथा उपशम होजानेसे ग्यारहमे गुणस्थानवर्ती जीवोंके, और सर्वथा क्षीण होजानेसे बारहमे गुणस्थानवर्ती जीवोंके, तथा तेरहमे चौदहमे गुणस्थानवालोंके यथाख्यात संयम होता है । **भावार्थ**—यथावस्थित आत्मस्वभावकी उपलब्धिको यथाख्यात संयम कहते हैं । यह संयम ग्यारहमेसे लेकर चौदहमे तक चार गुणस्थानोंमें होता है । ग्यारहमें चारित्र-मोहनीय कर्मके उपशमसे और ऊपरके तीन गुणस्थानोंमें क्षयसे यह संयम होता है ।

दो गाथाओंद्वारा देशविरतका निरूपण करते हैं ।

पंचतिहिचहुविहेहिं य अणुगुणसिक्खावयेहिं संजुत्ता ।

उच्चंति देसविरया सम्माइट्ठी झलियकम्मा ॥ ४७५ ॥

पञ्चत्रितुर्विधैश्च अणुगुणशिक्षाव्रतैः संयुक्ताः ।

उच्यन्ते देशविरताः सम्यग्दृष्टयः श्रितकर्माणः ॥ ४७५ ॥

अर्थ—जो सम्यग्दृष्टी जीव पांच अणुव्रत तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रतसे युक्त हैं उनको देशविरत अथवा संयमासंयमी कहते हैं । इस देश संयमके द्वारा जीवोंके असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है ।

देशसंयमीके ग्यारह भेदोंको गिनाते हैं ।

दंसणवयसामाइय पोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।

बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुच्छिद्धदेसविरदेदे ॥ ४७६ ॥

दर्शनव्रतसामायिकाः प्रोषधसच्चित्तरात्रिभक्ताश्च ।

ब्रह्मारम्भपरिग्रहानुमतोद्दिष्टदेशविरता एते ॥ ४७६ ॥

अर्थ—दर्शनिक, व्रतिक, सामायिकी, प्रोषधोपवासी, सच्चित्तविरत, रात्रिभुक्तिविरत, ब्रह्मचारी, आरम्भविरत, परिग्रहविरत, अनुमतिविरत, उद्दिष्टविरत ये देशविरत (पांचमे गुणस्थान) के ग्यारह भेद हैं ।

असंयतका स्वरूप बताते हैं ।

जीवा चोद्वसभेया इंदियविसया तहट्टवीसं तु ।

जे तेसु णेव विरया असंजदा ते मुणेद्व्वा ॥ ४७७ ॥

जीवाश्चतुर्दशभेदा इन्द्रियविषयाः तथाष्टाविंशतिस्तु ।

ये तेषु नैव विरता असंयताः ते मन्तव्याः ॥ ४७७ ॥

अर्थ—चौदह प्रकारके जीवसमास और अट्ठाईस प्रकारके इन्द्रियोंके विषय इनसे जो विरक्त नहीं हैं उनको असंयत कहते हैं ।

अट्ठाईस इन्द्रियविषयोंके नाम गिनाते हैं ।

पंचरसपंचवर्णा दो गंधा अट्ठाससत्तसरा ।

मणसहिदृष्टावीसा इन्द्रियविसया मुणेद्व्या ॥ ४७८ ॥

पञ्चरसपञ्चवर्णाः द्वौ गन्धौ अष्टस्पर्शसप्तस्वराः ।

मनःसहिताः अष्टादिशक्तिः इन्द्रियविषयाः मन्तव्याः ॥ ४७८ ॥

अर्थ—पांच रस (मीठा खट्टा कषायला कडुआ चरपरा) पांच वर्ण (सफेद पीला हरा लाल काला) दो गंध (सुगंध दुर्गंध) आठ स्पर्श (कोमल कठोर हलका भारी शीत उष्ण रूखा चिकना) आठ स्वर (पट्टन ऋषभ गंधार मध्यम पंचम धैवत निषाद) और एक मन इस तरह ये इन्द्रियोंके अट्ठाईस विषय हैं ।

संयममार्गणामें जीवसंख्या बताते हैं ।

पमदादिचउणहजुदी सामयियदुगं क्रमेण सेसतियं ।

सत्तसहस्सा णवसय णवलक्खा तीहिं परिहीणा ॥ ४७९ ॥

प्रमत्तादिचतुर्णां युतिः सामायिकद्विकं क्रमेण शेषत्रिकम् ।

सप्त सहस्राणि नव शतानि नव लक्षाणि त्रिभिः परिहीनानि ॥ ४७९ ॥

अर्थ—प्रमत्तादि चार गुणस्थानवर्ती जीवोंका जितना प्रमाण है उतने सामायिकसंयमी होते हैं । और उतने ही छेदोपस्थापनासंयमी होते हैं । परिहारविशुद्धि संयमवाले तीन कम सात हजार (१९९७), सूक्ष्मसांपराय संयमवाले तीन कम नौ सौ (८९७), यथाख्यात संयमवाले तीन कम नौ लाख (८९९९७) होते हैं ।

पल्लासंखेज्जदिमं विरदाविरदाण द्दवपरिमाणं ।

पुव्वुत्तरासिहीणा संसारी अविरदाण पमा ॥ ४८० ॥

पल्यासंख्येयं विरताविरतानां द्रव्यपरिमाणम् ।

पूर्वोक्तराशिहीना संसारिणः अविरतानां प्रमा ॥ ४८० ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमे भाग देशसंयमी जीवद्रव्यका प्रमाण है । उक्त संयमियोंकी राशियोंको संसारी जीवराशिमेंसे घटाने पर जो शेष रहे उतना असंयमियोंका प्रमाण है ।

॥ इति संयममार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त दर्शनमार्गणाका निरूपण करते हैं ।

जं सामण्णं ग्रहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं ।
अविसेसदूण अट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समये ॥ ४८१ ॥

यत् सामान्यं ग्रहणं भावानां नैव कृत्वाकारम् ।
अविशेष्यार्थान् दर्शनमिति भण्यते समये ॥ ४८१ ॥

अर्थ—सामान्यविशेषात्मक पदार्थके विशेष अंशका ग्रहण न करके केवल सामान्य अंशका जो निर्विकल्परूपसे ग्रहण होता है उसको परमागममें दर्शन कहते हैं ।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं ।

भावाणं सामण्णविसेसयाणं सखवमेत्तं जं ।
वण्णणहीणग्रहणं जीवेण य दंसणं होदि ॥ ४८२ ॥

भावानां सामान्यविशेषकानां स्वरूपमात्रं यत् ।
वर्णनहीनग्रहणं जीवेन च दर्शनं भवति ॥ ४८२ ॥

अर्थ—निर्विकल्परूपसे जीवके द्वारा जो सामान्यविशेषात्मक पदार्थोंकी स्वरूपसत्ताका अवभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं । भावार्थ—पदार्थोंमें सामान्य विशेष दोनों ही धर्म रहते हैं; किन्तु केवल सामान्य धर्मकी अपेक्षासे जो स्वरूपसत्ताका अभासन होता है उसको दर्शन कहते हैं । इसका शब्दोंके द्वारा प्रतिपादन नहीं किया जा सकता । इसके चारभेद हैं चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अधिदर्शन केवलदर्शन ।

प्रथम चक्षु दर्शन और अचक्षु दर्शनका स्वरूप कहते हैं:—

चक्खूण जं पयासइ दिस्सइ तं चक्खुदंसणं वेत्ति ।
सेसिंदियप्पयासो णायव्वो सो अचक्खूत्ति ॥ ४८३ ॥

चक्षुषोः यत् प्रकाशते पश्यति तत् चक्षुदर्शनं ब्रुवन्ति ।
शेषेन्द्रियप्रकाशो ज्ञातव्यः स अचक्षुरिति ॥ ४८३ ॥

अर्थ—जो पदार्थ चक्षुरिन्द्रियका विषय है उसका देखना, अथवा वह जिसके द्वारा देखा जाय, यद्वा उसके देखनेवालेको चक्षुदर्शन कहते हैं । और चक्षुके सिवाय दूसरी चार इन्द्रियोंके अथवा मनके द्वारा जो अपने २ विषयभूत पदार्थका सामान्य ग्रहण होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं ।

अधिदर्शनका स्वरूप बताते हैं ।

परमाणुआदियाइ अंतिभखंधत्ति मुत्तिद्व्वाइं ।
तं ओहिदंसणं पुण जं पस्सइ ताइं पच्चक्खं ॥ ४८४ ॥

परमाण्वादीनि अन्तिमस्कन्धमिति मूर्तद्रव्याणि ।
तदधिदर्शनं पुनः यत् पश्यति तानि प्रत्यक्षम् ॥ ४८४ ॥

अर्थ—अवधिज्ञान होनेके पूर्व समयमें अवधिके विषयभूत परमाणुमे लेकर महास्कन्धपर्यन्त मूर्तद्रव्यको जो सामान्यरूपमे देखता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं । इस अवधिदर्शनके अनन्तर प्रत्यक्ष अवधि ज्ञान होता है ।

केवलदर्शनको कहते हैं ।

बहुविहबहुप्पयारा उज्जोवा परिमियम्मि खेत्तम्मि ।

लोगालोगवित्तिमिरो जो केवलदंसणुज्जोओ ॥ ४८५ ॥

बहुविषयबहुप्रकारा उद्योताः परिमिते क्षेत्रे ।

लोकालोकवित्तिमिरो यः केवलदर्शनोद्योतः ॥ ४८५ ॥

अर्थ—तत्रि मंद मध्यम आदि अनेक अवस्थाओंकी अपेक्षा तथा चन्द्र सूर्य आदि पदार्थोंकी अपेक्षा अनेक प्रकारके प्रकाश जगत्में परिमित क्षेत्रमें रहते हैं; किन्तु जो लोक और अलोक दोनों जगह प्रकाश करता है ऐसे प्रकाशको केवलदर्शन कहते हैं । **भावार्थ**—समस्त पदार्थोंका जो सामान्य दर्शन होता है उसको केवल दर्शन कहते हैं ।

दर्शनमार्गणमें दो गाथाओंद्वारा जीवसंख्या बताते हैं ।

जोगे चउरक्खाणं पंचक्खाणं च खीणचरिमाणं ।

चक्षूणमोहिकेवलपरिमाणं ताण णाणं च ॥ ४८६ ॥

योगे चतुरक्षाणां पञ्चाक्षाणां च क्षीणचरमाणाम् ।

चक्षुषामवधिकेवलपरिमाणं तेषां ज्ञानं च ॥ ४८६ ॥

अर्थ—क्षीणकषाय गुणस्थानपर्यन्त जितने पञ्चेन्द्रिय हैं उनका तथा चतुरिन्द्रिय जीवों की संख्याका परस्पर जोड़ देनेसे जो राशि उत्पन्न हो उतने चक्षुदर्शनी जीव हैं । और अवधिज्ञानी तथा केवलज्ञानी जीवोंका जितना प्रमाण है उतना ही अवधिदर्शनी तथा केवलदर्शनवालोंका प्रमाण है । **भावार्थ**—चक्षुदर्शन दो प्रकारका होता है, एक शक्तिरूप दूसरा व्यक्तीरूप । चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय लब्धपर्याप्तिक जीवोंके शक्तिरूप चक्षुदर्शन होता है, और पर्याप्त जीवोंके व्यक्तीरूप चक्षुदर्शन होता है । इनमेंसे प्रथम शक्तिरूप चक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण बताते हैं । आवलीके असंख्यातमे भागका प्रतराङ्गुलमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसका भी जगत्प्रतरमें भाग देनेसे जितना लब्ध आवे उतनी राशिप्रमाण त्रसरशि है । उसमेंसे त्रैराशिक द्वारा लब्ध चतुरिन्द्रिय पञ्चेन्द्रियोंके प्रमाणमेंसे कुछ कम करना; क्योंकि द्वीन्द्रियादि जीवोंका प्रमाण उत्तरोत्तर कुछ २ कम २ होता गया है । तथा लब्ध राशिमेंसे पर्याप्त जीवोंका प्रमाण घटाना । शेष शक्तिरूप चक्षुदर्शनवाले जीवोंका प्रमाण है । इस ही तरह पर्याप्त त्रस राशिमें चारका भाग देकर दोसे गुणा करनेपर जो राशि उत्पन्न हो उसमेंसे कुछ कम व्यक्तीरूप

चक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण है । अवधिज्ञानियोंकी बराबर अवधिदर्शनवाले और केवल ज्ञानियोंकी बराबर केवल दर्शनवाले जीव हैं ।

अचक्षुदर्शनवालोंका प्रमाण बताते हैं ।

एइंदियपहुदीणं स्त्रीणकसायंतणंतरासीणं ।

जोगो अचक्षुदंसणजीवाणं होदि परिमाणं ॥ ४८७ ॥

एकेन्द्रियप्रभृतीनां क्षीणकषायान्तानन्तराशीनाम् ।

योगः अचक्षुदर्शनजीवानां भवति परिमाणम् ॥ ४८७ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय जीवोंसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त अनन्तराशिके जोड़को अचक्षुदर्शन वाले जीवोंका प्रमाण समझना चाहिये ।

॥ इति दर्शनमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त लेश्यमार्गणाका वर्णन करनेके पहले लेश्याका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं ।

लिंपइ अप्पीकीरइ एदीए णियअपुण्णपुण्णं च ।

जीवात्ति होदि लेस्सा लेस्सागुणजाणयक्खादा ॥ ४८८ ॥

लिपत्यात्मीकरोति एतया निजापुण्यपुण्यं च ।

जीव इति भवति लेश्या लेश्यागुणज्ञायकाख्याता ॥ ४८८ ॥

अर्थ—लेश्याके गुणको—स्वरूपको जाननेवाले गणधरादि देवोंने लेश्याका स्वरूप ऐसा कहा है कि जिसके द्वारा जीव अपनेको पुण्य और पापसे लिप्त करै=पुण्य और पापके अधीन करै उसको लेश्या कहते हैं ।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं ।

जोगपउत्ती लेस्सा कसायउदयाणुरंजिया होइ ।

तत्तो दोण्णं कज्जं बंधचउक्कं समुद्दिट्ठं ॥ ४८९ ॥

योगप्रवृत्तिलेश्या कषायोदयानुराजिता भवति ।

ततः द्वयोः कार्यं बन्धचतुष्कं समुद्दिष्टम् ॥ ४८९ ॥

अर्थ—कषायोदयसे अनुरक्त योगप्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं । इस ही लिये दोनोंका बन्धचतुष्करूप कार्य परमाणममें कहा है । **भावार्थ**—कषाय और योग इन दोनोंके जोड़को लेश्या कहते हैं । इस ही लिये लेश्याका कार्य बन्ध चतुष्क है, क्योंकि बन्धचतुष्कमेंसे प्रकृति और प्रदेश बन्ध योगके द्वारा होता है । और स्थिति अनुभाग बन्ध कषायके द्वारा होता है । जहां पर कषायोदय नहीं होता वहांपर केवल योगको उपचारसे लेश्या कहते हैं । अतएव वहां पर उपचरित लेश्याका कार्य भी केवल प्रकृति प्रदेश बन्ध ही होता है, स्थिति अनुभागबन्ध नहीं होता ।

दो गाथाओंद्वारा लेश्यामार्गणाके अधिकारोंका नामनिर्देश करते हैं ।

णिद्देशवर्णपरिणामसंकमो कम्मलवखणगदी य ।

सामी साहणसंखा खेचं फासं तदो कालो ॥ ४९० ॥

अन्तरभावप्पबहु अहियारा सोलसा हवन्ति ॥

लेस्साण साहणट्ठं जहाकमं तेहिं वोच्छामि ॥ ४९१ ॥

निर्देशवर्णपरिणामसंकमाः कर्मलक्षणगतयश्च ।

सामी साधनसंख्यं क्षेत्रं स्पर्शस्ततः कालः ॥ ४९० ॥

अन्तरभावाल्पबहुत्वमधिकाराः षोडश भवन्तीति ।

लेश्यानां साधनार्थं यथाक्रमं तैर्वक्ष्यामि ॥ ४९१ ॥

अर्थ—निर्देश, वर्ण, परिणाम, संक्रम, कर्म, लक्षण, गति, सामी, साधन, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व ये लेश्याओंकी सिद्धिके लिये सोलह अधिकार परमागममें कहे हैं । इनके ही द्वारा कमसे लेश्याओंका निरूपण करेंगे ।

प्रथम निर्देशकेद्वारा लेश्याका निरूपण करते हैं ।

किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुक्कलेस्सा य ।

लेस्साणं णिद्देशा छच्चेव हवन्ति णियमेण ॥ ४९२ ॥

कृष्णा नीला कापोता तेजः पद्मा च शुक्ल्लेश्या च ।

लेश्यानां निर्देशाः षट् चैव भवन्ति नियमेन ॥ ४९२ ॥

अर्थ—लेश्याओंके नियमसे ये छह निर्देश हैं । कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या (पीतलेश्या), पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या । **भावार्थ—**इस गाथामें कहे हुए एव शब्दके द्वारा ही नियम अर्थ सिद्ध होजानेसे पुनः नियम शब्दका ग्रहण करना व्यर्थ ठहरता है । अतः वह व्यर्थ ठहरकर ज्ञापन करता है कि लेश्याके यद्यपि सामान्यकी अपेक्षा छह भेद हैं; तथापि पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे लेश्याओंके असंख्यात लोकप्रमाण भेद होते हैं ।

वर्णकी अपेक्षासे वर्णन करते हैं ।

वण्णोदयेण जणिदो सरीरवण्णो दु दव्वदो लेस्सा ।

सा सोढा किण्हादी अणेयभेया सभेयेण ॥ ४९३ ॥

वर्णोदयेन जनितः शरीरवर्णस्तु द्रव्यतो लेश्या ।

सा षोढा कृष्णादिः अनेकभेदा स्वभेदेन ॥ ४९३ ॥

अर्थ—वर्ण नामकर्मके उदयसे जो शरीरका वर्ण होता है उसको द्रव्यलेश्या कहेंगे. २३

हैं। इसके कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल ये छह भेद हैं। तथा प्रत्येकके उत्तर भेद अनेक हैं।

छप्पयणीलकवोदसुहेमंबुजसंखसण्णिहा वण्णे ।

संखेज्जासंखेज्जाणंतवियप्पा य पत्तेयं ॥ ४९४ ॥

पट्पदनीलकपोतसुहेमाम्बुजशङ्खसन्निभाः वर्णः ।

संख्येयासंख्येयानन्तविकल्पाश्च प्रत्येकम् ॥ ४९४ ॥

अर्थ—वर्णकी अपेक्षामें भ्रमरके समान कृष्णलेइया, नीलमणिके (नीलमके) समान नीललेइया, कबूतरके समान कापोतलेइया, सुवर्णके समान पीतलेइया, कमलके समान पद्मलेइया, शंखके समान शुक्ललेइया होती है। इनमेंसे प्रत्येकके इन्द्रियोंसे प्रकट होनेकी अपेक्षा संख्यात भेद हैं, तथा स्कन्धकी अपेक्षा असंख्यात और परमाणुभेदकी अपेक्षा अनन्त भेद हैं।

किम् गतिमें कोनसी लेइया होती है यह बताते हैं।

णिरया किण्हा कप्पा भावाणुगया हु तिसुरणरतिरिये ।

उत्तरदेहे छकं भोगे रविचंदहरिदंगा ॥ ४९५ ॥

निरयाः कृष्णाः कल्पाः भावानुगता हि तिसुरनरतिरिश्चि ।

उत्तरदेहे पट्कं भोगे रविचन्द्रहरिताङ्गाः ॥ ४९५ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण नारकी कृष्णवर्ण हैं। कल्पवासी देवोंकी द्रव्यलेइया (शरीरका वर्ण) भावलेइयाके सदृश होता है। भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी मनुष्य तिर्यञ्च इनकी द्रव्यलेइया छाहों होती हैं। तथा विक्रियाके द्वारा उत्पन्न होनेवाले शरीरका वर्ण भी छह प्रकारमेंसे किसी एक प्रकारका होता है। उत्तम भोगभूमिवालोंका सूर्यसमान, मध्यम भोगभूमिवालोंका चन्द्रसमान, तथा जघन्य भोगभूमिवालोंका हरितवर्ण शरीर होता है।

बादरआऊतेऊ सुक्कातेऊय वाउकायाणं ।

गोमुत्तमुग्गवण्णा कमसो अव्वत्तवण्णो य ॥ ४९६ ॥

बादरासैनसौ शुकृतेजसौ वायुकायानाम् ।

गोमूत्रमुद्रवर्णौ कमशः अव्यक्तवर्णश्च ॥ ४९६ ॥

अर्थ—क्रमसे बादर जलकायिककी द्रव्यलेइया शुक्ल और बादर तेजस्कयिककी पीत होती है। वायुकायके तीन भेद हैं, घनोदधिवात, घनवात, तनुवात। इनमेंसे प्रथमका शरीर गोमूत्रवर्ण, दूसरेका शरीर मृगसमान, और तीसरेके शरीरका वर्ण अव्यक्त है।

सव्वेसिं सुहुमाणं कावोदा सव्व विग्गहे सुक्का ।

सव्वो मिस्सो देहो कवोदवण्णो हवे णियमा ॥ ४९७ ॥

सर्वेषां सूक्ष्मानां कापोतः सर्वे विग्रहे शुक्लः ।

सर्वो मिश्रो देहः कपोतवर्णो भवेन्नियमात् ॥ ४९७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण सूक्ष्म जीवोंकी देह कपोतवर्ण है । विग्रहगतिमें सम्पूर्ण जीवोंका शरीर शुक्लवर्ण होता है । तथा अपनी २ पर्याप्तिके प्रारम्भ समयसे शरीरपर्याप्तियन्त समस्त जीवोंका शरीर नियमसे कपोतवर्ण होता है ।

इस तरह वर्णाधिकारके अनन्तर पांच गाथाओंमें परिणामाधिकारको कहते हैं ।

लोगाणमसंखेज्जः उदयट्ठाणा कसायगा हांति ।

तत्थ किलिङ्गा असुहा सुहा विमुद्धा तदालाबा ॥ ४९८ ॥

लोकानामसंख्येयान्युदयस्थानानि कषायगाणि भवन्ति ।

तत्र क्लिष्टान्यशुभानि शुभानि विशुद्धानि तदालापात् ॥ ४९८ ॥

अर्थ—कषायोंके उदयस्थान असंख्यात लोकप्रमाण हैं । इसमेंसे अशुभ लेइयाओंके संक्षेपरूप स्थान यद्यपि सामान्यसे असंख्यात लोकप्रमाण हैं; तथापि विशेषताकी अपेक्षा असंख्यातलोक प्रमाणमें असंख्यात लोकप्रमाण राशिका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसके बहुभाग प्रमाण संक्षेपरूप स्थान हैं । और एक भागप्रमाण शुभ लेइयाओंके विशुद्ध स्थान हैं । परन्तु सामान्यसे ये भी असंख्यात लोकप्रमाण ही हैं ।

तिव्वतमा तिव्वतरा तिव्वा असुहा सुहा तहा मंदा ।

मंदतरा मंदतमा छट्ठाणगया हु पत्तेयं ॥ ४९९ ॥

तीव्रतमास्तीव्रतरास्तीव्रा अशुभाः शुभास्तथा मन्दाः ।

मन्दतरा मन्दतमाः पट्स्थानगता हि प्रत्येकम् ॥ ४९९ ॥

अर्थ—अशुभ लेइयासम्बन्धी तीव्रतम तीव्रतर तीव्र ये तीन स्थान, और शुभलेइया-सम्बन्धी मन्द मन्दतर मन्दतम ये तीन स्थान होते हैं; क्योंकि कृष्ण लेइयादि छह लेइयाओंके शुभ स्थानोंमें जघन्यसे उत्कृष्टपर्यन्त और अशुभ स्थानोंमें उत्कृष्टसे जघन्यपर्यन्त प्रत्येकमें पट्स्थानपतित हानिवृद्धि होती है ।

असुहाणं वरमज्झिमअवरंसे किण्हणीलकाउतिण् ।

परिणमदि कमेणप्पा परिहाणीदो किलेसस्स ॥ ५०० ॥

अशुभानां वरमध्यमावरांशे कृष्णनीलकापोतत्रिकानाम् ।

परिणमति क्रमेणात्मा परिहानितः क्लेशस्य ॥ ५०० ॥

अर्थ—कृष्ण नील कापोत इन तीन अशुभ लेइयाओंके उत्कृष्ट मध्यम जघन्य अंश-रूपमें यह आत्मा क्रमसे संक्षेपशक्ती हानि होनेसे परिणमन करता है । **भावार्थ**—इस आत्माकी जिस २ तरह संक्षेपपरिणति कम होती जाती है उसी २ तरह यह आत्मा

अशुभ लेश्याओंमेंसे उत्कृष्ट कृष्ण लेश्याको छोड़कर नील लेश्यारूपमें और नीलको छोड़कर कापोतरूपमें परिणमन करता है ।

काऊ णीलं किण्हं परिणमदि किलेसवड्ढिदो अप्पा ।

एवं किलेसहाणीवड्ढीदो होदि असुहतिथं ॥ ५०१ ॥

कापोतं नीलं कृष्णं परिणमति क्लेशवृद्धित आत्मा ।

एवं क्लेशहानिवृद्धितः भवति अशुभत्रिकम् ॥ ५०१ ॥

अर्थ—उत्तरोत्तर संक्लेशपरिणामोंकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा कापोतसे नील और नीलसे कृष्णलेश्यारूप परिणमन करता है । इस तरह यह जीव संक्लेशकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षासे तीन अशुभ लेश्यारूप परिणमन करता है ।

तेऊ पडमे सुक्के सुहाणमवरादिअंसगे अप्पा ।

सुद्धिस्स य वड्ढीदो हाणीदो अण्णदा होदि ॥ ५०२ ॥

तेजसि पद्मे शुक्ले शुभानामवराद्यंशगे आत्मा ।

शुद्धेश्च वृद्धितो हानितः अन्यथा भवति ॥ ५०२ ॥

अर्थ—उत्तरोत्तर विशुद्धिकी वृद्धि होनेसे यह आत्मा पीत पद्म शुक्ल इन तीन शुभ लेश्याओंके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अंशरूपमें परिणमन करता है । तथा विशुद्धिकी हानि होनेसे उत्कृष्टसे जघन्यपर्यन्त शुक्ल पद्म पीत लेश्यारूप परिणमन करता है । इस तरह शुद्धिकी हानि वृद्धि होनेसे शुभ लेश्याओंका परिणमन होता है ।

उक्त परिणामाधिकारको मनमें रखकर संक्रमाधिकारका निरूपण करते हैं ।

संकमणं सट्ठाणपरट्ठाणं होदि किण्हसुक्काणं ।

वड्ढीसु हि सट्ठाणं उभयं हाणिम्मि सेस उभयेवि ॥ ५०३ ॥

संकमणं स्वस्थानपरस्थानं भवति कृष्णशुक्लयोः ।

वृद्धिषु हि स्वस्थानमुभयं हानौ शेषस्योभयेऽपि ॥ ५०३ ॥

अर्थ—परिणामोंकी पलटनको संक्रमण कहते हैं । उसके दो भेद हैं, एक स्वस्थान—संकमण दूसरा परस्थान—संकमण । किसी विवक्षित लेश्याका एक परिणाम छूटकर उस ही लेश्यारूप जब दूसरा परिणाम होता है, वहां स्वस्थान—संकमण होता है । और किसी विवक्षित लेश्याका एक परिणाम छूटकर किसी दूसरी लेश्या (विवक्षित लेश्यासे भिन्न) का जब कोई परिणाम होता है वहां परस्थान—संकमण होता है ।

कृष्ण और शुक्ललेश्यामें वृद्धिकी अपेक्षा स्वस्थान—संकमण ही होता है । और हानिकी अपेक्षा स्वस्थान परस्थान दोनों ही संक्रमण होते हैं । तथा शेष चार लेश्याओंमें हानि तथा वृद्धि दोनों अपेक्षाओंमें स्वस्थान परस्थान दोनों संक्रमणोंके होनेकी सम्भावना है ।

भावार्थ—कृष्णलेइया अशुभलेइया है, इस लिये उसमें यदि संक्लेशताकी वृद्धि होगी । तो कृष्णलेइयाके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त ही होगी । तथा शुक्ललेइया शुभलेइया है इस लिये शुक्ललेइयामें यदि शुभपरिणामोंकी वृद्धि होगी तो शुक्ललेइयाके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त ही होगी । इस लिये वृद्धिकी अपेक्षा कृष्ण और शुक्ललेइयामें स्वस्थानसंक्रमण ही है । तथा कृष्णलेइयामें संक्लेशताकी यदि हानि हो तो कृष्णलेइयाके जघन्य अंशपर्यन्त भी होसकती है, और इसके नीचे नील कापोत लेइयारूप भी होसकती है, इसलिये कृष्णलेइयामें हानिकी अपेक्षा दोनों संक्रमण संभव हैं । इस ही तरह शुक्ललेइयामें यदि विशुद्धताकी हानि होय तो शुक्ललेइयाके जघन्य अंशपर्यन्त भी होसकती है, और उसके नीचे पद्म पीत लेइयारूप भी होसकती है, इसलिये इसमें भी हानिकी अपेक्षा दोनों संक्रमण सम्भव हैं । किन्तु मध्यकी चारलेइयाओंमेंसे अशुभलेइयाओंमें संक्लेशताकी हानि हो या वृद्धि हो दो प्रकारके संक्रमणोंमेंसे कोई भी संक्रमण होसकता है । तथा शुभलेइयाओंमें विशुद्धताकी हानि हो या वृद्धि हो दो प्रकारके संक्रमणोंमेंसे कोई भी संक्रमण हो सकता है । जैसे पद्मलेइयामें यदि विशुद्धताकी वृद्धि हुई तो वह पद्मलेइयाके उत्कृष्ट अंशपर्यन्त भी हो सकती है इसलिये स्वस्थानसंक्रमण, और शुक्ललेइयारूप भी परिणाम होसकता है इसलिये परस्थान संक्रमण भी सम्भव है । इसीप्रकार पीत तथा नील और कापोतलेइयामें भी समझना चाहिये ।

लेस्सानुक्लसादोवरहाणी अवरगादवरवद्धी ।

सद्गणे अवरादो हाणी णियमा परदणणे ॥ ५०४ ॥

लेइयानामुत्कृष्टादवरहानिः अवरकादवरवृद्धिः ।

स्वस्थाने अवरात् हानिर्नियमात् परस्थाने ॥ ५०४ ॥

अर्थ—स्वस्थानकी अपेक्षा लेइयाओंके उत्कृष्टस्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम उत्कृष्ट स्थानके परिणामसे अनन्तभागहानिरूप है । तथा स्वस्थानकी अपेक्षासे ही जघन्यस्थानके समीपवर्ती स्थानका परिणाम जघन्य स्थानसे अनन्तभागवृद्धिरूप है । सम्पूर्ण लेइयाओंके जघन्य स्थानसे यदि हानि हो तो नियमसे अनन्तगुणहानिरूप परस्थान संक्रमण ही होता है ।

भावार्थ—किसी विवक्षित लेइयाके जघन्य स्थानसे हानि होकर उसके समीपवर्ती लेइयाके उत्कृष्ट स्थानरूप यदि परिणाम हो तो वहांपर परस्थान संक्रमण ही होता है, और यह स्थान अनन्तगुणहानिरूप होता है । जैसे कृष्णलेइयाके जघन्यस्थानके समीप नीललेइयाका उत्कृष्ट स्थान है, वह कृष्णलेइयाके जघन्यस्थानसे अनन्तगुणहानिरूप है ।

उपर्युक्त निरूपणका कारण क्या है यह बताते हैं ।

संक्रमणे छद्दणा हाणिसु वद्धीसु होति तण्णामा ।

परिमाणं च य पुवं उत्तकमं होदि सुदणणे ॥ ५०५ ॥

संकमणे पट्स्थानानि/हानिषु वृद्धिषु भवन्ति तन्नामानि ।

परिमाणं च न पूर्वमुक्तक्रमं भवति श्रुतज्ञाने ॥ १०९ ॥

अर्थ—संकमणाधिकारमें हानि और वृद्धि दोनों अवस्थाओंमें पट्स्थान होते हैं । इन पट्स्थानोंके नाम तथा परिमाण पहले श्रुतज्ञानमार्गणामें जो कहे हैं वेही यहांपर भी समझना ।

भावार्थ—पट्स्थानोंके नाम ये हैं अनन्तभाग असंख्यातभाग संख्यातभाग संख्यातगुण असंख्यातगुण अनन्तगुण । इन पट्स्थानोंकी सहनानी क्रमसे उर्वक चतुरंक पञ्चाङ्क षडङ्क सप्ताङ्क अष्टाङ्क है । और यहांपर अनन्तका प्रमाण जीवराशिमात्र, असंख्यातका प्रमाण असंख्यातलोक-मात्र, और संख्यातका प्रमाण उत्कृष्ट संख्यात है ।

लेद्याओंके कर्माधिकारको कहते हैं ।

पहिया जे छप्पुरिसा परिभट्टारणमज्झदेसम्हि ।

फलभरियरुक्खमेगं पेक्खित्ता ते विंचित्ति ॥ ५०६ ॥

णिम्मूलखंधसाहुवसाहं छित्तुं चिणित्तु पडिदाइं ।

खाउं फलाइं इदि जं मणेण वयणं हवे कम्मं ॥ ५०७ ॥

पथिका ये पट् पुरुषाः परिभ्रष्टा अरण्यमध्यदेशे ।

फलभरितवृक्षमेकं प्रेक्षित्वा ते विचिन्तयन्ति ॥ १०६ ॥

निर्मूलस्कन्धशाखोपशाखं छित्वा चित्वा पतितानि ।

खादितुं फलानि इति यन्मनसा वचनं भवेत् कर्म ॥ १०७ ॥

अर्थ—कृष्ण आदि छह लेइयावाले छह पथिक वनके मध्यमें मार्गसे भ्रष्ट होकर फलोंसे पूर्ण किसी वृक्षको देखकर अपने २ मनमें इस प्रकार विचार करते हैं, और उसके अनुसार वचन कहते हैं।—कृष्णलेइयावाला विचार करता है और कहता है कि मैं इस वृक्षको मूलसे उखाड़कर इसके फलोंका भक्षण करूंगा । और नीललेइयावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षको स्कन्धसे काटकर इसके फल खाऊंगा । कापोतलेइयावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षकी बड़ी २ शाखाओंको काटकर इसके फलोंको खाऊंगा । पीतलेइयावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षकी छोटी २ शाखाओंको काटकर इसके फलोंको खाऊंगा । पद्मलेइयावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षके फलोंको तोड़कर खाऊंगा । शुक्ललेइयावाला विचारता है और कहता है कि मैं इस वृक्षसे स्वयं टूट कर पड़े हुए फलोंको खाऊंगा । इस तरह जो मनपूर्वक वचनादिकी प्रवृत्ति होती है वह लेइयाका कर्म है । यहां पर यह एक दृष्टान्तमात्र दिया गया है इसलिये इस ही तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

लेख्याओंके लक्षणाधिकारका निरूपण करते हैं ।

चंडो ण मुचइ वेरं भंडणसीलो य धम्मदयगंहेओ ।

दुट्ठो ण य एदि वसं लक्खणमेयं तु किण्हस्स ॥ ५०८ ॥

चण्डो न मुञ्चति वैरं भण्डनशीलश्च धर्मदयागहितः ।

दुष्टो न चैति वशं लक्षणमेतत्तु कृष्णस्य ॥ ५०८ ॥

अर्थ—तीव्र क्रोध करनेवाला हो, वैरको न छोड़े, युद्धकरनेका (लड़नेका) जिसका स्वभाव हो, धर्म और दयासे रहित हो, दुष्ट हो, जो किसीके भी वश न हो ये सब कृष्णलेख्यावालेके चिह्न (लक्षण) हैं ।

नीललेख्यावालेके चिह्न बताते हैं ।

मंदो बुद्धिविहीणो णिव्विण्णाणी य विसयलोलो य ।

माणी मायी य तहा आलस्सो चेव भेजो य ॥ ५०९ ॥

णिद्वावंचणबहुलो धनधण्णे होदि तिब्बसण्णा य ।

लक्खणमेयं भणियं समासदो णील्लेस्सस्स ॥ ५१० ॥

मन्दो बुद्धिविहीनो निर्विज्ञानी च विषयलोलश्च ।

मानी मायी च तथा आलस्यश्चैव भेद्यश्च ॥ ५०९ ॥

निद्रावञ्चनबहुलो धनधान्ये भवति तीव्रसंज्ञश्च ।

लक्षणमेतद्भणितं समासतो नीललेख्यस्य ॥ ५१० ॥

अर्थ—कामकरनेमें मन्द हो, अथवा स्वच्छन्द हो, वर्तमान कार्य करनेमें विवेकरहित हो, कला चातुर्यसे रहित हो, स्पर्शनादि पांच इन्द्रियोंके विषयोंके लम्पट हो, मानी हो, माया-चारी हो, आलसी हो, दूसरे लोग जिसके अभिप्रायको सहसा न जान सकें, तथा जो अति निद्रालु और दूसरोंको ठगनेमें अतिदक्ष हो, और धनधान्यके विषयमें जिसकी अतितीव्र लालसा हो, ये नीललेख्यावालेके संक्षेपसे चिह्न बताये हैं ।

तीन गाथाओंमें कपोतलेख्यावालेका लक्षण कहते हैं ।

रुसइ णिंदइ अण्णे दूसइ बहुसो य सोयमयबहुलो ।

असुयइ परिभवइ परं पसंसये अप्पयं बहुसो ॥ ५११ ॥

ण य पत्तियइ परं सो अप्पणं यिव परं पि मण्णंतो ।

थुसइ अभित्थुवंतो ण य जाणइ हाणिवद्धिं वा ॥ ५१२ ॥

मरणं पत्थेइ रणे देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु ।

ण गणइ कज्जाकज्जं लक्खणमेयं तु काउस्स ॥ ५१३ ॥

रुप्यति निन्दति अन्यं दुप्यति बहुशश्च शोकभयबहुलः ।

असूयति परिभवति परं प्रशंसति आत्मानं बहुशः ॥ ५११ ॥

न च प्रत्येति परं स आत्मानमिव परमपि मन्यमानः ।

तुप्यति अभिष्टुवतो न च जानाति हानिवृद्धी वा ॥ ५१२ ॥

मरणं प्रार्थयते रणे ददाति सुबहुकमपि स्तूयमानस्तु ।

न गणयति कार्याकार्यं लक्षणमेतत्तु कापोतस्य ॥ ५१३ ॥

अर्थ—दूसरेके ऊपर क्रोध करना, दूसरेकी निन्दा करना, अनेक प्रकारसे दूसरोंको दुःख देना अथवा औरोंसे बैर करना, शोकाकुलित तथा भयग्रस्त होना, दूसरोंके ऐश्वर्यादिको सहन न कर सकना, दूसरेका तिरस्कार करना, अपनी नानाप्रकारसे प्रशंसा करना, दूसरेके ऊपर विश्वास न करना, अपनेसमान दूसरोंको भी मानना, स्तुति करनेवाले पर संतुष्ट होजाना, अपनी हानि वृद्धिको कुछ भी न समझना, रणमें मरनेकी प्रार्थना करना, स्तुति करनेवालेको स्व धन दे डालना, अपने कार्य अकार्यकी कुछ भी गणना न करना, ये सब कपोतले-
श्यावालेके चिन्ह हैं ।

पीतलेश्यावालेके चिन्ह बताते हैं ।

जाणइ कज्जाकज्जं सेयमसेयं च सव्वसमपासी ।

दयदानरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउरस्स ॥ ५१४ ॥

जानाति कार्याकार्यं सेव्यमसेव्यं च सर्वसमदर्शी ।

दयादानरतश्च सृदुः लक्षणमेतत्तु तेजसः ॥ ५१४ ॥

अर्थ—अपने कार्य अकार्य सेव्य असेव्यको समझनेवाला हो, सबके विषयमें समदर्शी हो, दया और दानमें तत्पर हो, कोमलपरिणामी हो, ये पीतलेश्यावालेके चिह्न हैं ।

पद्मलेश्यावालेके लक्षण बताते हैं ।

चागी भद्दो चोक्खो उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि ।

साहुगुरुपूजणरदो लक्खणमेयं तु पम्मस्स ॥ ५१५ ॥

त्यागी भद्रः सुकरः उद्युक्तकर्मा च क्षमते बहुकमपि ।

साधुगुरुपूजनरतो लक्षणमेतत्तु पद्मस्य ॥ ५१५ ॥

अर्थ—दान देनेवाला हो, भद्रपरिणामी हो, जिसका उत्तम कार्य करनेका स्वभाव हो, इष्ट तथा अनिष्ट उपद्रवोंको सहन करनेवाला हो, मुनि गुरु आदिकी पूजामें प्रीतियुक्त हो ये सब पद्मलेश्यावालेके लक्षण हैं ।

शुक्लेश्यावालेके लक्षण बताते हैं ।

ण य कुण्ड पक्खवायं णवि य णिदाणं समो य सव्वेसिं ।

णत्थि य रायदोसा णेहोवि य सुक्कलेस्सस्स ॥ ५१६ ॥

न च करोति पक्षपातं नापि च निदानं समश्च सर्वपाप ।

नास्ति च रागद्वेषौ स्नेहोऽपि च शुक्लेश्याम् ॥ ५१६ ॥

अर्थ—पक्षपात न करना, निदानको न बांधना, सब जीवोंमें समदर्शी होना, इष्टसे राग और अनिष्टसे द्वेष न करना, स्त्री पुत्र मित्र आदिमें स्नेहर्हित होना, ये सब शुक्लेश्यावालेके लक्षण हैं ।

क्रमप्राप्त गति अधिकारका वर्णन करते हैं ।

लेस्साणं खलु अंसा छव्वीसा होंति तत्थ मज्झिमया ।

आउगबंधणजोगा अट्टवगरिसकालभवा ॥ ५१७ ॥

लेश्यानां खलु अंशाः षड्विंशतिः भवन्ति तत्र मध्यमकाः ।

आयुष्कबन्धनयोग्या अष्ट अष्टापकर्षकालभवाः ॥ ५१७ ॥

अर्थ—लेश्याओंके कुल छवीस अंश हैं, इनमेंसे मध्यके आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष कालमें होते हैं वे ही आयुर्कर्मके बन्धके योग्य होते हैं । भावार्थ—जैसे किसी कर्मभूमिया मनुष्य या तिर्यचकी भुज्यमान आयुका प्रमाण छह हजार इकसठ है । इसके तीन भागमेंसे दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर, इस एक भागके प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रथम अपकर्षका काल कहा जाता है । इस अपकर्ष कालमें परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है । यदि यहां पर भी बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक त्रितीय भागमेंसे भी दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर प्रथम समयसे लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त द्वितीय अपकर्ष कालमें परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है । यदि यहां परभी बंध न हो तो तीसरे अपकर्षमें होता है । और तीसरेमें भी न हो तो चौथे पांचमे छठे सातमे आठमे अपकर्षमेंसे किसी भी अपकर्षमें परभवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है । यदि किसी भी अपकर्षमें बन्ध न हो तो असंक्षेपाद्धा (भुज्यमान आयुका अन्तिम आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण काल) से पूर्वके अन्तर्मुहूर्तमें अवश्य ही आयुका बन्ध होता है ।

भुज्यमान आयुके तीन भागोंमेंसे दो भाग बीतने पर अवशिष्ट एक भागके प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कालको अपकर्ष कहते हैं । इस अपकर्ष कालमें लेश्याओंके आठ मध्य-माशोंमेंसे जो अंश होगा उसके अनुसार आयुका बन्ध होगा । तथा आयुबन्धके योग्य आठ मध्यमाशोंमेंसे कोई अंश जिस अपकर्षमें होगा उस ही अपकर्षमें आयुका बन्ध होगा, दूसरे कालमें नहीं ।

जीवोंके दो भेद हैं एक सोपक्रमायुष्क दूसरा अनुपक्रमायुष्क । जिनका विषभक्षणादि निमित्तके द्वारा मरण संभव हो उनको सोपक्रमायुष्क कहते हैं । और इससे जो रहित हैं उनको अनुपक्रमायुष्क कहते हैं । जो सोपक्रमायुष्क हैं उनके तो उक्त रीतिसे ही पर-भवसम्बन्धी आयुका बन्ध होता है । किन्तु अनुपक्रमायुष्कोंमें कुछ भेद है, वह यह है कि अनुपक्रमायुष्कोंमें जो देव और नारकी हैं वे अपनी आयुके अन्तिम छह महीना शेष रहने पर आयुके बन्ध करनेके योग्य होते हैं । इसमें भी छह महीनाके आठ अपकर्षकालमें ही आयुका बंध करते हैं—दूसरे कालमें नहीं । जो भोगभूमिया मनुष्य या तिर्यच हैं वे अपनी आयुके नौ महीना शेष रहने पर नौ महीनाके आठ अपकर्षोंमेंसे किसी भी अपकर्षमें आयुका बन्ध करते हैं । इस प्रकार ये लेश्याओंके आठ अंश आयुबन्धको कारण हैं । जिस अपकर्षमें जैसा जो अंश हो उसके अनुसार आयुका बन्ध होता है ।

शेष अठारह अंशोंका कार्य बताते हैं ।

सेसट्टारस अंसा चउगइगमणस्स कारणा होति ।

सुक्कुक्कस्समुदा सव्वट्ठं जांति खलु जीवा ॥ ५१८ ॥

शेषाष्टादशांशाश्चतुर्गतिगमनस्य कारणानि भवन्ति ।

शुक्लेष्टांशमृता सर्वार्थं यान्ति खलु जीवाः ॥ ५१८ ॥

अर्थ—अपकर्षकालमें होनेवाले लेश्याओंके आठ मध्यमांशोंको छोड़कर बाकीके अठा-रह अंश चारो गतियोंके गमनको कारण होते हैं । तथा शुक्ललेश्याके उत्कृष्ट अंशसे संयुक्त जीव मरकर नियमसे सर्वार्थसिद्धिको जाते हैं ।

अवरंसमुदा होति सदारदुग्गे मज्झिमंसणेण मुदा ।

आणदकप्पादुवरिं सवट्ठाइल्लगे होति ॥ ५१९ ॥

अवरांशमृता भवन्ति शतारद्विके मध्यमांशकेन मृताः ।

आनतकल्पादुपरि सर्वार्थादिमे भवन्ति ॥ ५१९ ॥

अर्थ—शुक्ललेश्याके जघन्य अंशोंसे संयुक्त जीव मरकर शतार सहस्रार स्वर्गपर्यन्त जाते हैं । और मध्यमांशोंके सहित मरा हुआ जीव सर्वार्थसिद्धिसे पूर्वपूर्वके तथा आनत स्वर्गसे ऊपरके समस्त विमानोंमेंसे यथा सम्भव विमानमें उत्पन्न होता है । और आनत स्वर्गमें भी उत्पन्न होता है ।

पम्मुक्कस्संसमुदा जीवा उवजांति खलु सहस्सारं ।

अवरंसमुदा जीवा सणक्कुमारं च माहिदं ॥ ५२० ॥

पद्मोत्कृष्टांशमृता जीवा उपयांति खलु सहस्रारम् ।

अवरांशमृता जीवाः सनत्कुमारं च माहेन्द्रम् ॥ ५२० ॥

अर्थ—पद्मलेइयाके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव नियमसे सहस्रार स्वर्गको प्राप्त होते हैं । और पद्म लेइयाके जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गको प्राप्त होते हैं ।

मज्झिमअंशेण मुदा तम्मज्झं जातिं तेउजेहमुदा ।

साणकुमारमाहिंदंतिमचक्किंदसेडिम्मि ॥ ५२१ ॥

मध्यमांशेन मृता तन्मध्यं यान्ति तेजोऽप्येष्टमृताः ।

सनत्कुमारमाहेन्द्रान्तिमचक्रेन्द्रश्रेण्याम् ॥ ५२१ ॥

अर्थ—पद्मलेइयाके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके ऊपर और सहस्रार स्वर्गके नीचे २ के विमानोंमें उत्पन्न होते हैं । पीतलेइयाके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके अन्तिम पटलमें चक्रनामक इन्द्रकसम्बन्धी श्रेणी-बद्ध विमानमें उत्पन्न होते हैं ।

अवरंसमुदा सोहम्मीसाणादिमउडम्मि सेडिम्मि ।

मज्झिमअंसेण मुदा विमलविमाणादिबलभद्रे ॥ ५२२ ॥

अवरांशमृताः सौधर्मैशानादिमर्तौ श्रेण्याम् ।

मध्यमांशेन मृताः विमलविमानादिबलभद्रे ॥ ५२२ ॥

अर्थ—पीतलेइयाके जघन्य अंशोंके साथ मरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्गके क्रतु (जु) नामक इन्द्रक विमानमें अथवा श्रेणीबद्ध विमानमें उत्पन्न होता है । पीत लेइयाके मध्यम अंशोंके साथ मरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्गके दूसरे पटलके विमल नामक इन्द्रक विमानसे लेकर सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके द्विचरम पटलके (अन्तिम पटलसे पूर्वका पटल) बलभद्रनामक इन्द्रक विमानपर्यन्त उत्पन्न होता है ।

किण्हवरंसेण मुदा अवधिट्ठाणम्मि अवरअंसमुदा ।

पंचमचरिमितिमिस्से मज्झे मज्झेण जायंते ॥ ५२३ ॥

कृष्णवरांशेन मृता अवधिस्थाने अवरांशमृताः ।

पञ्चमचरमितिमिश्रे मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२३ ॥

अर्थ—कृष्णलेइयाके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव सातमी पृथ्वीके अवधिस्थान नामक इन्द्रक बिलमें उत्पन्न होते हैं । जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव पांचमी पृथ्वीके अन्तिम पटलके तिमिश्रनामक इन्द्रक बिलमें उत्पन्न होते हैं । कृष्णलेइयाके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए जीव दोनोंके (सातमी पृथ्वीका अवधिस्थान नामक इन्द्रकबिल और पांचमी पृथ्वीके अन्तिम पटलसम्बन्धी तिमिश्र बिल) मध्यस्थानमें यथासम्भव उत्पन्न होते हैं ।

नीलकृत्संसमुदा पंचम अंधिंदयम्मि अवरमुदा ।

वालुकसंपज्जलिदे मज्झे मज्झेण जायंते ॥ ५२४ ॥

नीलोत्कृष्टांशमृताः पञ्चमान्ध्रेन्द्रके अवरमृताः ।

वालुकासंप्रज्वलिते मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२४ ॥

अर्थ—नीललेइयाके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव पांचमी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी अन्ध्रनामक इन्द्रकविलमें उत्पन्न होते हैं । कोई २ पांचमे पटलमें भी उत्पन्न होते हैं । इतना विशेष और भी है कि कृष्णलेइयाके जघन्य अंशवाले भी जीव मरकर पांचमी पृथ्वीके अन्तिम पटलमें उत्पन्न होते हैं ; नीललेइयाके जघन्य अंशवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वीके अन्तिम पटलसम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकविलमें उत्पन्न होते हैं । नीललेइयाके मध्यम अंशोंवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वीके संप्रज्वलित नामक इन्द्रकविलके आगे और पांचमी पृथ्वीके अन्ध्रनामक इन्द्रकविलके पहले पहले जितने पटल और इन्द्रक हैं उनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं ।

वरकाओदंसमुदा संजलिदं जांति तदियणिरयस्स ।

सीमंतं अवरमुदा मज्झे मज्झेण जायंते ॥ ५२५ ॥

वरकापोतांशमृताः संज्वलितं यान्ति तृतीयनिरयस्य ।

सीमन्तमवरमृता मध्ये मध्येन जायन्ते ॥ ५२५ ॥

अर्थ—कापोतलेइयाके उत्कृष्ट अंशोंके साथ मरे हुए जीव तीसरी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकविलमें उत्पन्न होते हैं । कोई २ अन्तिम पटलसम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकविलमें भी उत्पन्न होते हैं । कापोतलेइयाके जघन्य अंशोंके साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वीके सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रकविलमें उत्पन्न होते हैं । और मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वीके सीमन्त नामक प्रथम इन्द्रकविलसे आगे और तीसरी पृथ्वीके द्विचरम पटलसम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकविलके पहले तीसरी पृथ्वीके सात पटल, दूसरी पृथ्वीके ग्यारह पटल और प्रथम पृथ्वीके बारह पटलोंमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं ।

किण्हचउक्काणं पुण मज्झंसमुदा हु भवणगादितिये ।

पुढवीआउवणप्फादिजीवेसु हवंति खलु जीवा ॥ ५२६ ॥

कृष्णचतुष्काणां पुनः मध्यांशमृता हि भवनकादित्रये ।

पृथिव्यत्वनस्पतिजीवेषु भवन्ति खलु जीवाः ॥ ५२६ ॥

अर्थ—कृष्ण नील कपोत इन तीन लेइयाओंके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए कर्म-भूमियां मिथ्यादृष्टि तिर्थच वा मनुष्य, और पातलेइयाके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए

भोगभूमियां मिथ्यादृष्टिं तिर्यच वा मनुष्यः, भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी देवोंमें उत्पन्न होते हैं । तथा कृष्ण नील कापोत पीत लेइयाके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए तिर्यच वा मनुष्य भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी वा सौधर्म ईशान स्वर्गके मिथ्यादृष्टि देव, बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जलकायिक वनस्पतिकायिक जीवोंमें उत्पन्न होते हैं ।

किण्हतियाणं मज्झिमअंसमुदा तेउवाउवियलेसु ।

सुरणिरया सगलेस्सहिं णरतिरियं जांति सगजोगं ॥ ५२७ ॥

कृष्णत्रयाणां मध्यमांशमृतास्तेजोवायुविकलेषु ।

सुरनिरयाः स्वकलेइयाभिः नरतिर्यञ्चं यान्ति स्वकयोग्यम् ॥ ५२७ ॥

अर्थ—कृष्ण नील कापोत इन तीन लेइयाओंके मध्यम अंशोंके साथ मरे हुए तिर्यच या मनुष्य, तेजकायिक वातकायिक विकलत्रय असंज्ञी पंचेन्द्रिय साधारण—वनस्पति इनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं । और भवनत्रय आदि सर्वार्थसिद्धिपर्यन्तके देव तथा सातो पृथ्वीसम्बन्धी नारकी अपनी २ लेइयाके अनुसार मनुष्यगति या तिर्यचगतिको प्राप्त होते हैं । **भावार्थ—**जिस गतिसम्बन्धी आयुका बन्ध हुआ हो उस ही गतिमें मरण समयपर होनेवाली लेइयाके अनुसार उत्पन्न होता है । जैसे मनुष्यअवस्थामें किसीने देवायुका बन्ध किया और मरणसमयपर उसके कृष्ण आदि अशुभ लेइया हुई तो वह मरण करके भवनत्रिकमें उत्पन्न होगा—उत्कृष्ट देवोंमें नहीं होगा । यदि शुभ लेइया हुई तो यथायोग्य कल्पवासियोंमें भी उत्पन्न होगा ।

क्रमप्राप्त स्वामी अधिकारका वर्णन करते हैं ।

काऊ काऊ काऊ णीला णीला य णीलकिण्हा य ।

किण्हा य परमकिण्हा लेस्सा पढमादिपुढवीणं ॥ ५२८ ॥

कापोता कापोता कापोता नीला नीला च नीलकृष्णे च ।

कृष्णा च परमकृष्णा लेइया प्रथमादिपृथिवीनाम् ॥ ५२८ ॥

अर्थ—प्रथम पृथ्वीमें कपोतलेइयाका जघन्य अंश है । दूसरी पृथ्वीमें कपोतलेइयाका मध्यम अंश है । तीसरी पृथ्वीमें कपोतलेइयाका उत्कृष्ट अंश और नीललेइयाका जघन्य अंश है । चौथी पृथ्वीमें नीललेइयाका मध्यम अंश है । पांचमी पृथ्वीमें नीललेइयाका उत्कृष्ट अंश और कृष्णलेइयाका जघन्य अंश है । छठी पृथ्वीमें कृष्णलेइयाका मध्यम अंश है । सातमी पृथ्वीमें कृष्णलेइयाका उत्कृष्ट अंश है । **भावार्थ—**स्वामी अधिकारमें भावलेइयाकी अपेक्षा ही कथन है, इस लिये उपर्युक्त प्रकारसे नरकोंमें भी भावलेइया ही समझना ।

णरतिरियाणं ओघो इगिविगले तिण्णि चउ असणिस्स ।

सण्णिअपुण्णगमिच्छे सासणसम्मेवि असुहतिं ॥ ५२९ ॥

नरातिरश्चामोष एकविकले तिस्रः चतस्रः असंज्ञिनः ।

संश्रयपूर्णकमिथ्यात्वे सासनसम्यक्त्वेपि अशुभत्रिकम् ॥ ५१९ ॥

अर्थ—मनुष्य और तिर्यचोंके सामान्यमें छहों लेश्या होती हैं। एकेन्द्रिय और विकलत्रय (द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय) जीवोंके कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं। असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त जीवोंके कृष्ण आदि चार लेश्या होती हैं; क्योंकि असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय कपोतलेश्यावाला जीव मरणकर पहले नरकको जाता है। तथा तेजोले-
श्यामहित मरनेमें भवनवासी और व्यन्तर देवोंमें उत्पन्न होता है। कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यासहित मरनेमें यथायोग्य मनुष्य या तिर्यचोंमें उत्पन्न होता है। संज्ञी लब्ध-
पर्याप्तक तथा अपि शब्दसे असंज्ञी लब्धपर्याप्तक और सासादन गुणस्थानवर्ती निर्वृत्यप-
र्याप्त तथा भवनत्रिक जीवोंमें कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं। उपशम सम्य-
क्त्वकी विराधना करके सासादन गुणस्थानवाले जीवके अपर्याप्त अवस्थामें तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं।

भोगा पुण्णगसम्मे काउस्स जहणियं हवे णियमा ।

सम्मे वा मिच्छे वा पज्जत्ते तिण्णि सुहलेस्सा ॥ ५२० ॥

भोगापूर्णकसम्यक्त्वे कापोतस्य जघन्यकं भवेत् नियमात् ।

सम्यक्त्वे वा मिथ्यात्वे वा पर्याप्ते तिस्रः शुभलेश्याः ॥ ५२० ॥

अर्थ—भोगभूमियां निर्वृत्यपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि जीवोंमें कापोतलेश्याका जघन्य अंश होता है। तथा भोगभूमिया सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीवोंके पर्याप्त अवस्थामें पीत आदि तीन शुभ लेश्या ही होती हैं। **भावार्थ**—पहले मनुष्य या तिर्यच आयुका बंध करके पीछे क्षायिक या वेदक सम्यक्त्वको स्वीकार करके यदि कोई कर्मभूमि मनुष्य या तिर्यच सम्यक्त्वसहित मरण करे तो वह भोगभूमिमें उत्पन्न होता है, वहां पर उसके कापोत लेश्याके जघन्य अंशरूप संलेश परिणाम होते हैं। परन्तु पर्याप्त अवस्थामें सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टिके शुभ लेश्या ही होती है।

अयदोत्ति छ लेस्साओ सुहतियलेस्सा हु दंसविरदतिये ।

तत्तो सुक्का लेस्सा अजोगिठाण अलेस्सं तु ॥ ५२१ ॥

असंयत इति षड् लेश्याः शुभत्रयलेश्या हि देशविरतत्रये ।

ततः शुक्ला लेश्या अयोगिस्थानमलेश्यं तु ॥ ५२१ ॥

अर्थ—चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त छहों लेश्या होती हैं। तथा देशविरत प्रमत्तविरत अप्रमत्त विरत इन तीन गुणस्थानोंमें तीन शुभलेश्या ही होती हैं। किन्तु इसके आगे

अपूर्वकरणसे लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त एक शुक्लेश्या ही होती है । और अयोगकेवली गुणस्थान लेश्यारहित है ।

णट्टकसाये लेस्सा उच्चदि सा भूदपुड्वगदिणाया ।

अहवा जोगपउत्ती मुखोत्ति तहिं हवे लेस्सा ॥ ५३२ ॥

नट्टकपाये लेश्या उच्यते सा भूतपूर्वगतिन्यायात् ।

अथवा योगप्रवृत्तिः मुख्येति तत्र भवेलेश्या ॥ ५३२ ॥

अर्थ—अकपाय जीवोंके जो लेश्या बताई है वह भूतपूर्वप्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे बताई है । अथवा, योगकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते हैं; इस अपेक्षासे वहां पर मुख्यरूपसे भी लेश्या है; क्योंकि वहां पर योगका सद्भाव है ।

तिण्हं दोण्हं दोण्हं छण्हं दोण्हं च तेरसण्हं च ।

एत्तो य चोद्दसण्हं लेस्सा भवणादिदेवाणं ॥ ५३३ ॥

तेऊ तेऊ तेऊ पम्मा पम्मा य पम्मसुक्का य ।

सुक्का य परमसुक्का भवणतिया पुण्णगे असुहा ॥ ५३४ ॥

त्रयाणां द्वयोर्द्वयोः पण्णां द्वयोश्च त्रयोदशानां च ।

एतस्माच्च चतुर्दशानां लेश्या भवनादिदेवानाम् ॥ ५३३ ॥

तेजस्तेजस्तेजः पद्मा पद्मा च पद्मशुक्ले च ।

शुक्ला च परमशुक्ला भवनत्रिका अपूर्णके अशुभाः ॥ ५३४ ॥

अर्थ—भवनवासी व्यन्तर ज्योतिषी इन तीन देवोंके पीतलेश्याका जघन्य अंश है । सौधर्म ईशान स्वर्गवाले देवोंके पीतलेश्याका मध्यम अंश है । सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गवालोंके पीतलेश्याका उत्कृष्ट अंश और पद्मलेश्याका जघन्य अंश है । ब्रह्म ब्रह्मोत्तर लांतव कापिष्ठ शुक्र महाशुक्र इन छह स्वर्गवालोंके पद्मलेश्याका मध्यम अंश है । शतार सहस्रार स्वर्गवालोंके पद्मलेश्याका उत्कृष्ट अंश और शुक्लेश्याका जघन्य अंश है । आनत प्राणत आरण अच्युत तथा नव त्रैवेयक इन तेरह स्वर्गवाले देवोंके शुक्लेश्याका मध्यम अंश है । इसके ऊपर नव अनुदिश तथा पांच अनुत्तर इन चौदह विमानवाले देवोंके शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अंश होता है । भवनवामी आदि तीन देवोंके अपर्याप्त अवस्थामें कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या ही होती हैं । **भावार्थ—**जब भवनत्रिक देवोंके अपर्याप्त अवस्थामें अशुभ तीन लेश्या और पर्याप्त अवस्थामें पीत लेश्याका जघन्य अंश बताया इससे मालूम होता है कि शेष वैमानिक देवोंके पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्थामें लेश्या समान ही होती है ।

इस प्रकार स्वामी अधिकारका वर्णन करके साधन अधिकारका वर्णन करते हैं ।

वण्णोदयसंपादितसरीरवण्णो दु द्दव्वदो लेस्सा ।

मोहोदयखओवसमोवसमखयजजीवफंदणं भावो ॥ ५३५ ॥

वणोदयसंपादितशरीरवर्णस्तु द्रव्यतो लेक्ष्या ।

मोहोदयक्षयोपशमोपशमक्षयजजीवस्पन्दो भावः ॥ ५३५ ॥

अर्थ—वर्णनामकर्मके उदयसे जो शरीरका वर्ण (रंग) होता है उसको द्रव्यलेक्ष्या कहते हैं । मोहनीय कर्मके उदय या क्षयोपशम या उपशम या क्षयसे जो जीवके प्रदेशांकी चंचलता होती है उसको भावलेक्ष्या कहते हैं । **भावार्थ**—द्रव्यलेक्ष्याका साधन वर्णनामकर्मका उदय है । भावलेक्ष्याका साधन अमंयतपर्यन्त चार गुणस्थानोंमें मोहनीय कर्मका उदय, और देशविरत आदि तीन गुणस्थानोंमें मोहनीय कर्मका क्षयोपशम, उपशमश्रेणिमें मोहनीय कर्मका उपशम, तथा क्षपकश्रेणिमें मोहनीय कर्मका क्षय होता है ।

क्रमप्राप्त संख्या अधिकारका वर्णन करते हैं ।

किण्हादिरासिमावलिअसंखभागेण भजिय पविमत्ते ।

हीणकमा कालं वा अस्सिय द्दव्वा दु भजिद्व्वा ॥ ५३६ ॥

कृष्णादिराशिमावलयसंख्यभागेन भक्त्वा प्रविभक्ते ।

हीनक्रमाः कालं वा आश्रित्य द्रव्याणि तु भक्तव्यानि ॥ ५३६ ॥

अर्थ—संसारी जीवराशिमेंसे तीन शुभ लेक्ष्यावाले जीवोंका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहै उतना कृष्ण आदि तीन अशुभ लेक्ष्यावाले जीवोंका प्रमाण है । यह प्रमाण संसारी जीवराशिसे कुछ कम होता है । इस राशिमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देकर एक भागको अलग रखकर शेष बहुभागके तीन समान भाग करना । तथा शेष—अलग रखे हुए एक भागमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देकर बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे एक भागमें मिलानेसे कृष्णलेक्ष्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है । और शेष एक भागमें फिर आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे दूसरे भागमें मिलानेसे नीललेक्ष्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है । और अवशिष्ट एक भागको तीसरे भागमें मिलानेसे कापोतलेक्ष्यावाले जीवोंका प्रमाण होता है । इस प्रकार अशुभ लेक्ष्यावालोंका द्रव्यकी अपेक्षासे प्रमाण कहा । यह प्रमाण उत्तरोत्तर कुछ २ घटता २ है । अब कालकी अपेक्षासे प्रमाण बताते हैं । कृष्ण नील कापोत तीन लेक्ष्याओंका काल मिलानेसे जो अन्तर्मुहूर्तमात्र काल होता है, उसमें आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देना । इसमें एक भागको जुदा रखना और बहुभागके तीन समान भाग करना । तथा अवशिष्ट एक भागमें आवलीके असंख्यातमे भागका फिर भाग देना । लब्ध एक भागको

अलग रखकर बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे एक भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह कृष्णलेश्याका काल है । लब्ध एक भागमें फिर आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध बहुभागको तीन समान भागोंमेंसे दूसरे भागमें मिलानेमे जो प्रमाण हो वह नीललेश्याका काल है । अवशिष्ट एक भागको अवशिष्ट तीसरे समान भागमें मिलानेसे जो प्रमाण हो वह कापोतलेश्याका काल है । इस प्रकार तीन अशुभ लेश्याओंके कालका प्रमाण भी उत्तरोत्तर अल्प २ समझना चाहिये ।

खेत्तादो असुहतिया अणंतलोगा कमेण परिहीणा ।

कालादोतीदादो अणंतगुणिदा कमा हीणा ॥ ५३७ ॥

क्षेत्रतः अशुभत्रिका अनन्तलोकाः क्रमेण परिहीनाः ।

कालदतीतादनन्तगुणिताः क्रमाद्धीनाः ॥ ५३७ ॥

अर्थ—क्षेत्रप्रमाणकी अपेक्षा तीन अशुभलेश्यावाले जीव लोकाकाशके प्रदेशोंसे अनन्तगुणे हैं; परन्तु उत्तरोत्तर क्रमसे हीन २ हैं । कृष्ण लेश्यावालोंसे कुछ कम नील लेश्यावाले जीव हैं और नीललेश्यावालोंसे कुछ कम कापोत लेश्यावाले जीव हैं । तथा कालकी अपेक्षा अशुभ लेश्यावालोंका प्रमाण, भूतकालके जितने समय हैं उससे अनन्तगुणा है । यह प्रमाण भी उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये ।

केवलणाणाणंतिमभागा भावादु किण्हतियजीवा ।

तेउतिया संखेज्जा संखासंखेज्जभागकमा ॥ ५३८ ॥

केवलज्ञानानन्तिमभागा भावात्तु कृष्णत्रिकजीवाः ।

तेजस्विका असंख्येयाः संख्यासंख्येयभागकमाः ॥ ५३८ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा तीन अशुभ लेश्यावाले जीव, केवलज्ञानके जितने अविभाग-प्रतिच्छेद हैं उसके अनन्तमे भागप्रमाण हैं । यहां पर भी पूर्ववत् उत्तरोत्तर हीनक्रम समझना चाहिये । पीत आदि तीन शुभ लेश्यावालोंका प्रमाण सामान्यसे असंख्यात है । तथापि पीत-लेश्यावालोंसे संख्यातमे भाग पद्मलेश्यावाले हैं । और पद्मलेश्यावालोंसे असंख्यातमे भाग शुक्ल-लेश्यावाले जीव हैं ।

क्षेत्रप्रमाणकी अपेक्षा तीन शुभ लेश्यावालोंका प्रमाण बतते हैं ।

जोइसियादो अहिया तिरिक्खसण्णिस्स संखभागे दु ।

सुइस्स अंगुलस्स य असंखभागं तु तेउतियं ॥ ५३९ ॥

ज्योतिष्कतः अधिकाः तिर्यक्संज्ञिनः संख्यभागस्तु ।

सूचेरङ्गुलस्य च असंख्यभागं तु तेजस्त्रयम् ॥ ५३९ ॥

अर्थ—ज्योतिषी देवोंके प्रमाणसे कुछ अधिक तेजोलेश्यावाले जीव हैं । और तेजो-
गो. ३५

लेख्यावाले संज्ञी तिर्यच जीवोंके प्रमाणसे संख्यातगुणे कम पद्मलेख्यावाले जीव हैं । और सूच्य-
ङ्गुलके असंख्यातमे भाग शुक्ललेख्यावाले जीव हैं । **भावार्थ**—पैंसठ हजार पांचसौ छत्तीस
प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरको देनेसे जो प्रमाण शेष रहे उतने ज्योतिषी देव हैं । और पांच
वार संख्यातसे गुणित पण्णट्ठी प्रमाण प्रतराङ्गुलका भाग जगत्प्रतरको देनेसे जो प्रमाण रहे
उतने तिर्यच, और संख्यात मनुष्य, इन दोनों राशियोंके जोड़नेसे जो प्रमाण हो उतने तेजो-
लेख्यावाले जीव हैं । तथा तेजोलेख्यावालोंसे संख्यातगुणे कम पद्मलेख्यावाले और सूच्यङ्गुलके
असंख्यातमे भाग शुक्ललेख्यावाले जीव हैं ।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं ।

वेसदछप्पणंगुलकदिहिदपदरं तु जोइसियमाणं ।

तस्स य संखेज्जदिमं तिरिक्खसण्णीण परिमाणं ॥ ५४० ॥

द्विशतपद्मपञ्चाशदङ्गुलकतिहितप्रतरं तु ज्योतिष्कमानम् ।

तस्य च संख्येयतमं तिर्यक्संज्ञिनां परिमाणम् ॥ ५४० ॥

अर्थ—दो सौ छप्पन अंगुलके वर्गप्रमाण (पण्णट्ठीप्रमाण=६५६३६) प्रतराङ्गु-
लका भाग जगत्प्रतरमें देनेसे जो प्रमाण हो उतने ज्योतिषी देव हैं । और इसके संख्यातमे
भागप्रमाण संज्ञी तिर्यच जीव हैं ।

तेउदु असंखकप्पा पल्लासंखेज्जभागया सुक्का ।

ओहिअसंखेज्जदिमा तेउतिया भावदो होंति ॥ ५४१ ॥

तेजोद्वया असंख्यकल्पाः पल्यासंख्येयभागकाः शुक्लाः ।

अवध्यसंख्येयाः तेजस्त्रिका भावतो भवन्ति ॥ ५४१ ॥

अर्थ—असंख्यात कल्पकालके जितने समय हैं उतने ही सामान्यसे तेजोलेख्यावाले
और उतने ही पद्मलेख्यावाले जीव हैं । तथापि तेजोलेख्यावालोंसे पद्मलेख्यावाले संख्या-
तमे भाग हैं । पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण शुक्ललेख्यावाले जीव हैं । इस प्रकार कालकी
अपेक्षासे तीन शुभलेख्याओंका प्रमाण समझना चाहिये । तथा अवधिज्ञानके जितने
विकल्प हैं उसके असंख्यातमे भाग सामान्यसे प्रत्येक शुभलेख्यावाले जीव हैं । तथापि
तेजोलेख्यावालोंसे संख्यातमे भाग पद्मलेख्यावाले और पद्मलेख्यावालोंसे शुक्ललेख्यावाले असं-
ख्यातमे भाग मात्र हैं ।

क्षेत्राधिकारके द्वारा लेख्याओंका वर्णन करते हैं ।

सट्ठाणसमुग्घादे उववादे सव्वलोयमसुहाणं ।

लोयस्सासंखेज्जदिभागं खेतं तु तेउतिये ॥ ५४२ ॥

स्वस्थानसमुद्घाते उपपादे सर्वलोकमशुभानाम् ।

लोकस्यासंख्येयभागं क्षेत्रं तु तेजस्त्रिके ॥ १४२ ॥

अर्थ—तीन अशुभलेश्याओंका सामान्यसे स्वस्थान तथा समुद्घात और उपपादकी अपेक्षा सर्वलोकप्रमाण क्षेत्र है । और तीन शुभ लेश्याओंका क्षेत्र लोकप्रमाणके असंख्यातमे भागमात्र है । **भावार्थ**—यह सामान्यसे कथन किया है; किन्तु लेश्याओंके क्षेत्रका विशेष वर्णन, स्वस्थानस्वस्थान विहारवत्स्वस्थान सात प्रकारका समुद्घात और एक प्रकारका उपपाद इस तरह दश कारणोंकी अपेक्षासे किया है । सो विशेषजिज्ञासुओंको वह बड़ी टीकामें देवना चाहिये ।

उपपादक्षेत्रके निकालनेके लिये सूत्र कहते हैं ।

मरदि असंखेज्जदिमं तस्सासंखा य विग्गहे होंति ।

तस्सासंखं दूरे उववादे तस्स खु असंखं ॥ १४३ ॥

म्रियते असंख्येयं तस्यासंख्याश्च विग्रहे भवन्ति ।

तस्यासंख्यं दूरे उपपादे तस्य खलु असंख्यम् ॥ १४३ ॥

अर्थ—घनाङ्गुलके तृतीय वर्गमूलका जगच्छ्रेणीसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतने सौधर्म और ईशान स्मर्गके जीवोंका प्रमाण है । इसमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे एक भागप्रमाण प्रतिसमय मरनेवाले जीव हैं । मरनेवाले जीवोंके प्रमाणमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो बहुभागका प्रमाण हो उतने विग्रहगति करनेवाले जीव हैं । विग्रहगतिवाले जीवोंके प्रमाणमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो बहुभागका प्रमाण हो उतने मारणान्तिक समुद्घातवाले जीव हैं । इसमें भी पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध एक भाग प्रमाण दूर मारणान्तिक समुद्घातवाले जीव हैं । इसमें भी पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे लब्ध एक भागप्रमाण उपपाद जीव हैं । यहां पर तिर्यचोंकी उत्पत्तिकी अपेक्षासे एक जीवसम्बन्धी प्रदेश फैलनेकी अपेक्षा डेढ़ राजू लम्बा संख्यात सूच्यगुलप्रमाण चौड़ा वा ऊंचा क्षेत्र है, इसके घन—क्षेत्रफलको उपपाद जीवोंके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना ही उपपाद क्षेत्रका प्रमाण है । **भावार्थ**—जिस स्थानवाले जीवोंका क्षेत्र निकालना हो उस स्थानवाले जीवोंकी संख्याका अपनी २ एक जीवसम्बन्धी अवगाहनाप्रमाणसे अथवा जहां तक एक जीव गमन कर सकता है उस क्षेत्रप्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो सामान्यसे उतना ही उनका क्षेत्र कहा जाता है । यहांपर पातलेश्यासम्बन्धी क्षेत्र का प्रमाण बताया है । पद्म लेश्यामें तथा शुभल लेश्यामें भी क्षेत्रका प्रमाण इस ही प्रकारसे होता है कुछ विशेषता है सो बड़ी टीकासे देवना ।

सुक्कस्स समुग्घादे असंखलोगा य सव्वलोगो य ।

शुक्लयाः समुद्घाते असंख्यलोकाश्च सर्वलोकश्च ।

अर्थ—इस सूत्रके पूर्वार्धमें शुक्ललेश्याका क्षेत्र लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहुभाग प्रमाण वा सर्व लोक बताया है सो केवल समुद्घातकी अपेक्षासे है ।

भावार्थ—शुक्ल लेश्याका क्षेत्र दूसरे स्थानोंमें उक्त रीतिसे ही समझना ।

कमप्राप्त स्पर्शाधिकारका वर्णन करते हैं ।

पासं सव्वं लोयं तिट्ठाणे असुहलेस्साणं ॥ ५४४ ॥

स्पर्शः सर्वो लोकस्त्रिस्थाने अशुभलेश्यानाम् ॥ ५४४ ॥

अर्थ—कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्यावाले जीवोंका स्पर्श स्वस्थान, समुद्घात, उपपाद, इन तीन स्थानोंमें सामान्यसे सर्व लोक है । **भावार्थ—**वर्तमानमें जितने प्रदेशोंमें जीव रहे उतनेको क्षेत्र कहते हैं । और भूत तथा वर्तमान कालमें जितने प्रदेशोंमें जीव रहे उतनेको स्पर्श कहते हैं । सो तीन अशुभलेश्यावाले जीवोंका स्पर्श उक्त तीन स्थानोंमें सामान्यसे सर्वलोक है । विशेषकी अपेक्षासे कृष्णलेश्यावालोंका दश स्थानोंमेंसे स्वस्थानस्वस्थान, वेदना कषाय मारणान्तिक समुद्घात, तथा उपपादस्थानमें सर्वलोकप्रमाण स्पर्श है । संख्यात सूच्यंगुलको जगत्प्रतरसे गुणा करने पर जो प्रमाण उत्पन्न हो उतना विहारवत्स्वस्थानमें स्पर्श है । तथा वैक्रियिक समुद्घातमें लोकके संख्यातमे भागप्रमाण स्पर्श है । और इस लेश्यामें तैजस आहारक केवल समुद्घात नहीं होता । कृष्णलेश्याके समान ही नील तथा कापोतलेश्याका भी स्पर्श समझना ।

तेजोलेश्यामें स्पर्शका वर्णन करते हैं ।

तेउस्स य सट्ठाणे लोगस्स असंखभागमेत्तं तु ।

अडचोद्दसमागा वा देसूणा होंति णियमेण ॥ ५४५ ॥

तेजसश्च स्वस्थाने लोकस्य असंख्यभागमात्रं तु ।

अष्ट चतुर्दशभागा वा देशोना भवन्ति नियमेन ॥ ५४५ ॥

अर्थ—पीतलेश्याका स्वस्थानस्वस्थानकी अपेक्षा लोकके असंख्यातमे भागप्रमाण स्पर्श है । और विहारवत्स्वस्थानकी अपेक्षा त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है ।

एवं तु समुग्घादे णव चोद्दसभागयं च किंचूणं ।

उववादे पढमपदं दिवहुचोद्दस य किंचूणं ॥ ५४६ ॥

एवं तु समुद्घाते नव चतुर्दशभागश्च किञ्चिदूनः ।

उपपादे प्रथमपदं न्यर्धचतुर्दश च किञ्चिदूनम् ॥ ५४६ ॥

२७र्थ—विहारवत्स्वस्थानकी तरह समुद्रघातमें भी त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है । तथा मारणान्तिक समुद्रघातकी अपेक्षा चौदह भागोंमेंसे कुछ कम नव भागप्रमाण स्पर्श है । और उपपाद स्थानमें चौदह भागमेंसे कुछ कम डेढ़ भागप्रमाण स्पर्श है । इस प्रकार यह पीत लेइयाका स्पर्श सामान्यसे तीन स्थानोंमें बताया है ।

डेढ़ २ गाथामें पद्म तथा शुक्ललेइयाका स्पर्श बताते हैं ।

पद्मस्स य सट्ठाणसमुग्घाददुग्गेसु होवि पढमपदं ।

अड चोदस भागा वा देसूणा होंति णियमेण ॥ ५४७ ॥

पद्मयाश्च स्वस्थानसमुद्धातद्विक्रयोः भवति प्रथमपदम् ।

अष्ट चतुर्दश भागा वा देशोना भवन्ति नियमेन ॥ ५४७ ॥

अर्थ—पद्मलेइयाका विहारवत्स्वस्थान, वेदाना कषाय वैक्रियिक तथा मारणान्तिक समुद्रघातमें चौदह भागोंमेंसे कुछ कम आठ भागप्रमाण स्पर्श है । तैजस तथा आहार समुद्रघातमें संख्यात घनाङ्गुल प्रमाण स्पर्श है । यहां पर च शब्दका ग्रहण किया है इसलिये स्वस्थानस्वस्थानमें लोकके असंख्यातभागोंमेंसे एक भाग प्रमाण स्पर्श है ।

उववादे पढमपदं पणचोदसभागयं च देसुणं ।

सुकस्स य तिट्ठाणे पढमो छच्चोदसा हीणा ॥ ५४८ ॥

उपपादे प्रथमपदं पञ्चचतुर्दशभागकश्च देशोनः ।

शुक्लायाश्च त्रिस्थाने प्रथमः षट्चतुर्दश हीनाः ॥ ५४८ ॥

अर्थ—पद्मलेइया शतार सहस्रार स्वर्गपर्यन्त सम्भव है । इसलिये उपपादकी अपेक्षासे पद्मलेइयाका स्पर्श त्रसनालीके चौदह भागोंमेंसे कुछ कम पांच भागप्रमाण है । शुक्ललेइयावाले जीवोंका स्वस्थानस्वस्थानमें तेजोलेइयाकी तरह लोकके असंख्यातमे भागप्रमाण स्पर्श है । और विहारवत्स्वस्थान, तथा वेदाना कषाय वैक्रियिक मारणान्तिक समुद्रघात और उपपाद, इन तीन स्थानोंमें चौदह भागोंमेंसे कुछ कम छह भाग प्रमाण स्पर्श है । तैजस आहारक समुद्रघातमें संख्यातघनाङ्गुल स्पर्श है ।

णवरि समुग्घादम्मि य संखातीदा हवन्ति भागा वा ।

सव्वो वा खलु लोगो फासो होदित्ति णिदिट्ठो ॥ ५४९ ॥

नवरि समुद्रघाते च संख्यातीता भवन्ति भागा वा ।

सर्वो वा खलु लोकः स्पर्शो भवतीति निर्दिष्टः ॥ ५४९ ॥

अर्थ—केवल—समुद्रघातमें विशेषता है, वह इस प्रकार है कि दण्ड समुद्रघातमें स्पर्श क्षेत्रकी तरह संख्यात प्रतराङ्गुलसे गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है । और स्थित वा उपविष्ट कपाद समुद्रघातमें संख्यातसूच्यङ्गुलमात्र जगत्प्रतर प्रमाण है । प्रतर समुद्रघातमें लोकके

असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहु भागप्रमाण स्पर्श है । लोकपूर्ण समुद्रघातमें सर्वलोकप्रमाण स्पर्श है । **भावार्थ**—केवलसमुद्रघातके चार भेद हैं । दण्ड कपाट प्रतर लोकपूर्ण । दण्ड समुद्रघातके भी दो भेद हैं, एक स्थित दूसरा उपविष्ट । और स्थित तथा उपविष्टके भी आरोहक अवरोहककी अपेक्षा दो २ भेद हैं । कपाट समुद्रघात के चार भेद हैं पूर्वाभिमुख स्थित उत्तराभिमुख स्थित पूर्वाभिमुख-उपविष्ट उत्तराभिमुख-उपविष्ट । इन चारमेंसे प्रत्येकके आरोहक अवरोहककी अपेक्षा दो २ भेद हैं । तथा प्रतर लोकपूर्णका एक २ ही भेद है ।

यहां पर जो दण्ड और कपाट समुद्रघातका स्पर्श बताया है वह आरोहक और अवरोहककी अपेक्षा दो भेदोंमेंसे एक ही भेद का है, क्योंकि एक जीव समुद्रघात अवस्थामें जितने क्षेत्रका आरोहण अवस्थामें स्पर्श करता है उतने ही क्षेत्रका अवरोहण अवस्थामें भी स्पर्श करता है । इस लिये यदि आरोहण अवरोहण दोनों अवस्थाओंका सामान्य स्पर्श जानना हो तो दण्ड और कपाट दोनों ही का उक्त प्रमाणसे दूना २ स्पर्श समझना चाहिये । प्रतर समुद्रघातमें लोकके असंख्यातमे भागप्रमाण वातवलयका स्थान छूट जाता है इसलिये यहां पर लोकके असंख्यात भागोंमेंसे एक भागको छोड़कर शेष बहुभागप्रमाण स्पर्श है ।

॥ इति स्पर्शाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त कालाधिकारका वर्णन करते हैं ।

कालो छलेस्साणं गाणाजीवं पडुच्च सव्वद्ध ।

अंतोमुहुत्तमवरं एवं जीवं पडुच्च हवे ॥ ५५० ॥

कालः षड्लेश्यानां नानाजीवं प्रतीत्य सर्वाद्धा ।

अन्तर्मुहूर्तोऽवर एकं जीवं प्रतीत्य भवेत् ॥ ५५० ॥

अर्थ—नाना जीवोंकी अपेक्षा कृष्ण आदि छहों लेश्याओंका सर्व काल है । तथा एक जीव अपेक्षा सम्पूर्ण लेश्याओंका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्तमात्र है ।

अवहीणं तेत्तीसं सत्तर सत्तेव होंति दो चेव ।

अट्ठारस तेत्तीसा उक्कस्सा होंति अदिरेया ॥ ५५१ ॥

उदधीनां त्रयस्त्रिंशत् सप्तदश सत्तेव भवन्ति द्वौ चैव ।

अष्टादश त्रयस्त्रिंशत् उत्कृष्टा भवन्ति अतिरेकाः ॥ ५५१ ॥

अर्थ—उत्कृष्ट काल कृष्णलेश्याका तेतीस सागर, नीललेश्याका सत्रह सागर, कापोत-लेश्याका सातसागर, पीतलेश्याका दो सागर, पद्म लेश्याका अठारह सागर, शुक्ल लेश्याका तेतीस सागर से कुछ अधिक है । **भावार्थ**—यह अधिकका सम्बन्ध छहों लेश्याओंके उत्कृष्ट कालके साथ ९ करना चाहिये; क्योंकि यह उत्कृष्ट कालका वर्णन देव और नार-

कियोंकी अपेक्षासे है । सो जिस पर्यायको छोड़कर देव या नारकी उत्पन्न हो उस पर्यायके अन्तके अन्तर्मुहूर्तमें तथा देव नारक पर्यायको छोड़कर जिस पर्यायमें उत्पन्न हो उस पर्यायके आदिके अन्तर्मुहूर्तमें वही लेश्या होती है । इस ही लिये छहों लेश्याओंके उक्त उत्कृष्ट कालप्रमाणमें दो २ अन्तर्मुहूर्तका काल अधिक २ समझना । तथा पीत और पद्मलेश्याके कालमें कुछ कम आधा सागर भी अधिक होता है । जैसे सौधर्म और इशान स्वर्गमें दो सागरकी आयु है । परन्तु यदि कोई घातायुष्क सम्यग्दृष्टि सौधर्म या ईशान स्वर्गमें उत्पन्न हो तो उसकी अन्तर्मुहूर्त कम दाई सागरकी भी आयु हो सकती है । इस ही तरह घातायुष्क मिथ्यादृष्टिकी पल्यके असंख्यातमें भागप्रमाण आयु अधिक हो सकती है । परन्तु यह अधिकपना सौधर्म स्वर्गसे लेकर सहस्रार स्वर्ग पर्यन्त ही है । क्योंकि आगे घातायुष्क जीव उत्पन्न नहीं होता ।

॥ इति कालाधिकारः ॥

दो गाथाओंमें अन्तर अधिकारका वर्णन करते हैं ।

अंतरमवरुक्मस्सं किण्हतियाणं मुहुत्तअंतं तु ।

उवहीणं तेत्तीसं अहियं होदित्ति णिदिट्ठं ॥ ५५२ ॥

तेउतियाणं एवं णवरि य उक्कस्स विरहकालो दु ।

पोग्गलवरिवट्ठा हु असंखेज्जा होंति णियमेण ॥ ५५३ ॥

अन्तरमवरोत्कृष्टं कृष्णत्रयाणां मुहूर्तान्तस्तु ।

उद्धीनां त्रयस्त्रिंशदधिकं भवतीति निर्दिष्टम् ॥ ५५२ ॥

तेजस्त्रयाणामेवं नवरि च उत्कृष्टविरहकालस्तु ।

पुद्गलपरिवर्ता हि असंख्येया भवन्ति नियमेन ॥ ५५३ ॥

अर्थ—कृष्ण आदि तीन अशुभलेश्याओंका जघन्य अंतर अन्तर्मुहूर्तमात्र है । और उत्कृष्ट अंतर कुछ अधिक तेतीस सागर होता है । पीत आदि तीन शुभ लेश्याओंका अंतर भी इस ही प्रकार है, परन्तु कुछ विशेषता है । शुभ लेश्याओंका उत्कृष्ट अंतर नियमसे असंख्यात पुद्गल परिवर्तन है । **भावार्थ—**किसी विवक्षित एक लेश्याको छोड़कर दूसरी लेश्यारूप परिणमन करके जितने कालमें फिरसे विवक्षित लेश्यारूप परिणमन करे उतने कालको विवक्षित लेश्याका विरहकाल या अन्तर कहते हैं । इस प्रकारका अंतर कृष्णलेश्याका जघन्य अन्तर्मुहूर्तमात्र है । उत्कृष्ट अंतर दश अन्तर्मुहूर्त और आठ वर्ष कम एक कोटिपूर्व वर्ष अधिक तेतीस सागर प्रमाण है । इस ही प्रकार नील तथा कापोतलेश्याका भी अंतर जानना । परन्तु इतनी विशेषता है कि नील लेश्याके अंतरमें आठ अंतर्मुहूर्त और कापोतलेश्याके अंतरमें छह अंतर्मुहूर्त ही अधिक हैं । अब शुभ लेश्याओंका उत्कृष्ट अंतर दृष्टान्तद्वारा बताते हैं ।

कोई जीव पीत लेश्याको छोड़कर क्रमसे एक २ अन्तर्मुहूर्तमात्रतक कपोत नील कृष्ण लेश्याको प्राप्त हुआ, कृष्ण लेश्याको प्राप्त होकर एकेन्द्रिय अवस्थामें आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलद्रव्यपरिवर्तनोंका जितना काल हो उतने काल पर्यन्त भ्रमण कर विकलेन्द्रिय हुआ, यहां पर भी उत्कृष्टतासे संख्यात हजार वर्ष तक भ्रमण किया । पीछे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे एक २ अंतर्मुहूर्तमें क्रमसे कृष्ण नील कपोत लेश्याको प्राप्त होकर पीत लेश्याको प्राप्त हुआ । इस प्रकारके जीवके पीत लेश्याका उत्कृष्ट अंतर छह अंतर्मुहूर्त और संख्यात हजार वर्ष अधिक आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलद्रव्यपरावर्तन है । पद्म लेश्याका उत्कृष्ट अंतर इस प्रकार है कि कोई पद्मलेश्यावाला जीव पद्मलेश्याको छोड़कर अंतर्मुहूर्त तक पीत लेश्यामें रह कर पत्यके असंख्यातमेभाग अधिक दो सागरकी आयुसे सौधर्म ईशान स्वर्गमें उत्पन्न हुआ, वहांसे चयकर एकेन्द्रिय अवस्थामें आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनोंके कालका जितना प्रमाण है उतने काल तक भ्रमण किया । पीछे विकलेन्द्रिय होकर संख्यात हजार वर्ष तक भ्रमण किया । पीछे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे लेकर एक २ अन्तर्मुहूर्ततक क्रमसे कृष्ण नील कपोत पीत लेश्याको प्राप्त होकर पद्मलेश्याको प्राप्त हुआ इस तरहके जीवके पांच अंतर्मुहूर्त और पत्यके असंख्यातमे भाग अधिक दो सागर तथा संख्यात हजार वर्ष अधिक आवली के असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनमात्र पद्मलेश्याका उत्कृष्ट अंतर होता है । शुक्ल लेश्याका उत्कृष्ट अंतर इस प्रकार है कि कोई शुक्ल लेश्यावाला जीव शुक्ललेश्याको छोड़कर क्रमसे एक २ अन्तर्मुहूर्ततक पद्म पीत लेश्याको प्राप्त होकर सौधर्म ईशान स्वर्गमें होकर तथा वहां पर पूर्वोक्त प्रमाण कालतक रह कर पीछे एकेन्द्रिय अवस्थामें पूर्वोक्त प्रमाण काल तक भ्रमण कर पीछे विकलेन्द्रिय होकर भी पूर्वोक्त प्रमाण काल तक भ्रमण करके क्रमसे पंचेन्द्रिय होकर प्रथम समयसे लेकर एक २ अन्तर्मुहूर्त तक क्रमसे कृष्ण नील कपोत पीत पद्म लेश्याको प्राप्त होकर शुक्ल लेश्याको प्राप्त हुआ इसतरहके जीवके सात अंतर्मुहूर्त संख्यात हजार वर्ष और पत्यके असंख्यातमे भाग अधिक दो सागर अधिक आवलीके असंख्यातमे भागप्रमाण पुद्गलपरावर्तनमात्र शुक्ललेश्याका उत्कृष्ट अंतर होता है ।

॥ इति अंतराधिकारः ॥

क्रमप्राप्त भाव और अल्पबहुत्व अधिकारका वर्णन करते हैं ।

मावादो छल्लेस्सा ओदयिया होंति अप्पबहुगं तु ।

द्वच्चपमाणे सिद्धं इदि लेस्सा वणिग्गदा होंति ॥ ५५४ ॥

भावतः षड्लेश्या औदयिका भवन्ति अल्पबहुकं तु ।

द्रव्यप्रमाणे सिद्धमिति लेश्या वर्णिता भवन्ति ॥ १९४ ॥

अर्थ—भावकी अपेक्षा छहों लेश्या औदयिक हैं; क्योंकि योग और कषायके संयोगको ही लेश्या कहते हैं, और ये दोनों अपने २ योग्य कर्मके उदयसे होते हैं । तथा लेश्याओंका अल्पबहुत्व, पहले लेश्याओंका जो संख्या अधिकारमें द्रव्य प्रमाण बताया है उसीसे सिद्ध है । इनमें सबसे अल्प शुक्लेश्यावाले हैं, इनसे असंख्यातगुणे पद्मलेश्यावाले और इनसे भी संख्यातगुणे पीतलेश्यावाले जीव हैं । पीत लेश्यावालोंसे अनंतानंतगुणे कपोतलेश्यावाले हैं, इनसे कुछ अधिक नील लेश्यावाले और इनसे भी कुछ अधिक कृष्णलेश्यावाले जीव हैं ।

॥ इति अल्पबहुत्वाधिकारः ॥

इस प्रकार सोलह अधिकारोंके द्वारा लेश्याओंका वर्णन करके अब लेश्यारहित जीवोंका वर्णन करते हैं ।

किण्हादिलेस्सरहिया संसारविणिग्गया अणंतसुहा ।

सिद्धिपुरं संपत्ता अलेस्सिया ते मुण्येव्वा ॥ ५५५ ॥

कृष्णादिलेश्यारहिताः संसारविनिर्गता अनंतसुखाः ॥

सिद्धिपुरं संप्राप्ता अलेश्यास्ते ज्ञातव्याः ॥ १९५ ॥

अर्थ—जो कृष्ण आदि छहों लेश्याओंसे रहित हैं, अतएव जो पंचपरिवर्तनरूप संसारसमुद्रके पारको प्राप्त होगये हैं; तथा जो अतीन्द्रिय अनंत सुखसे तृप्त हैं, और आत्मोपलब्धिरूप सिद्धिपुरीको जो प्राप्त होगये हैं, उन जीवोंको अयोगकेवली या सिद्धभगवान् कहते हैं । **भावार्थ**—जो अनंत सुखको प्राप्तकर संसारसे सर्वथा रहित होकर सिद्धि पुरको प्राप्त होगये हैं वे जीव सर्वथा लेश्याओंसे रहित होते हैं; अत एव उनको अलेश्य-सिद्ध कहते हैं ।

॥ इति लेश्याप्ररूपणा समाप्ता ॥

क्रमप्राप्त भव्यमार्गणाका वर्णन करते हैं ।

मविया सिद्धी जेसिं जीवाणं ते हवंति भवसिद्धा ।

तद्विवरीयाऽभव्वा संसारादो ण सिज्झंति ॥ ५५६ ॥

भव्या सिद्धियेषां जीवानां ते भवन्ति भवसिद्धाः ।

तद्विपरीता अभव्याः संसारान्न सिध्यन्ति ॥ १९६ ॥

अर्थ—जिन जीवोंकी अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धि होनेवाली हो अथवा जो उसकी प्राप्तिके योग्य हों उनको भव्यसिद्ध कहते हैं । जिनमें इन दोनोंमेंसे कोई भी लक्षण घटित न हो उन जीवोंको अभव्यसिद्ध कहते हैं । **भावार्थ**—कितने ही भव्य ऐसे हैं जो मुक्तिकी प्राप्तिके योग्य हैं; परन्तु कभी मुक्त न होंगे; जैसे बन्ध्यापनेके दोषसे रहित विधवा सती स्त्रीमें पुत्रोत्पत्तिकी योग्यता है; परन्तु उसके कभी पुत्र उत्पन्न नहीं होगा । कोई भव्य ऐसे हैं जो नियमसे मुक्त होंगे । जैसे बन्ध्यापनेसे रहित स्त्रीके निमित्त मिलने पर नियमसे पुत्र उत्पन्न होगा । इन दोनों स्वभावोंसे जो रहित हैं उनको अभव्य कहते हैं । जैसे बन्ध्या स्त्रीके निमित्त मिले चाहे न मिले; परन्तु पुत्र उत्पन्न नहीं हो सकता है ।

जिनमें मुक्तिप्राप्तिकी योग्यता है उनको भव्यसिद्ध कहते हैं इस अर्थको दृष्टान्तद्वारा स्पष्ट करते हैं ।

भवत्तणस्स जोग्गा जे जीवा ते हवन्ति भवसिद्धा ।

ण ह्मु मलविगमे नियमा ताणं कणओवलानमिव ॥ ५५७ ॥

भव्यत्वस्य योग्या ये जीवास्ते भवन्ति भवसिद्धाः ।

न हि मलविगमे नियमात् तेषां कनकोपलानमिव ॥ ५५७ ॥

अर्थ—जो जीव अनन्तचतुष्टयरूप सिद्धिकी प्राप्तिके योग्य हैं; परन्तु उस सिद्धिको कभी प्राप्त न होंगे उनको भवसिद्ध कहते हैं । इस प्रकारके जीवोंका कर्ममल नियमसे दूर नहीं हो सकता । जैसे कनकोपलका । **भावार्थ**—ऐसे बहुतसे कनकोपल हैं जिनमें निमित्त मिलानेपर शुद्ध स्वर्णरूप होनेकी योग्यता है, परन्तु उनकी इस योग्यताकी अभिव्यक्ति कभी नहीं होगी । अथवा जिसतरह अहमिन्द्र देवोंमें नरकादि में गमन करनेकी शक्ति है परन्तु उस शक्तिकी अभिव्यक्ति कभी नहीं होती । इस ही तरह जिन जीवोंमें अनन्तचतुष्टयको प्राप्त करनेकी योग्यता है परन्तु उनको वह कभी प्राप्त नहीं होगी उनको भवसिद्ध कहते हैं । ये जीव सदा संसारमें ही रहते हैं ।

ण य जे भव्वाभव्वा मुत्तिसुहातीदणंतसंसार ।

ते जीवा णायव्वा णेव य भव्वा अभव्वा य ॥ ५५८ ॥

न च ये भव्या अभव्या मुक्तिसुखा अतीतानन्तसंसारः ।

ते जीवा ज्ञातव्या नैव च भव्या अभव्याश्च ॥ ५५८ ॥

अर्थ—जिनका पांच परिवर्तनरूप अनन्त संसार सर्वथा छूट गया है, और जो मुक्ति-सुखके भोक्ता हैं उन जीवोंको न तो भव्य समझना चाहिये और न अभव्य समझना चाहिये; क्योंकि अब उनको कोई नवीन अवस्था प्राप्त करना शेष नहीं रहा है इसलिये वे भव्य भी नहीं हैं । और अनन्त चतुष्टयको प्राप्त हो चुके हैं इसलिये अभव्य भी

नहीं हैं । **भावार्थ**—जिसमें अनंत चतुष्टयके अभिव्यक्त होनेकी योग्यता ही न हो उसको अभव्य कहते हैं । अतः ये अभव्य भी नहीं हैं; क्योंकि इन्होंने अनंत चतुष्टयको प्राप्त कर लिया है । और भव्यत्वका परिपाक हो चुका अतः अपरिपक अवस्थाकी अपेक्षासे भव्य भी नहीं हैं ।

भव्यमार्गणामें जीवकी संख्या बताते हैं ।

अवरो जुत्ताणंतो अभव्वरासिस्स होदि परिमाणं ।

तेण विहीणो सव्वो संसारी भव्वरासिस्स ॥ ५५९ ॥

अवरो युक्तानन्तः अभव्वराशोर्भवति परिमाणम् ।

तेन विहीनः सर्वः संसारी भव्वराशोः ॥ ५५९ ॥

अर्थ—जघन्य युक्तानन्तप्रमाण अभव्य राशि है । और सम्पूर्ण संसारी जीवराशिमेंसे अभव्वराशिका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही भव्वराशिका प्रमाण है । **भावार्थ**—भव्वराशि बहुत अधिक है और अभव्य राशि बहुत थोड़ी है । अभव्य जीव सदा पांच परिवर्तन रूप संसारसे युक्त ही रहते हैं । एक अवस्थासे दूसरी अवस्थाका प्राप्त होना इसको संसार-परिवर्तन कहते हैं । इस संसार अर्थात् परिवर्तनके पांच भेद हैं । द्रव्य क्षेत्र काल भव भाव । द्रव्यपरिवर्तनके दो भेद हैं, एक नोर्कर्मद्रव्यपरिवर्तन दूसरा कर्मद्रव्यपरिवर्तन । यहां पर इन परिवर्तनोंका क्रमसे स्वरूप बताते हैं । किसी जीवने, स्निग्ध रूक्ष वर्ण गन्धादिके तीव्र मंद मध्यम भावोंमेंसे यथासम्भव भावोंसे युक्त, औदा-रिकादि तीन शरीरोंमेंसे किसी शरीर सम्बन्धी छह पर्यामिरूप परिणमनेके योग्य पुद्गलोंका एक समयमें ग्रहण किया । पीछे द्वितीयादि समयोंमें उस द्रव्यकी निर्जरा करदी । तथा पीछे अनंतवार अग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण करके छोड़ दिया, अनन्तवार मिश्रद्रव्यको ग्रहण करके छोड़दिया, अनंतवार ग्रहीतको भी ग्रहण करके छोड़ दिया । जब वही जीव उन ही स्निग्ध रूक्षादि भावोंसे युक्त उनही पुद्गलोंको जितने समयमें ग्रहण करै उतने कालसमुदायको नोर्कर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं ।

पूर्वमें ग्रहण किये हुए परमाणु जिस समयप्रबद्धरूप स्कन्धमें हों उसको ग्रहीत कहते हैं । जिस समयप्रबद्धमें ऐसे परमाणु हों कि जिनका जीवने पहले ग्रहण नहीं किया हो उसको अग्रहीत कहते हैं । जिस समयप्रबद्धमें दोनोंप्रकारके परमाणु हों उसको मिश्र कहतें हैं । अग्रहीत परमाणु भी लोकमें अनन्तानन्त हैं; क्योंकि सम्पूर्ण जीवराशिका समयप्रबद्धके प्रमाणसे गुणा करने पर जो लब्ध आवे उसका अतीतकालके समस्त समयप्रमाणसे गुणा करनेपर जो लब्ध आवे उससे भी अनन्तगुणा पुद्गलद्रव्य है ।

इस परिवर्तनका काल अग्रहीतग्रहण ग्रहीतग्रहण मिश्रग्रहणके भेदसे तीन प्रकारका है । इसकी घटना किस तरह होती है यह अनुक्रम यन्त्रद्वारा बताते हैं ।

द्रव्यपरिवर्तन यन्त्र.					
००×	००×	००१	००×	००×	००१
××०	××०	××१	××०	××०	××१
××१	××१	××०	××१	××१	××०
११×	११×	११०	११×	११×	११०

इस यन्त्रमें शून्यसे अग्रहीत, हंसपदसे (× इस चिह्नसे) मिश्र और एकके अंकसे ग्रहीत समझना चाहिये । तथा दोवार लिखनेसे अनन्तवार समझना चाहिये । इस यन्त्रके देखनेसे स्पष्ट होता है कि निरन्तर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होचुकनेपर एक बार मिश्रका ग्रहण होता है, मिश्रग्रहणके बाद फिर निरन्तर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर एकवार मिश्रका ग्रहण होता है । इस ही क्रमसे अनन्तवार मिश्रका ग्रहण हो चुकने पर अग्रहीतग्रहणके अनन्तर एक बार ग्रहीतका ग्रहण होता है । इसके बाद फिर उस ही तरह अनन्त बार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर एक बार मिश्रका ग्रहण और मिश्रग्रहणके बाद फिर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होकर एकवार मिश्रका ग्रहण होता । तथा मिश्रका ग्रहण अनन्तवार होचुकने पर अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण करके एकवार फिर ग्रहीतका ग्रहण होता है । इस ही क्रमसे अनन्तवार ग्रहीतका ग्रहण होता है । यह अभिप्राय सूचित करनेके लिये ही प्रथम पाङ्क्तिमें पहले तीन कोठोंके समान दूसरे भी तीन कोठे किये हैं । अर्थात् इस क्रमसे अनन्तवार ग्रहीतका ग्रहण होचुकने पर नोर्कर्मपुद्गलपरिवर्तनके चार भेदोंमेंसे प्रथम भेद समाप्त होता है । इसके बाद दूसरे भेदका प्रारम्भ होता है । यहां पर अनन्तवार मिश्रका ग्रहण होनेपर एकवार अग्रहीतका ग्रहण, फिर अनन्तवार मिश्रका ग्रहण होने पर एक बार अग्रहीतका ग्रहण इस ही क्रमसे अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होकर अनन्त बार मिश्रका ग्रहण करके एक बार ग्रहीतका ग्रहण होता है । जिस क्रमसे एकवार ग्रहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनन्तवार ग्रहीतका ग्रहण होचुकने पर नोर्कर्मपुद्गलपरिवर्तनका दूसरा भेद समाप्त होता है । इसके बाद तीसरे भेदमें अनन्तवार मिश्रका ग्रहण करके एकवार ग्रहीतका ग्रहण होता है, फिर अनन्तवार मिश्रका ग्रहण करके एकवार ग्रहीतका ग्रहण इस । क्रमसे अनन्तवार ग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर अनन्तवार मिश्रका ग्रहण करके एकवार अग्रहीतका ग्रहण होता है । जिस तरह एकवार अग्रहीतका ग्रहण किया उस ही तरह अनन्तवार अग्रहीतका ग्रहण होनेपर नोर्कर्मपुद्गलपरिवर्तनका तीसरा भेद समाप्त होता है । इसके बाद चौथे भेदका प्रारम्भ होता है, इसमें प्रथम ही अनन्तवार ग्रहीतका ग्रहण करके एकवार मिश्रका ग्रहण होता है, इसकेबाद फिर अनन्तवार ग्रही-

तका ग्रहण होनेपर एकवार मिश्रका ग्रहण होता है । इस तरह अनंतवार मिश्रका ग्रहण होकर पीछे अनंतवार ग्रहीतका ग्रहण करके एकवार अग्रहीतका ग्रहण होता है । जिस तरह एकवार अग्रहीतका ग्रहण किया उस ही क्रमसे अनंतवार अग्रहीतका ग्रहण हो चुकने पर नोर्कर्मपुद्गलपरिवर्तनका चौथा भेद समाप्त होता है । इस चतुर्थ भेदके समाप्त होचुकने पर, नोर्कर्मपुद्गलपरिवर्तनके प्रारम्भके प्रथम समयमें वर्ण गन्ध आदिके जिस भावसे युक्त जिस पुद्गलद्रव्यको ग्रहण किया था उस ही भावसे युक्त उस शुद्ध ग्रहीतरूप पुद्गलद्रव्यको जीव ग्रहण करता है । इस सबके समुदायको नोर्कर्मद्रव्यपरिवर्तन कहते हैं । तथा इसमें जितना काल लगे उसको नोर्कर्मद्रव्यपरिवर्तनका काल कहते हैं ।

इस ही तरह दूसरा कर्मपुद्गलपरिवर्तन भी होता है । विशेषता इतनी ही है कि जिस तरह नोर्कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें नोर्कर्मपुद्गलोंका ग्रहण होता है उस ही तरह यहां पर कर्म-पुद्गलोंका ग्रहण होता है । परन्तु क्रममें कुछ भी विशेषता नहीं है । जिस तरहके चार भेद नोर्कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें होते हैं उस ही तरह कर्मद्रव्यपरिवर्तनमें भी चार भेद होते हैं । इन चार भेदोंमें भी अग्रहीतग्रहणका काल सबसे अल्प है, इससे अनंतगुणा काल मिश्रग्रहणका है । इससे भी अनंतगुणा ग्रहीतग्रहणका जघन्यकाल है, इससे अनंतगुणा ग्रहीतग्रहणका उत्कृष्ट काल है । क्योंकि प्रायःकरके उस ही पुद्गलद्रव्यका ग्रहण होता है कि जिसके साथ द्रव्य क्षेत्र काल भावका संस्कार हो चुका है । इस ही अभिप्रायसे यह सूत्र कहा है किः—

सुहमद्विदिसंयुतं आसणं कम्मणिज्जरा मुकुं ।

पाएण एदि गहणं दब्बमणिद्विद्वसंठाणं ॥ १ ॥

सूक्ष्मस्थितिसंयुक्तमासन्नं कर्मनिर्जरा मुक्तम् ।

प्रायेणैति ग्रहणं द्रव्यमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥ १ ॥

अर्थ—जिन कर्मरूप परिणत पुद्गलोंकी स्थिति अल्प थी अत एव पीछे निर्जर्ण होकर जिनकी कर्मरहित अवस्था होगई हो परन्तु जीवके प्रवेशोंके साथ जिनका एकक्षेत्रावगाह हो तथा जिनका संस्थान (आकार) कहा नहीं जा सकता इस तरहके पुद्गल द्रव्यका ही प्रायः-करके जीव ग्रहण करता है । **भावार्थ—**यद्यपि यह नियम नहीं है कि इस ही तरहके पुद्गलका जीव ग्रहण करै तथापि बहुधा इस ही तरहके पुद्गलका ग्रहण करता है; क्योंकि यह द्रव्य क्षेत्र काल भावसे संस्कारित है ।

द्रव्यपरिवर्तनके उक्त चार भेदोंका इस गाथामें निरूपण किया हैः—।

अगहिदमिस्सं गहिदं मिस्समगहिदं तहेव गहिदं च ।

मिस्सं गहिदमगहिदं गहिदं मिस्सं अगहिदं च ॥ २ ॥

अग्रहीतं मिश्रं ग्रहीतं मिश्रमग्रहीतं तथैव ग्रहीतं च ।

मिश्रं ग्रहीतमग्रहीतं ग्रहीतं मिश्रमग्रहीतं च ॥ २ ॥

अर्थ—पहला अग्रहीत मिश्र ग्रहीत, दूसरा मिश्र अग्रहीत ग्रहीत, तीसरा मिश्र ग्रहीत अग्रहीत, चौथा ग्रहीत मिश्र अग्रहीत, इस तरह चार प्रकारसे पुद्गलोंका ग्रहण होनेपर परिवर्तनके प्रारम्भ समयमें ग्रहण किये हुए पुद्गलोंका ग्रहण होता है । और तब ही एक द्रव्यपरिवर्तन पूरा होता है । इसका विशेष स्वरूप पहले लिख चुके हैं । **भावार्थ**—यहां पर प्रकरणके अनुसार शेष चार परिवर्तनोंका भी स्वरूप लिखते हैं । क्षेत्रपरिवर्तनके दो भेद हैं, एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन दूसरा परक्षेत्रपरिवर्तन । एक जीव सर्व जघन्य अवगाहनाओंको जितने उसके प्रदेश हों उतनीवार धारण करके पीछे क्रमसे एक २ प्रदेश अधिक २ की अवगाहनाओंको धारण करते २ महामत्स्यकी उत्कृष्ट अवगाहनापर्यन्त अवगाहनाओंको जितने समयमें धारण करसके उतने काल समुदायको एक स्वक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं । कोई जघन्य अवगाहनाका धारक सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव लोकके अष्ट मध्य—प्रदेशोंको अपने शरीरके अष्ट मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ, पीछे वही जीव उस ही रूपसे उस ही स्थानमें दूसरी तीसरी बार भी उत्पन्न हुआ । इसी तरह घनाङ्गुलके असंख्यातमे भागप्रमाण जघन्य अवगाहनाके जितने प्रदेश हैं उतनीवार उसी स्थानपर क्रमसे उत्पन्न हुआ और स्वासके अठारहमे भागप्रमाण क्षुद्र आयुको भोग २ कर मरणको प्राप्त हुआ । पीछे एक २ प्रदेशके अधिकक्रमसे जितने कालमें सम्पूर्ण लोकको अपना जन्मक्षेत्र बनाले उतने कालसमुदायको एक परक्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं ।

कोई जीव उत्सर्पिणीके प्रथम समयमें पहलीवार उत्पन्न हुआ, इस ही तरह दूसरीवार दूसरी उत्सर्पिणीके दूसरे समयमें उत्पन्न हुआ, तथा तीसरी उत्सर्पिणीके तीसरे समयमें तीसरीवार उत्पन्न हुआ । इसही क्रमसे उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणीके बीस कोड़ाकोड़ी सागरके जितने समय हैं उनमें उत्पन्न हुआ, तथा इसही क्रमसे मरणको प्राप्त हुआ, इसमें जितना काल लगे उतने कालसमुदायको एक कालपरिवर्तन कहते हैं ।

कोई जीव दशहजार वर्षके जितने समय हैं उतनीवार जघन्य दश हजार वर्षकी आयुसे प्रथम नरकमें उत्पन्न हुआ, पीछे एक २ समयके अधिकक्रमसे नरकसम्बन्धी तेतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुको क्रमसे पूर्ण कर, अन्तर्मुहूर्तके जितने समय हैं उतनीवार जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी आयुसे तिर्यग्गतिमें उत्पन्न होकर यहांपर भी नरगतिकीतरह एक २ समयके अधिकक्रमसे तिर्यग्गतिसम्बन्धी तीन पल्यकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया । पीछे तिर्यग्गतिकी तरह मनुष्यगतिकी पूर्ण किया, क्योंकि मनुष्यगतिकी भी जघन्य अन्तर्मुहूर्तकी तथा उत्कृष्ट तीन पल्यकी आयु है । मनुष्यगतिके बाद दश हजार वर्षके जितने समय हैं उतनीवार जघन्य दश हजार वर्षकी आयुसे देवगतिमें उत्पन्न होकर पीछे एक २ समयके

अधिकक्रमसे इकतीस सागरकी उत्कृष्ट आयुको पूर्ण किया, क्योंकि यद्यपि देवगतिस्मन्धी उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरकी है तथापि यहांपर इकतीस सागर का ग्रहण करना चाहिये; क्योंकि मिथ्यादृष्टि देवकी उत्कृष्ट आयु इकतीस सागरतक ही होती है । और इन परिवर्तनोंका निरूपण मिथ्यादृष्टिकी अपेक्षासे ही है; क्योंकि मय्यदृष्टि संसारमें अधपट्टल परिवर्तनका जितना काल है उससे अधिक कालतक नहीं रहता । इस क्रमसे चारों गतियोंमें भ्रमण करनेमें जितना काल लगे उतने कालको एक भवपरिवर्तनका काल कहते हैं । तथा इतने कालमें जितना भ्रमण किया जाय उसको एक भवपरिवर्तन कहते हैं ।

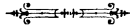
योगस्थान अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कषायाध्यवसायस्थान स्थितिस्थान इन चारके निमित्तसे भावपरिवर्तन होता है । प्रकृति और प्रदेशबन्धको कारणभूत आत्माके प्रदेशपरिस्पन्दरूप योगके तरतरूप स्थानोंको योगस्थान कहते हैं । जिन कषायके तरतरूप स्थानोंसे अनुभागबंध होता है उनको अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं । स्थितिवन्धको कारणभूत कषाय-परिणामोंको कषायाध्यवसायस्थान या स्थितिवन्धाध्यवसायस्थान कहते हैं । बन्धरूप कर्मकी जघन्यादिक स्थितिको स्थितिस्थान कहते हैं । इनका परिवर्तन किस तरह होता है यह दृष्टान्तद्वारा नीचे लिखते हैं ।

श्रेणिके असंख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोंके होजानेपर एक अनुभागबन्धाध्यवसाय-स्थान होता है, और असंख्यातलोकप्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर एक कषायाध्यवसायस्थान होता है, तथा असंख्यातलोकप्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके होजाने पर एक स्थितिस्थान होता है । इस क्रमसे ज्ञानावरण आदि समस्त मूलप्रकृति वा उत्तर-प्रकृतियोंके समस्त स्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है । जैसे किसी पर्याप्त मिथ्यादृष्टि संज्ञी जीवके ज्ञानावरण कर्मकी अंतःकोड़ाकाड़ी सागरप्रमाण जघन्य स्थितिका बंध होता है । यही यहांपर जघन्य स्थितिस्थान है । अतः इसके योग्य विवक्षित जीवके जघन्यही अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान जघन्य ही कषायाध्यवसायस्थान और जघन्य ही योगस्थान होते हैं । यहांसे ही भावपरिवर्तनका प्रारम्भ होता है । अर्थात् इसके आगे श्रेणिके असंख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे होजानेपर दूसरा अनुभागबन्धाध्य-वसायस्थान होता है । इसके बाद फिर श्रेणिके असंख्यातमे भागप्रमाण योगस्थानोंके क्रमसे होजानेपर तीसरा अनुभागबन्धाध्यवसायस्थान होता है । इसही क्रमसे असंख्यात लोकप्रमाण अनुभागबन्धाध्यवसायस्थानोंके होजानेपर दूसरा कषायाध्यवसायस्थान होता है । जिस क्रमसे दूसरा कषायाध्यवसायस्थान हुआ उसही क्रमसे असंख्यातलोक प्रमाण कषायाध्यवसायस्थानोंके

१ एक ही कषाय परिणाममें दो कार्य करनेका स्वभाव है । एक स्वभाव अनुभाग बंधको कारण है, और दूसरा स्वभाव स्थिति बंधको कारण है । इनको ही अनुभागबन्धाध्यवसाय और कषायाध्यवसाय कहते हैं ।

होजानेपर जघन्य स्थितिस्थान होता है । जो क्रम जघन्य स्थितिस्थानमें बताया वही क्रम एक २ समय अधिक द्वितीयदि स्थितिस्थानमें समझना चाहिये । तथा इसी क्रमसे ज्ञानावरणके जघन्यसे लेकर उत्कृष्ट तक समस्त स्थिति स्थानोंके हो जानेपर, और ज्ञानावरणके स्थिति स्थानोंकी तरह क्रमसे सम्पूर्ण मूल वा उत्तर प्रकृतियोंके समस्त स्थितिस्थानोंके पूर्ण होनेपर एक भावपरिवर्तन होता है । तथा इस परिवर्तनमें जितना काल लगे उसको एक भावपरिवर्तनका काल कहते हैं । इस प्रकार संक्षेपसे इन पांच परिवर्तनोंका स्वरूप यहां-पर कहा है । इनका काल उत्तरोत्तर अनन्तगुणा २ है । नानाप्रकारके दुःखोंसे आकुलित पांच परिवर्तनरूप संसारमें यह जीव मिथ्यात्वके निमित्तसे अन्तकालसे भ्रमण कर रहा है । इस परिभ्रमणके कारणभूत कर्मोंको तोड़कर मुक्तिको प्राप्त करनेकी जिनमें योग्यता नहीं है उनको अभव्य कहते हैं । और जिनमें कर्मोंको तोड़कर मुक्तिको प्राप्त करनेकी योग्यता है उनको भव्य कहते हैं ।

॥ इति भव्यत्वमार्गणाधिकारः समाप्तः ॥



क्रमप्राप्त सम्यक्त्व मार्गणाका वर्णन करते हैं ।

छप्पंचणवविहाणं अत्थाणं जिनवरोवइट्ठानं ।

आणाए अहिगमेण य सद्वहणं होइ सम्मत्तं ॥ ५६० ॥

पट्पञ्चनवविधानामर्थानां जिनवरोपदिष्टानाम् ।

आज्ञया अधिगमेन च श्रद्धानं भवति सम्यक्त्वम् ॥ ५६० ॥

अर्थः—छह द्रव्य पांच अस्तिकाय नव पदार्थ इनका जिनेन्द्र देवने जिस प्रकारसे वर्णन किया है उस ही प्रकारसे इनका जो श्रद्धान करना उसको सम्यक्त्व कहते हैं । यह दो प्रकारसे होता है एक तो केवल आज्ञासे दूसरा अधिगमसे । **भावार्थ—**जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल ये छह द्रव्य हैं । तथा कालको छोड़कर शेष ये ही पांच अस्तिकाय कहे जाते हैं । और जीव अजीव आस्रव बन्ध संवर निर्जरा मोक्ष पुण्य पाप ये नव प्रकारके पदार्थ हैं । इनका 'जिनेन्द्रदेवने जैसा स्वरूप कहा है वास्तवमें वही सत्य है,' इस तरह विना युक्तिसे निश्चय किये ही जो श्रद्धान होता है उसको आज्ञासम्यक्त्व कहते हैं । तथा इनके विषयमें प्रत्यक्ष परोक्षरूप प्रमाण, द्रव्यार्थिक आदि नय, नाम स्थापना आदि निक्षेप इत्यादिकेद्वारा निश्चय करके जो श्रद्धान होता है उसको अधिगम सम्यक्त्व कहते हैं ।

छह द्रव्योंके अधिकारोंका वर्णन करते हैं ।

छह्वेसु य णामं उवलक्खणुवाय अत्थणे कालो ।

अत्थणखेत्तं संखाठाणसरूवं फलं च हवे ॥ ५६१ ॥

पुद्गलद्रव्येषु च नाम उपलक्षणानुवादः अस्तित्वकालः ।

अस्तित्वक्षेत्रं संख्या स्थानस्वरूपं फलं च भवेत् ॥ ५६१ ॥

अर्थ—छह द्रव्योंके निरूपण करनेमें ये सात अधिकार हैं ।—नाम, उपलक्षणानुवाद, स्थिति, क्षेत्र, संख्या, स्थानस्वरूप, फल ।

प्रथमही नाम अधिकारको कहते हैं ।

जीवाजीवं द्रवं रूपांरूपवित्ति होदि पत्तेयं ।

संसारत्था रूपा कम्मभिमुक्ता अरूवगया ॥ ५६२ ॥

जीवाजीवं द्रव्यं रूपरूपीति भवति प्रत्येकम् ।

संसारत्था रूपिणः कर्मविमुक्ता अरूपगताः ॥ ५६२ ॥

अर्थ—द्रव्य सामान्यके दो भेद हैं । एक जीवद्रव्य दूसरा अजीव द्रव्य । जीवद्रव्यके भी दो भेद हैं । एक रूपी दूसरा अरूपी । जितने संसारी जीव हैं वे सब रूपी हैं; क्योंकि उनका कर्म—पुद्गलके साथ एकक्षेत्रावगाहसम्बन्ध है । जो जीव कर्मसे रहित होकर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं वे सब अरूपी हैं; क्योंकि उनसे कर्मपुद्गलका सम्बन्ध सर्वथा छूट गया है ।

अजीव द्रव्यमें भी रूपी अरूपीका भेद गिनाते हैं ।

अज्जीवेसु य रूवी पुगलद्रव्याणि धम्म इदरोवि ।

आगासं कालोवि य चत्तारि अरूविणो होंति ॥ ५६३ ॥

अज्जीवेसु च रूपीणि पुद्गलद्रव्याणि धम्म इतरोऽपि ।

आकाशं कालोपि च चत्वारि अरूपीणि भवन्ति ॥ ५६३ ॥

अर्थ—अजीव द्रव्यके पांच भेद हैं, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल । इनमें एक पुद्गल द्रव्य रूपी है । और शेष धर्म अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य अरूपी हैं ।

उपलक्षणानुवाद अधिकारको कहते हैं ।

उपजोगो वर्णचऊ लक्षणमिह जीवपोगलाणं तु ।

गदिठाणोग्गहवत्तणकिरियुवयारो दु धम्मचऊ ॥ ५६४ ॥

उपयोगो वर्णचतुष्कं लक्षणमिह जीवपुद्गलानां तु ।

गतिस्थानावगाहवर्तनक्रियोपकारस्तु धर्मचतुर्णाम् ॥ ५६४ ॥

अर्थ—ज्ञानदर्शनरूप उपयोग जीवद्रव्यका लक्षण है । वर्ण गन्ध रस स्पर्श यह पुद्गलद्रव्यका लक्षण है । जो जीव और पुद्गलद्रव्यको गमन करनेमें सहकारी हो उसको धर्म-द्रव्य कहते हैं । जो जीव तथा पुद्गलद्रव्यको ठहरनेमें सहकारी हो उसको अधर्मद्रव्य कहते हैं । जो सम्पूर्ण द्रव्योंको स्थान देनेमें सहायक हो उसको आकाश कहते हैं । जो समस्त द्रव्योंके अपने २ स्वभावमें वर्तनेका सहकारी है उसको कालद्रव्य कहते हैं ।

गदिठाणोग्गहकिरिया जीवाणं पुग्गलाणमेव हवे ।

धम्मतिये णहि किरिया मुक्खा पुण साधका होंति ॥ ५६५ ॥

गतिस्थानावगाहक्रिया जीवानां पुद्गलानामेव भवेत् ।

धर्मत्रिके नहि क्रिया मुख्यः पुनः साधका भवन्ति ॥ ५६५ ॥

अर्थ—गमन करनेकी या ठहरनेकी अथवा रहनेकी क्रिया जीवद्रव्य या पुद्गलद्रव्यकी ही होती है । धर्म अधर्म आकाशमें ये क्रिया नहीं होती, क्योंकि न तो इनके स्थान चलायमान होते हैं, और न प्रदेश ही चलायमान होते हैं । किन्तु ये तीनों ही द्रव्य जीव पुद्गलकी उक्त तीनों क्रियाओंके मुख्य साधक हैं । **भावार्थ—**मुख्य साधक कहनेका अभिप्राय यह नहीं है कि धर्मादि द्रव्य जीव पुद्गलको गमन आदि करनेमें प्रेरक हैं; किन्तु इसका अभिप्राय यह है कि जिस समय जीव या पुद्गल गति आदिमें परिणत हों उस समय उनकी गति आदिमें सहकारी होना धर्मादि द्रव्यका मुख्य कार्य है ।

गति आदिमें धर्मादि द्रव्य किसतरह सहायक होते हैं यह दृष्टान्त द्वारा दिखाते हैं ।

जत्तस्स प्हं ठत्तस्स आसणं णिवसगस्स वसदी वा ।

गदिठाणोग्गहकरणे धम्मतियं साधगं होदि ॥ ५६६ ॥

यातस्य पन्थाः तिष्ठतः आसनं निवसकस्य वसतिर्वा ।

गतिस्थानावगाहकरणे धर्मत्रयं साधकं भवति ॥ ५६६ ॥

अर्थ—गमन करनेवालेको मार्गकी तरह धर्म द्रव्य जीवपुद्गलकी गतिमें सहकारी होता है । ठहरनेवालेको आसनकी तरह अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलकी स्थितिमें सहकारी होता है । निवासकरनेवालेको मकानकी तरह आकाशद्रव्य जीव पुद्गल आदिको अवगाह देनेमें सहकारी साधक होता है ।

वत्तणहेदू कालो वत्तणगुणमविय दव्वणिचयेसु ।

कालाधारेणेव य वड्ढंति हु स्ववदव्वाणि ॥ ५६७ ॥

वर्तनाहेतुः कालो वर्तनागुणमवेहि द्रव्यनिचयेषु ।

कालाधारेणैव च वर्तन्ते हि सर्वद्रव्याणि ॥ ५६७ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंका यह स्वभाव है कि वे अपने २ स्वभावमें सदा ही वर्ते । परन्तु उनका यह वर्तना किसी बाह्य सहकारीके बिना नहीं हो सकता इसलिये इनको वर्तानेवाला सहकारी कारणरूप वर्तनागुण जिसमें पाया जाय उसको काल कहते हैं, क्योंकि कालके आश्रयसे ही समस्त द्रव्य वर्तते हैं ।

मूर्तक जीव पुद्गलके वर्तनेका सहकारी कारण होना काल द्रव्यमें सम्भव है, परन्तु धर्मादिक अमूर्तक तथा व्यापक द्रव्योंमें किसतरह घटित होसकता है ? इस शङ्काका समाधान करते हैं ।

धम्माधम्मादीणं अगुरुगुलहुगं तु छहिं वि वड्डीहिं ।

हाणीहिं वि वड्ढतो हायतो वड्ढे जह्मा ॥ ५६८ ॥

धर्माधर्मादीनामगुरुकल्युक्तं तु षड्भिरपि वृद्धिभिः ।

हानिभिरपि वर्धमानं हीयमानं वर्तते यस्मात् ॥ ५६८ ॥

अर्थ—धर्मादिक द्रव्योंमें अगुरुलघु नामका एक गुण है । इस गुणमें तथा इसके निमित्तसे धर्मादिक द्रव्यके षोडश गुणोंमें छह प्रकारकी वृद्धि तथा छह प्रकारकी हानि होती है । और इन वृद्धि हानिके निमित्तसे वर्धमान तथा हीयमान धर्मादि द्रव्योंमें वर्तना सम्भव है । **भावार्थ**—धर्मादि द्रव्योंमें स्वसत्ताका नियामक कारणभूत अगुरुलघु गुण है । इसके अनन्तानन्त अविभागप्रतिच्छेदोंमें अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि, संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि, अनन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि, तथा अन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभागहानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि, अनन्तगुणहानि ये छह हानि होती हैं । तथा इस गुणके निमित्तसे दूसरे गुणोंमें भी ये हानि वृद्धि होती हैं । इसलिये धर्मादि द्रव्योंके इस परिणमनका भी बाह्य सहकारी कारण मुख्य काल द्रव्य ही है ।

वर्तनाका कारण कालद्रव्य किसतरह है यह स्पष्ट करते हैं ।

ण य परिणमदि सयं सो ण य परिणामेइ अणमण्णेहिं ।

विविहपरिणामियाणं हवदि हु कालो सयं हेदु ॥ ५६९ ॥

न च परिणमति स्वयं स न च परिणामयति अन्यदन्यैः ।

विविधपरिणामिकानां भवति हि कालः स्वयं हेतुः ॥ ५६९ ॥

अर्थ—परिणामी होनेसे कालद्रव्य दूसरे द्रव्यरूप परिणत हो जाय यह बात नहीं है, वह न तो स्वयं दूसरे द्रव्यरूप परिणत होता है, और न दूसरे द्रव्योंको अपने स्वरूप अथवा भिन्नद्रव्यस्वरूप परिणामाता है; किन्तु अपने स्वभावसे ही अपने २ योग्य पर्यायोंसे परिणत होनेवाले द्रव्योंके परिणमनमें कालद्रव्य उदासीनतासे स्वयं बाह्य सहकारी होजाता है ।

कालं अस्सिय दव्वं सगसगपज्जायपरिणदं होदि ।

पज्जायावहाणं सुद्धणये होदि खणमेत्तं ॥ ५७० ॥

कालमाश्रित्य द्रव्यं स्वकस्वकर्षायापरिणतं भवति ।

पर्यायावस्थानं शुद्धनयेन भवति क्षणमात्रम् ॥ ५७० ॥

अर्थ—कालके आश्रयसे प्रत्येक द्रव्य अपने २ योग्य पर्यायोंसे परिणत होता है । इन पर्यायोंकी स्थिति शुद्धनयसे एक क्षण मात्र रहती है ।

ववहारो य वियप्पो भेदो तह पज्जओत्ति एयट्ठो ।

ववहारअवठाणट्ठिदी हु ववहारकालो दु ॥ ५७१ ॥

व्यवहारश्च विकल्पो भेदस्तथा पर्याय इत्येकार्थः ।

व्यवहारावस्थानस्थितिर्हि व्यवहारकालस्तु ॥ ५७१ ॥

अर्थ—व्यवहार विकल्प भेद पर्याय इन शब्दोंका एक ही अर्थ है । व्यंजनपर्यायके ठहरनेका जितना काल है उतने कालको व्यवहारकाल कहते हैं ।

अवरा पज्जायट्ठिदी खणमेत्तं होदि तं च समओत्ति ।

दोण्हमणूणमदिक्रमकालपमाणं हवे सो दु ॥ ५७२ ॥

अवरा पर्यायस्थितिः क्षणमात्रं भवति सा च समय इति ।

द्वयोरण्वोरतिक्रमकालप्रमाणं भवेत् स तु ॥ ५७२ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण द्रव्योंकी पर्यायकी जगन्य स्थिति एक क्षणमात्र होती है, इसीको समय भी कहते हैं । दो परमाणुओंके अतिक्रमण करनेके कालका जितना प्रमाण है उसको समय कहते हैं । भावार्थ—समीपमें स्थित दो परमाणुओंमेंसे मंद गमनरूप परिणत होकर जितने कालमें एक परमाणु दूसरी परमाणुका उलंघन करे उतने कालको एक समय कहते हैं । इतनी ही प्रत्येक पर्यायकी जगन्य स्थिति है ।

प्रकारान्तरसे समयका प्रमाण बताते हैं ।

णभएयपयसत्थो परमाणु धंदगइपवडुंतो ।

बीयमणंतरखेत्तं जावदियं जादि तं समयकालो ॥ १ ॥

नभएकप्रदेशस्थः परमाणुर्मन्दगतिप्रवर्तमानः ।

द्वितीयमनन्तरक्षेत्रं यावत् याति सः समयकालः ॥ १ ॥

अर्थ—आकाशके एक प्रदेशपर स्थित एक परमाणु मन्दगतिके द्वारा गमन करके दूसरे अनन्तर प्रदेशपर जितने कालमें प्राप्त हो उतने कालको एक समय कहते हैं ।

प्रदेशका प्रमाण बताते हैं ।

जेत्तौवि खेत्तमेत्तं अणुणा रुद्धं खु गयणदव्वं च ।

तं च पदेसं भणियं अवरावरकारणं जस्स ॥ २ ॥

यावदपि क्षेत्रमात्रमणुना रुद्धं खलु गगनद्रव्यं च ।

स च प्रदेशो भणितः अपरपरकारणं यस्य ॥ २ ॥

अर्थ—जितने आकाशद्रव्यमें पुद्गलका एक अविभागी परमाणु आजाय उतने क्षेत्रमात्रको एक प्रदेश कहते हैं । इस प्रदेशके निमित्तसे ही आगे पीछेका अथवा दूर समी-

पका व्यवहार सिद्ध होता है । **भावार्थ**—अमुक पदार्थ अमुक पदार्थान्ते आगे है और अमुक पदार्थ पीछे है । अथवा अमुक पदार्थ अमुक पदार्थके समीप है और अमुक पदार्थमें दूर है इस व्यवहारको सिद्ध करनेवाला प्रदेशविभाग ही है ।

व्यवहारकालका निरूपण करते हैं ।

आवलिअसंखसमया संखेज्जावलिसमहमुत्सासो ।

सत्तुत्सासा थोवो सत्तथोवा लवो भणियो ॥ ५७३ ॥

आवलिअसंखसमया संखेयावलिअसमह उच्छ्वासः ।

समोच्छ्वासः स्तोकाः सप्तमोकां लवो भणितः ॥ ५७३ ॥

अर्थ—असंख्यातसमयकी एक आवली होती है । संख्यात आवलीका एक उच्छ्वास होता है । सात उच्छ्वासका एक स्तोक होता है । सात स्तोकाका एक लव होता है ।

उच्छ्वासका स्वरूप क्षेपक गाथाद्वारा बताते हैं ।

अट्टस्स अणलस्स य णिरुवहदस्स य हवेज्ज जीवस्स ।

उत्सासाणिस्सासो एसो पाणोत्ति आहीदो ॥ १ ॥

आट्टस्यानलसस्य च निरुपहतस्य च भवेत् जीवस्य ।

उच्छ्वासनिश्वास एकः प्राण इति आख्यातः ॥ १ ॥

अर्थ—सुखी, आलस्यरहित, रोग पराधीनता चिन्ता आदिसे रहित जीवके संख्यात-आवलीके समूहरूप एक श्वासोच्छ्वास प्राण होता है । **भावार्थ**—दुःखी आदि जीवके संख्यात आवलीप्रमाण कालके पहले भी श्वासोच्छ्वास हो जाता है । इसलिये यहां पर सुखी आदि विशेषणोंसे युक्त जीवका ग्रहण किया है ।

अट्टत्तीसद्धलवा नाली वेनालिया मुहुत्तं तु ।

एगसमयेण हीणं भिण्णमुहुत्तं तदो सेसं ॥ ५७४ ॥

अष्टत्रिंशदर्धलवा नाली द्विनालिको मुहूर्तस्तु ।

एकसमयेन हीनो भिन्नमुहूर्तस्ततः शेषः ॥ ५७४ ॥

अर्थ—साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली (षड़ी) होती है । दो षड़ीका एक मुहूर्त होता है । इसमें एक समय कम करनेसे भिन्नमुहूर्त अथवा अन्तर्मुहूर्त होता है । तथा इसके आगे दो तीन चार आदि समय कम करनेसे अन्तर्मुहूर्तके भेद होते हैं ।

जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्तका प्रमाण क्षेपक गाथाके द्वारा बताते हैं ।

ससमयमावलि अवरं समऊणमुहुत्तयं तु उक्कस्सं ।

मज्झासंखवियप्पं वियाण अंतोमुहुत्तमिणं ॥ १ ॥

ससमय आवलिरवरः समयोनमुहूर्तकस्तु उत्कृष्टः ।

मध्यासंख्यविकल्पः विजानीहि अन्तर्मुहूर्तमिमम् ॥ १ ॥

अर्थ—एक समयसहित आवलीप्रमाण कालको जघन्य अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । एक समय कम मुहूर्तको उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त कहते हैं । इन दोनोंके मध्यके असंख्यात भेद हैं । उन सबको भी अन्तर्मुहूर्त ही जानना चाहिये ।

दिवसो पक्षो मासो उड्ड अयणं वस्समेवमादी हु ।

संखेज्जासंखेज्जाणंताओ होदि ववहारो ॥ ५७५ ॥

दिवसः पक्षो मास ऋतुरयनं वर्षमेवमादिर्हि ।

संख्येयासंख्येयानन्ता भवन्ति व्यवहाराः ॥ ५७५ ॥

अर्थ—तीस मुहूर्तका एक दिवस (अहोरात्र) पन्द्रह अहोरात्रका एक पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी एक ऋतु, तीन ऋतुका एक अयन, दो अयनका एक वर्ष इत्यादि व्यवहार कालके आवलीसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद होते हैं ।

ववहारो पुण कालो माणुसखेत्तमिह जाणिद्ववो दु ।

जोइसियाणं चारे ववहारो खलु समाणोत्ति ॥ ५७६ ॥

व्यवहारः पुनः कालः मानुषक्षेत्रे ज्ञातव्यस्तु ।

ज्योतिष्काणां चारे व्यवहारः खलु समान इति ॥ ५७६ ॥

अर्थ—परन्तु यह व्यवहार काल मनुष्यक्षेत्रमें ही समझना चाहिये; क्योंकि मनुष्य-क्षेत्रके ही ज्योतिषी देवोंके विमान गमन करते हैं, और इनके गमनका काल तथा व्यवहार काल दोनों समान हैं ।

प्रकारान्तरसे व्यवहारकालका प्रमाण बताते हैं ।

ववहारो पुण तिबिहो तीदो वडुंतगो मविस्सो दु ।

तीदो संखेज्जावलिहदसिद्धाणं पमाणं तु ॥ ५७७ ॥

व्यवहारः पुनस्त्रिविधोऽतीतो वर्तमानो भविष्यस्तु ।

अतीतः संख्येयावलिहृतसिद्धानां प्रमाणं तु ॥ ५७७ ॥

अर्थ—व्यवहार कालके तीन भेद हैं । भूत वर्तमान भविष्यत् । सिद्धराशिका संख्यात आवलीके प्रमाणसे गुणा करनेपर जो प्रमाण हो उतना ही अतीत कालका प्रमाण है ।

समओ हु वडुमाणो जीवादो सव्वपुग्गलादो वि ।

भावी अणंतगुणिदो इदि ववहारो हवे कालो ॥ ५७८ ॥

समयो हि वर्तमानो जीवात् सर्वपुद्गलादपि ।

भावी अनंतगुणित इति व्यवहारो भवेत्कालः ॥ ५७८ ॥

अर्थ—वर्तमान कालका प्रमाण एक समय है । सम्पूर्ण जीवराशि तथा मनुस्त पुद्गलद्वयराशिसे अनंतगुणा भविष्यत् कालका प्रमाण है । इस प्रकार व्यवहार कालके तीन भेद होते हैं ।

कालोविय ववएसो सद्भावपरूवओ हवदि णिच्चो ।

उप्पणणप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥ ५७९ ॥

कालोऽपि च व्यपदेशः सद्भावप्ररूपको भवति नित्यः ।

उत्पन्नप्रध्वंसी अपरो दीर्घान्तरस्थायी ॥ ५७९ ॥

अर्थ—काल यह व्यपदेश (संज्ञा) मुख्यकालका बोधक है; क्योंकि विना मुख्यके गौण अथवा व्यवहारकी भी प्रवृत्ति नहीं होसकती । यह मुख्य काल द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा नित्य है तथा पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है । तथा व्यवहारकाल वर्तनकी अपेक्षा उत्पन्नध्वंसी है और भूत भविष्यत्की अपेक्षा दीर्घान्तरस्थायी है ।

क्रमप्राप्त स्थिति अधिकारका वर्णन करते हैं ।

छद्दव्वावट्ठाणं सरिसं तियकालअत्थपज्जाये ।

व्यंजनपज्जाये वा मिलिदे ताणं ठिदिचादो ॥ ५८० ॥

षड्द्रव्यावस्थानं सदृशं त्रिकालार्थपर्याये ।

व्यंजनपर्याये वा मिलिते तेषां स्थितित्वात् ॥ ५८० ॥

अर्थ—अवस्थान=स्थिति छहों द्रव्योंकी समान है । क्योंकि त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय वा व्यंजनपर्यायके मिलनेसे ही उनकी स्थिति होती है । भावार्थ छहों द्रव्य अनादिनिधन हैं; क्योंकि कथंचित् द्रव्य पर्यायोंसे भिन्न कुछ भी चीज नहीं है । और इन पर्यायोंके दो भेद हैं, एक व्यंजनपर्याय दूसरी अर्थपर्याय । वागोचर—वचनके विषयभूत स्थूलपर्यायको व्यंजनपर्याय कहते हैं, और वचनके अगोचर सूक्ष्म पर्यायोंको अर्थपर्याय कहते हैं । ये दोनोंही पर्याय पर्यायत्वकी अपेक्षा त्रिकालवर्ती अर्थात् अनादिनिधन हैं ।

इस ही अर्थको स्पष्ट करते हैं ।

एयद्वियम्मि जे अत्थपज्जया वियणपज्जया चावि ।

तीदाणागदभूदा तावदियं तं हवदि दव्वं ॥ ५८१ ॥

एकद्रव्ये ये अर्थपर्याया व्यञ्जनपर्यायाश्चापि ।

अतीतानागतभूताः तावत्तत् भवति द्रव्यम् ॥ ५८१ ॥

अर्थ—एक द्रव्यमें जितनी त्रिकालसम्बन्धी अर्थपर्याय या व्यंजनपर्याय हैं उतना ही द्रव्य है । भावार्थ—त्रिकाल सम्बन्धी संस्थानस्वरूप (आकाररूप) प्रदेशवत्त्वगुणकी पर्याय—व्यंजनपर्याय, तथा प्रदेशवत्त्वगुणको छोड़कर शेषगुणोंकी त्रिकालसम्बन्धी

समस्तपर्याय (अर्थपर्याय) इनका जो समूह है वही द्रव्य है । त्रिकालवर्ती पर्यायोंको छोड़कर द्रव्य कोई चीज नहीं है ।

इस प्रकार स्थिति अधिकारका वर्णन करके क्रमके अनुसार क्षेत्र अधिकारका वर्णन करते हैं ।

आगासं वज्जिता सव्वे लोगग्गि चैव णत्थि वहिं ।

वावी धम्माधम्मा अवट्ठिदा अचलिदा णिच्चा ॥ ५८२ ॥

आकाशं वर्णयित्वा सर्वाणि लोके चैव न सन्ति वहिः ।

व्यापिनो धर्माधर्मो अवस्थितावचलितौ नित्यौ ॥ ५८२ ॥

अर्थ—आकाशको छोड़कर शेष समस्तद्रव्य लोकमें ही हैं—बाहर नहीं हैं । तथा धर्म और अधर्मद्रव्य व्यापक हैं, अवस्थित हैं, अचलित हैं, और नित्य हैं । **भावार्थ**—आकाश-द्रव्यके दो भेद हैं, एक लोक दूसरा अलोक । जितने आकाशमें जीव पुद्गल धर्म अधर्म काल पाया जाय उतने आकाशको लोक कहते हैं । इसके बाहर जितना अनन्त आकाशद्रव्य है उसको अलोक कहते हैं । धर्म अधर्म द्रव्य सम्पूर्ण लोकमें तिलमें तैलकी तरह व्याप्त हैं । तथा ये दोनों ही द्रव्य आकाशके जिन प्रदेशोंमें स्थित हैं उनही प्रदेशोंमें स्थित रहते हैं । जीवा-दिकी तरह एक स्थानको छोड़कर दूसरे स्थानमें गमन नहीं करते । और अपने स्थानपर रहते हुए भी इनके प्रदेश जलकल्लोकी तरह सकम्प नहीं होते हैं और न ये दोनों द्रव्य कभी अपने स्वरूपसे न्युत होते हैं । अर्थात् न तो इनमें विभाव पर्याय होती है और न इनका कभी सर्वथा अभाव ही होता है ।

लोगस्स असंखेज्जदिभागप्पहुदिं तु सव्वलोगोत्ति ।

अप्पपदेसविसप्पणसंहारे वावडो जीवो ॥ ५८३ ॥

लोकस्यासंख्येयादिभागप्रभृतिस्तु सर्वलोक इति ।

आत्मप्रदेशविसर्पणसंहारे व्यापृतो जीवः ॥ ५८३ ॥

अर्थ—एक जीव अपने प्रदेशोंके संहारविसर्पकी अपेक्षा लोकके असंख्यातमे भागसे लेकर सम्पूर्ण लोकतकमें व्याप्त होकर रहता है । **भावार्थ**—आत्मामें प्रदेशसंहारविसर्पत्व गुण है । इसके निमित्तसे उसके प्रदेश संकुचित तथा विस्तृत होते हैं । इसलिये एक जीवका क्षेत्र शरीरप्रमाणकी अपेक्षा अङ्गुलके असंख्यातमे भागसे लेकर हजार योजन तकका होता है । इसके आगे समुद्रातकी अपेक्षा लोकके असंख्यातमे भाग, संख्यातमे भाग, तथा सम्पूर्ण लोकप्रमाण भी होता है ।

पोगलदव्वाणं पुण एयपदेसादि होंति भजणिज्जा ।

एकेक्को दु पदेसे कालाणूणं धुवो होदि ॥ ५८४ ॥

पुद्गलद्रव्याणां पुनरेकप्रदेशादयो भवन्ति भजनीयाः ।

एकैकस्तु प्रदेशः कालाणूनां ध्रुवो भवति ॥ ५८४ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यका क्षेत्र एकप्रदेशमे लेकर यथासम्भव समझना चाहिये—जैसे परमाणुका एक प्रदेशप्रमाण ही क्षेत्र है, तथा व्यणुकका एक प्रदेश और दो प्रदेश भी क्षेत्र है, व्यणुकका एक प्रदेश दो प्रदेश तीन प्रदेश क्षेत्र है, इत्यादि । किन्तु एक २ कालाणुका क्षेत्र एक २ प्रदेश ही निश्चित है । **भावार्थ**—कालद्रव्य अणुरूप ही है । कालाणुके पुद्गलद्रव्यकी तरह स्कन्ध नहीं होते । जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतनी ही कालाणु हैं । इस लिये रत्नराशिकी तरह एक २ कालाणु लोकाकाशके एक २ प्रदेशपर ही सदा स्थित रहती है । तथा जो कालाणु जिस प्रदेशपर स्थित है वह उसी प्रदेशपर सदा स्थित रहती है । किन्तु पुद्गल द्रव्यके स्कंध होते हैं अतः उसके अनेक प्रकारके क्षेत्र होते हैं ।

संखेज्जासंखेज्जाणंता वा हांति पोग्गलपदेसा ।

लोगागासेव ठिदी एगपदेसो अणुस्स हवे ॥ ५८५ ॥

संख्येयासंख्येयानन्ता वा भवन्ति पुद्गलप्रदेशाः ।

लोकाकाश एव स्थितिरकप्रदेशोऽणोर्भवेत् ॥ ५८५ ॥

अर्थ—पुद्गल द्रव्यके स्कन्ध संख्यात असंख्यात तथा अनन्त परमाणुओंके हैं, परन्तु उन सबकी स्थिति लोकाकाशमें ही होजाती है; किन्तु अणु एक ही प्रदेशमें रहता है । **भावार्थ**—जिस तरह जलमे अच्छीतरह भरे हुए पात्रमें लवण आदि कई पदार्थ आसकते हैं उसी तरह असंख्यातप्रदेशी लोकमें अनंतप्रदेशी स्कन्ध आदि समा सकते हैं ।

लोगागासपदेसा छडव्वेहिं फुडा सदा हांति ।

सव्वमलोगागासं अणणेहिं विवज्जियं होदि ॥ ५८६ ॥

लोकाकाशप्रदेशाः पद्द्रव्यैः स्फुटाः सदा भवन्ति ।

सर्वमलोकाकाशमन्यैर्विवर्जितं भवति ॥ ५८६ ॥

अर्थ—लोकाकाशके समस्त प्रदेशोंमें छहों द्रव्य व्याप्त हैं । और अलोकाकाश आकाशको छोड़कर शेषद्रव्योंसे सर्वथा रहित है ।

इस तरह क्षेत्र अधिकारका वर्णन करके संख्याः अधिकारको कहते हैं ।

जीवा अणंतसंखानंतगुणा पुग्गला हु तत्तो दु ।

धम्मतियं एक्केकं लोगपदेसप्पमा कालो ॥ ५८७ ॥

जीवा अनन्तसंख्या अनन्तगुणाः पुद्गला हि ततस्तु ।

धर्मात्रिकमेकैकं लोकप्रदेशप्रमः कालः ॥ ५८७ ॥

अर्थ—जीव द्रव्य अनन्त हैं । उससे अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं । धर्म अधर्म आकाश ये एक २ द्रव्य हैं । तथा लोकाकाशके जितने प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं ।

लोगागासपदेसे एकैके जेठिया हु एकैका ।

रयणाणं रासी इव ते कालाणू मुणेयव्वा ॥ ५८८ ॥

लोकाकाशप्रदेशे एकैकस्मिन् ये स्थिता हि एकैके ।

रत्नानां राशिरिव ते कालाणवो मन्तव्याः ॥ ५८८ ॥

अर्थ—वे कालाणु रत्नराशिकी तरह लोकाशके एक २ प्रदेशमें एक २ स्थित हैं, ऐसा समझना चाहिये । **भावार्थ**—जिसतरह रत्नोंकी राशि भिन्न २ स्थित रहती है उसी तरह प्रत्येक कालाणु लोकाकाशके एक २ प्रदेशपर भिन्न २ स्थित है । इसी लिये जितने लोकाकाशके प्रदेश हैं उतने ही कालद्रव्य हैं ।

ववहारो पुण कालो पोग्गलद्व्वादणंतगुणमेत्तो ।

तत्तो अणंतगुणिदा आगासपदेसपरिसंखा ॥ ५८९ ॥

व्यवहारः पुनः कालः पुद्गलद्रव्यादनन्तगुणमात्रः ।

ततः अनन्तगुणिता आकाशप्रदेशपरिसंख्या ॥ ५८९ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यके प्रमाणसे अनन्तगुणा व्यवहारकालका प्रमाण है । तथा व्यवहार कालके प्रमाणसे अनन्तगुणी आकाशके प्रदेशोंकी संख्या है ।

लोगागासपदेसा धम्माधम्मगजीवगपदेसा ।

सरिसा हु पदेसो पुण परमाणुअवट्ठिदं खेत्तं ॥ ५९० ॥

लोकाकाशप्रदेशा धर्माधर्मैकजीवगप्रदेशाः ।

सदृशा हि प्रदेशः पुनः परमाण्ववस्थितं क्षेत्रम् ॥ ५९० ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म, एक जीवद्रव्य, तथा लोकाकाश, इनकी प्रदेशसंख्या परस्परमें समान है । जितने क्षेत्रको एक पुद्गलका परमाणु रोकता है उतने क्षेत्रको प्रदेश कहते हैं । स्थानस्वरूपाधिकारका वर्णन करते हैं ।

सव्वमरूवी दव्वं अवट्ठिदं अचलिआ पदेसा वि ।

रूवी जीवा चलिया तिबियप्पा होंति हु पदेसा ॥ ५९१ ॥

सर्वमरूपि द्रव्यमवस्थितमचलिताः प्रदेशा अपि ।

रूपिणो जीवाश्चलितास्त्रिविकल्पा भवन्ति हि प्रदेशाः ॥ ५९१ ॥

अर्थ—सम्पूर्ण अरूपी द्रव्य जहां स्थित हैं वहां ही सदा स्थित रहते हैं, तथा इनके प्रदेश भी चलायमान नहीं होते । किन्तु रूपी (संसारी) जीवद्रव्य चल हैं, तथा इनके प्रदेश तीन प्रकारके होते हैं । **भावार्थ**—धर्म, अधर्म आकाश काल और मुक्त जीव ये

अपने स्थानसे कभी चलायमान नहीं होते, तथा एक स्थान पर ही रहते हुए भी इनके प्रदेश कभी सकम्प नहीं होते । किन्तु संसारी जीवोंके प्रदेश तीन प्रकारके होते हैं । चल भी होते हैं, अचल भी होते हैं, तथा चलाचल भी होते हैं । विग्रहगतिवाले जीवोंके प्रदेश चल ही होते हैं । अयोगकेवलियोंके प्रदेश अचल ही होते हैं । और शेष तीनोंके प्रदेश चलाचल होते हैं ।

पोगलद्ववम्हि अणू संखेज्जादी हवंति चलिदा हु ।

चरिममहक्खंधम्मि य चलाचला हांति हु पदेसा ॥ ५९२ ॥

पुद्गलद्रव्येऽणवः संख्यातादयो भवंति चलिता हि ।

चरममहास्कन्धे च चलाचला भवन्ति हि प्रदेशाः ॥ ५९२ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यमें परमाणु तथा संख्यात असंख्यात आदि अणुके जितने स्कन्ध हैं वे सभी चल हैं, किन्तु एक अन्तिम महास्कन्ध चलाचल है; क्योंकि उसमें कोई परमाणु चल है और कोई परमाणु अचल है ।

परमाणुसे लेकर महास्कन्ध पर्यन्त पुद्गलद्रव्यके तेईस भेदोंको दो गाथाओंमें गिनाते हैं ।

अणुसंखासंखेज्जाणंता य अगेज्जगेहिं अंतरिया ।

आहारतेजभासामणकम्मइया ध्रुवक्खंधा ॥ ५९३ ॥

सांतरणिरंतरेण य सुण्णा पत्तेयदेहध्रुवसुण्णा ।

बादरणिगोदसुण्णा सुहुमणिगोदा नभो महक्खंधा ॥ ५९४ ॥

अणुसंख्यासंख्यातानन्ताश्च अग्राह्यकाभिरन्तरिताः ।

आहारतेजोभाषामनःकर्मणा ध्रुवस्कन्धाः ॥ ५९३ ॥

सान्तरनिरन्तरया च शून्या प्रत्येकदेहध्रुवशून्याः ।

बादरनिगोदशून्याः सूक्ष्मनिगोदा नभो महास्कन्धाः ॥ ५९४ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यके तेईस भेद हैं । अणुवर्गणा, संख्याताणुवर्गणा, असंख्याताणुवर्गणा, अनन्ताणुवर्गणा, आहारवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, तेजसवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, भाषावर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, मनोवर्गणा, अग्राह्यवर्गणा, कर्मणवर्गणा, ध्रुववर्गणा, सांतरनिरन्तरवर्गणा, शून्यवर्गणा, प्रत्येकशरीरवर्गणा, ध्रुवशून्यवर्गणा, बादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा, महास्कन्धवर्गणा ।

इन वर्गणाओंके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद तथा इनका अल्पबहुत्व बताते हैं ।

परमाणुवग्गणम्मि ण अवरुक्कस्सं च सेसगे अत्थि ।

गेज्झमहक्खंधाणं वरमहिंयं सेसगं गुणियं ॥ ५९५ ॥

परमाणुवर्गणायां नावरोत्कृष्टं च शेषके अस्ति ।

ग्राह्यमहास्कन्धानां वरमधिकं शेषकं गुणितम् ॥ ५९५ ॥

अर्थ—तेईस प्रकारकी वर्गणाओंमेंसे अणुवर्गणोंमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है । शेष वाईस जातिकी वर्गणाओंमें जघन्य उत्कृष्ट भेद हैं । तथा इन वाईस जातिकी वर्गणाओंमें भी आहारवर्गणा, तैजसवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणा, कर्मणवर्गणा, ये पांच ग्राह्य वर्गणा और एक महास्कन्ध वर्गणा इन छह वर्गणाओंके जघन्य उत्कृष्ट भेद प्रतिभागकी अपेक्षासे हैं । किन्तु शेष सोलह जातिकी वर्गणाओंके जघन्य उत्कृष्ट भेद गुणकारकी अपेक्षासे हैं ।

पांच ग्राह्यवर्गणाओंका तथा अन्तिम महास्कन्धका उत्कृष्ट भेद निकालनेके लिये प्रतिभागका प्रमाण बताते हैं ।

सिद्धाणंतिमभागो पडिभागो गेज्झमाण जेठ्ठं ।

पल्लासंखेज्जदियं अंतिमसंखस्स जेठ्ठं ॥ ५९६ ॥

मिद्धानन्तिमभागः प्रतिभागो ग्राह्याणां ज्येष्ठार्थम् ।

पल्यासंख्येयमन्तिमस्कन्धस्य ज्येष्ठार्थम् ॥ ५९६ ॥

अर्थ—पांच ग्राह्यवर्गणाओंका उत्कृष्ट भेद निकालनेकेलिये प्रतिभागका प्रमाण सिद्ध-राशिके अनन्तमे भाग है । और अन्तिम महास्कन्धका उत्कृष्ट भेद निकालनेकेलिये प्रतिभागका प्रमाण पल्यके असंख्यातमे भाग है । **भावार्थ**—सिद्धराशिके अनन्तमे भागका अपने २ जघन्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको अपने २ जघन्यमें मिलानेसे पांच ग्राह्य वर्गणाओंके अपने २ उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है । और अन्तिम महास्कन्धके जघन्य भेदमें पल्यके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको जघन्यके प्रमाणमें मिलानेसे महास्कन्धके उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है ।

संखेज्जासंखेजे गुणगारो सो दु होदि हु अणंते ।

चत्तारि अगेज्जेसु वि सिद्धाणमणंतिमो भागो ॥ ५९७ ॥

संख्यातासंख्यातायां गुणकारः स तु भवति हि अनन्तायाम् ।

चतसृषु अग्राह्याम्बपि सिद्धानामनन्तिमो भागः ॥ ५९७ ॥

अर्थ—संख्याताणुवर्गणा और असंख्याताणुवर्गणोंमें गुणकारका प्रमाण अपने २ उत्कृष्टमें अपने २ जघन्यका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना है । इस गुणकारके साथ अपने २ जघन्यका गुणा करनेसे अपना २ उत्कृष्ट भेद निकलता है । और अनन्ताणुवर्गणा तथा चार अग्राह्यवर्गणाओंके गुणकारका प्रमाण सिद्धराशिके अनन्तमे भागमात्र है । इस गुणकारके साथ अपने २ जघन्यका गुणा करनेसे अपना २ उत्कृष्ट भेद निकलता है ।

जीवादोणंतगुणो ध्रुवादितिहं असंखभागो इ ।

पल्लस तदो ततो असंखलोगवहिदो मिच्छां ॥ ५९८ ॥

जीवादनन्तगुणो ध्रुवादितिसृणामसंख्यभागस्तु ।

पल्यस्य ततस्ततः असंख्यलोकावहिता मिथ्या ॥ ५९८ ॥

अर्थ—ध्रुववर्गणा, सांतरनिरंतरवर्गणा, शून्यवर्गणा, इन तीन वर्गणाओंका उत्कृष्ट भेद निकालनेकेलिये गुणकारका प्रमाण जीवराशिसे अनन्तगुणा है । तथा प्रत्येकशरीर वर्गणाका गुणाकार पल्यके असंख्यातमे भाग है । और ध्रुवशून्यवर्गणाका गुणकार, मिथ्यादृष्टि जीवराशिमें असंख्यात लोकका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना है । इस गुणकारके साथ जघन्य भेदका गुणा करनेसे उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है ।

सेढी सूई पल्ला जगपदरा संखभागगुणगारा ।

अप्पप्पणअवरादो उक्कस्से हाँति णियमेण ॥ ५९९ ॥

श्रेणी सूची पल्यजगत्प्रतरासंख्यभागगुणकाराः ।

आत्मात्मनोवरादुत्कृष्टे भवन्ति नियमेन ॥ ५९९ ॥

अर्थ—चादरनिगोदवर्गणा, शून्यवर्गणा, सूक्ष्मनिगोदवर्गणा, नभोवर्गणा इन चार वर्गणाओंके उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकालनेके लिये गुणकारका प्रमाण क्रमसे जगच्छ्रेणीका असंख्यातमा भाग, सूच्यगुलका असंख्यातमा भाग, पल्यका असंख्यातमा भाग, जगत्प्रतरका असंख्यातमा भाग है । अपने २ गुणकारके प्रमाणसे अपने २ जघन्यका गुणा करनेसे अपने २ उत्कृष्ट भेदका प्रमाण निकलता है । **भावार्थ—**यहां पर पुद्गलद्रव्यकी तेईस वर्गणाओंका एकपङ्क्तिकी अपेक्षा वर्णन किया है । जिनको नानापङ्क्तिकी अपेक्षा इन वर्गणाओंका स्वरूप जानना हो वे बड़ी टीकामें देख लें । किसी भी वर्तमान एक कालमें उक्त तेईस वर्गणाओंमेंसे कौन २ सी वर्गणा कितनी २ पाई जाती हैं, इस अपेक्षाको लेकर जो वर्णन किया जाता है उसको नाना पङ्क्तिकी अपेक्षा वर्णन कहते हैं ।

हेट्ठिमउक्कस्सं पुण रूवहियं उवरिमं जहण्णं खु ।

इदि तेवीसवियप्पा पुगलदब्बा हु जिणदिट्ठा ॥ ६०० ॥

अवस्तनोत्कृष्टं पुनः रूपाधिकमुपरिमं जघन्यं खलु ।

इति त्रयोविंशतिविकल्पानि पुद्गलद्रव्याणि हि जिनदिष्टानि ॥ ६०० ॥

अर्थ—तेईस वर्गणाओंमेंसे अणुवर्गणाको छोड़कर शेष बाईस वर्गणाओंमें नीचेकी वर्गणाके उत्कृष्ट भेदका जो प्रमाण है उसमें एक मिलानेसे आगे की वर्गणाके जघन्य भेदका प्रमाण होता है । जैसे संख्याताणुवर्गणाके उत्कृष्ट भेदका जो प्रमाण है उसमें एक मिलानेसे असंख्याताणुवर्गणाका जघन्य भेद होता है । और असंख्याताणुवर्गणाके उत्कृष्ट भेदमें एक मिलानेसे

अनन्ताणुवर्गणाका जघन्य भेद होता है । इसी तरह आगे भी समझना । इसी क्रमसे पुद्गलद्रव्यके बाईस भेद होते हैं; किन्तु एक अणुवर्गणाको मिलानेसे पुद्गलद्रव्यके तेईस भेद होते हैं यह जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

प्रकारान्तरसे होनेवाले पुद्गलद्रव्यके छह भेदोंके दृष्टान्त दिखते हैं ।

पृथ्वी जलं च छाया चतुरिन्द्रियविषयकम्मपरमाणू ।

छव्विहभेयं भणियं पोग्गलद्ववं जिणवरेहिं ॥ ६०१ ॥

पृथ्वी जलं च छाया चतुरिन्द्रियविषयकम्मपरमाणवः ।

षड्विभेदं भणितं पुद्गलद्रव्यं जिनवरैः ॥ ६०१ ॥

अर्थ—पुद्गलद्रव्यको जिनेन्द्र देवने छह प्रकारका बताया है । जैसे १ पृथ्वी २ जल ३ छाया, ४ नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंका विषय, ५ कर्म, ६ परमाणु ।

इन छह भेदोंकी क्या २ संज्ञा है यह बताते हैं ।

बादरबादर बादर बादरसूक्ष्मं च सुहमस्थूलं च ।

सुहमं च सुहमसुहमं च धरादियं होदि छब्भेयं ॥ ६०२ ॥

बादरबादरं बादरं बादरसूक्ष्मं च सूक्ष्मस्थूलं च ।

सूक्ष्मं च सूक्ष्मसूक्ष्मं धरादिकं भवति षड्भेदम् ॥ ६०२ ॥

अर्थ—बादरबादर, बादर, बादरसूक्ष्म, सूक्ष्मबादर, सूक्ष्म, सूक्ष्मसूक्ष्म, इस तरह पुद्गलद्रव्यके छह भेद हैं, जैसे उक्त पृथ्वी आदि । **भावार्थ**—जिसका छेदन भेदन अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको बादरबादर कहते हैं, पृथ्वी काष्ठ पाषाण आदि । जिसका छेदन भेदन न हो सके किन्तु अन्यत्र प्रापण हो सके उस स्कन्धको बादर कहते हैं जैसे जल तैल आदि । जिसका छेदन भेदन अन्यत्र प्रापण कुछ भी न हो सके ऐसे नेत्रसे देखने योग्य स्कन्धको बादरसूक्ष्म कहते हैं, जैसे छाया, आतप, चांदनी आदि । नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रियोंके विषयभूत पुद्गलस्कन्धको सूक्ष्मस्थूल कहते हैं, जैसे शब्द गन्ध रस आदि । जिसका किसी इन्द्रियके द्वारा ग्रहण न हो सके उस पुद्गलस्कन्धको सूक्ष्म कहते हैं, जैसे कर्म । जो स्कन्धरूप नहीं हैं ऐसे अविभागी पुद्गल परमाणुओंको सूक्ष्मसूक्ष्म कहते हैं ।

खंधं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसोत्ति ।

अद्धद्धं च पदेसो अविभागी चैव परमाणू ॥ ६०३ ॥

स्कन्धं सकलसमर्थं तस्य चार्धं भणन्ति देशमिति ।

अर्द्धार्द्धं च प्रदेशमविभागिनं चैव परमाणुम् ॥ ६०३ ॥

अर्थ—जो सर्वांशमें पूर्ण है उसको स्कन्ध कहते हैं । उसके आधेको देश और आधेके आधेको प्रदेश कहते हैं । जो अविभागी है उसको परमाणु कहते हैं ।

॥ इति स्थानस्वरूपाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त फलाधिकारको कहते हैं ।

गदिठाणोग्गहकिरियासाधनभूदं खु होदि धम्मतिथं ।

वत्तणकिरियासाहणभूदो णियमेण कालो दु ॥ ६०४ ॥

गतिस्थानावगाहक्रियासाधनभूतं खलु भवति धर्मत्रयम् ।

वर्तनाक्रियासाधनभूतो नियमेन कालस्तु ॥ ६०४ ॥

अर्थ—गति, स्थिति, अवगाह, इन क्रियाओंके साधन क्रमसे धर्म, अधर्म, आकाश-द्रव्य हैं । और वर्तना क्रियाका साधन काल द्रव्य है । **भावार्थ**—क्षेत्रसे क्षेत्रान्तरकी प्राप्ति-की कारणभूत जीव पुद्गलकी पर्यायविशेषको गति कहते हैं । इस गतिक्रियाका साधन (उदा-सीन निमित्त) धर्मद्रव्य है । जैसे जलमें मच्छियोंकी गतिक्रिया जलके निमित्तसे होती है । गतिविरुद्ध पर्यायको स्थिति कहते हैं । यह पर्याय जीव पुद्गलकी होती है । तथा यह स्थिति-क्रिया अधर्मद्रव्यके निमित्तसे ही होती है । कहीं पर भी रहनेको अवगाह कहते हैं । यह अवगाहक्रिया आकाशद्रव्यके निमित्तसे ही होती है । तथा प्रत्येक पदार्थकी वर्तना क्रिया कालद्रव्यके निमित्तसे होती है । (शङ्का) सूक्ष्म पुद्गलादिक भी एक दूसरेको अव-काश देते हैं, इसलिये अवगाहहेतुत्व आकाशका ही असाधारण लक्षण क्यों कहा ? (समाधान) यद्यपि सूक्ष्म पुद्गलादिक एक दूसरेको अवगाह देते हैं तथापि ये सम्पूर्ण द्रव्योंको अवगाह नहीं दे सकते । समस्त द्रव्योंको अवगाह देनेकी सामर्थ्य आकाशमें ही है । इसलिये आकाशकाही अवगाहहेतुत्व यह असाधारण लक्षण युक्त है । यद्यपि अलो-काकाश किसी द्रव्यको अवगाह नहीं देता, तथापि उसका अवगाह देनेका स्वभाव वहां पर भी है । किन्तु धर्मद्रव्यका निमित्त न मिलनेसे जीवादि अवगाह्य पदार्थ अलोकाकाशमें गमन नहीं करते इसलिये अलोकाकाश किसीको अवगाह नहीं देता ।

जीव और पुद्गलका उपकार (फल) बताते हैं ।

अण्णोण्णवयारेण य जीवा वडुंति पुग्गलाणि पुणो ।

देहादीणिवत्तणकारणभूदा हु णियमेण ॥ ६०५ ॥

अन्योन्योपकारेण च जीवा वर्तन्ते पुद्गलः पुनः ।

देहादिनिर्वर्तनकारणभूता हि नियमेन ॥ ६०५ ॥

अर्थ—जीव परस्परमें उपकार करते हैं । जैसे मेवक स्वामीकी हितसिद्धिमें प्रवृत्त होता है, और स्वामी सेवकको घनादि देकर संतुष्ट करता है । तथा पुद्गल शरीरादि उत्पन्न

करनेमें कारण है । **भावार्थ**—शरीर इन्द्रिय मन आसोच्छ्वास आदिके द्वारा पुद्गलद्रव्य जीवका उपकार करता है । तथा पुद्गलद्रव्य जीवका उपकार करता है यही नहीं किन्तु परस्परमें भी उपकार करता है । जैसे शास्त्रका उपकार गत्ता वेष्टन करते हैं । यहां पर चकारका ग्रहण किया है इसलिये जिस तरह परस्परमें या एक दूसरेको जीव पुद्गल उपकार करते हैं उस ही तरह अपकार भी करते हैं ।

इमी अर्थको दो गाथाओंमें स्पष्ट करते हैं ।

आहारवर्गणादो तिणिण शरीराणि ह्यंति उस्सासो ।

णिस्सासोवि य तेजोवर्गणखंधादु तेजंगं ॥ ६०६ ॥

आहारवर्गणातः त्रीणि शरीराणि भवन्ति उच्छ्वासः ।

निश्वासोपि च तेजोवर्गणास्कन्धात् तेजोऽङ्गम् ॥ ६०६ ॥

अर्थ—तेईम जातिकी वर्गणाओंमेंमे आहारवर्गणाके द्वारा औदारिक वैकियिक आहारक ये तीन शरीर और श्वासोच्छ्वास होते हैं । तथा तेजोवर्गणारूप स्कन्धके द्वारा तैजस शरीर बनता है ।

भासमणवर्गणादो कमेण भासा मणं च कम्मादो ।

अट्टविहकम्मदव्वं होदित्ति जिणेहिं णिद्धिं ॥ ६०७ ॥

भाषामनोवर्गणातः क्रमेण भाषा मनश्च कर्मणतः ।

अष्टविधकर्मद्रव्यं भवतीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६०७ ॥

अर्थ—भाषावर्गणाके द्वारा चार प्रकारका वचन, मनोवर्गणाके द्वारा हृदयस्थानमें अष्ट दल कमलके आकार द्रव्यमन, तथा कर्मण वर्गणाके द्वारा आठ प्रकारके कर्म बनते हैं, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

अविभागी पुद्गल परमाणु स्कन्धरूपमें किस तरह परिणत होती हैं, इसका कारण बताते हैं ।

णिद्धत्तं लुक्खत्तं बंधस्स य कारणं तु एयादी ।

संखेज्जासंखेज्जाणंतविहा णिद्धणुक्खगुणा ॥ ६०८ ॥

स्निग्धत्वं रूक्षत्वं बन्धस्य च कारणं तु एकादयः ।

संख्येयासंख्येयानन्तविधा स्निग्धरूक्षगुणाः ॥ ६०८ ॥

अर्थ—बन्धका कारण स्निग्धत्व या रूक्षत्व है । इस स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुणके एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद हैं । **भावार्थ**—एक किसी गुणविशेषकी स्निग्धत्व और रूक्षत्व ये दो पर्याय हैं । ये ही बन्धकी कारण हैं । इन पर्यायोंके अविभागप्रतिच्छेदोंकी (शक्तिके निरंश अंश) अपेक्षा एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनन्त भेद हैं ।

जैसे स्निग्ध पर्यायके एक अंश दो अंश तीन अंश इत्यादि एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनंत अंश होते हैं और इन्हीकी अपेक्षा एकसे लेकर अनंततक भेद होते हैं । उस ही तरह रूक्षत्व पर्यायके भी एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनंत अंशोंकी अपेक्षा एकसे लेकर अनंत तक भेद होते हैं । अथवा, बन्ध कमसे कम दो परमाणुओंमें होता है । सो ये दोनों परमाणु स्निग्ध हों अथवा रूक्ष हों या एक स्निग्ध एक रूक्ष हो परन्तु बंध हो सकता है । जिस तरह दो परमाणुओंमें बन्ध होता है उस ही तरह संख्यात असंख्यात अनंत परमाणुओंमें भी बन्ध होता है; क्योंकि बन्धका कारण स्निग्धरूक्षत्व है ।

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करते हैं ।

एगगुणं तु जहण्णं णिद्धत्तं विगुणतिगुणसंखेज्जाऽ-

संखेज्जाणंतगुणं होदि तहा रुक्खभावं च ॥ ६०९ ॥

एकगुणं तु जघन्यं स्निग्धत्वं द्विगुणत्रिगुणसंख्येयाऽ-

संख्येयानन्तगुणं भवति तथा रूक्षभावं च ॥ ६०९ ॥

अर्थ—स्निग्धत्वका जो एक निरंश अंश है उसकोही जघन्य कहते हैं । इसके आगे स्निग्धत्वके दो तीन आदि संख्यात असंख्यात अनंत भेद होते हैं । इस ही तरह रूक्षत्वके भी एक अंशको जघन्य कहते हैं । और इसके आगे दो तीन आदि संख्यात असंख्यात अनंत भेद होते हैं ।

एवं गुणसंजुत्ता परमाणू आदिवग्गणांमि ठिया ।

जोग्गदुगाणं बंधे दोण्हं बंधो हवे णियमा ॥ ६१० ॥

एवं गुणसंयुक्ताः परमाणव आदिवर्गणायां स्थिताः ।

योग्यद्विकयोः बंधे द्वयोर्बन्धो भवेन्नियमात् ॥ ६१० ॥

अर्थ—इस प्रकार स्निग्ध या रूक्ष गुणसे युक्त परमाणु अणुवर्गणोंमें ही हैं । इसके आगे दो आदि परमाणुओंका बन्ध होता है, परन्तु यह दोका बन्ध भी तब ही होता है जब कि दोनों नियमसे बन्धके योग्य हों ।

जब कि सामान्यसे बन्धका कारण स्निग्धरूक्षत्व बतादिया तब उसमें योग्यता और अयोग्यता क्या है ? यह बताते हैं ।

णिद्धणिद्धा ण बज्झंति रुक्खरुक्खा य पोग्गला ।

णिद्धलुक्खा य बज्झंति रुवारुवी य पोग्गला ॥ ६११ ॥

स्निग्धस्निग्धा न बध्यन्ते रूक्षरूक्षाश्च पुद्गलाः ।

स्निग्धरूक्षाश्च बध्यन्ते रूप्यरूपिणश्च पुद्गलाः ॥ ६११ ॥

अर्थ—स्निग्ध स्निग्ध पुद्गलका और रूक्ष रूक्ष पुद्गलका परस्परमें बन्ध नहीं होता ।

किन्तु स्निग्ध रूक्ष और रूपी अरूपी पुद्गलोंका परस्परमें बन्ध होता है । **भावार्थ—** यद्यपि यहां पर यह कहा है कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका बन्ध नहीं होता । तथापि यह कथन सामान्य है; क्योंकि आगे चलकर विशेष कथनके द्वारा स्वयं ग्रन्थकार इस बातको स्पष्ट कर देंगे कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका भी बन्ध होता है । और इस ही लिये यहां-पर रूपी अरूपीका बन्ध होता है ऐसा कहा है ।

रूपी अरूपी संज्ञा किसकी है यह बताते हैं ।

णिन्द्रिदरोलीमज्झे विसरिसजादिस्स समगुणं एकं ।

रुवित्ति होदि सण्णा सेसाणं ता अरुवित्ति ॥ ६१२ ॥

स्निग्धेतरावलीमध्ये विसदृशजातेः समगुण एकः ।

रूपीति भवति संज्ञा शेषाणां ते अरूपिण इति ॥ ६१२ ॥

अर्थ—स्निग्ध और रूक्षकी श्रेणिमें जो विसदृश जातिका एक समगुण है उसकी रूपी संज्ञा है । और समगुणको छोड़कर अवशिष्ट सबकी अरूपी संज्ञा है । **भावार्थ—**जब कि विसदृश जातिके एक समगुणकी ही रूपी संज्ञा है और शेषकी अरूपी, और रूपी अरूपीका बन्ध होता है, तब यह सिद्ध है कि स्निग्धस्निग्ध और रूक्षरूक्षका भी बन्ध होता है । स्निग्धकी अपेक्षा रूक्ष और रूक्षकी अपेक्षा स्निग्ध विसदृश होता है ।

रूपी अरूपीका उदाहरण दिखते हैं ।

दोगुणणिद्धाणुस्स य दोगुणलुक्खाणुगं हवे रूवी ।

इगितिगुणादि अरूवी रुक्खस्स वि तंव इदि जाणे ॥ ६१३ ॥

द्विगुणस्निग्धाणोश्च द्विगुणरूक्षाणुको भवेत् रूपी ।

एकत्रिगुणादिः अरूपी रूक्षस्यापि तद्व इति जानीहि ॥ ६१३ ॥

अर्थ—स्निग्धके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा रूक्षका दोगुण युक्त परमाणु रूपी है शेष एक तीन चार आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं । इस ही तरह रूक्षका भी समझना चाहिये । **भावार्थ—**रूक्षके दो गुणोंसे युक्त परमाणुकी अपेक्षा स्निग्धके दो गुणोंसे युक्त परमाणु रूपी है और शेष एक तीन आदि गुणोंके धारक परमाणु अरूपी हैं ।

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिण ।

णिद्धस्स लुक्खेण हवेज्ज बंधो जहणणवज्जे विसमे समे वा ॥ ६१४ ॥

स्निग्धस्य स्निग्धेन व्यधिकेन रूक्षस्य रूक्षेण व्यधिकेन ।

स्निग्धस्य रूक्षेण भवेद्बन्धो जघन्यवर्ज्ये विषमे समे वा ॥ ६१४ ॥

अर्थ—एक स्निग्ध परमाणुका दूसरी दो गुण अधिक स्निग्ध परमाणुके साथ बन्ध

होता है । एक रूक्ष परमाणुका दूसरी दो गुण अधिक रूक्ष परमाणुके साथ बन्ध होता है । एक स्निग्ध परमाणुका दूसरी दो गुण अधिक रूक्ष परमाणुके साथ भी बन्ध होता है । सम विषम दोनोंका बन्ध होता है; किन्तु जघन्यगुणवालेका बन्ध नहीं होता । **भावार्थ**—एक गुणवालेका तीनगुणवाले परमाणुके साथ बन्ध नहीं होता । शेष स्निग्ध या रूक्ष दोनों जातिके परमाणुओंका समधारा या विषमधारामें दो गुण अधिक होनेपर बन्ध होता है । दो चार छह आठ दश इत्यादि जहां पर दोके ऊपर दो दो अंशोंकी अधिकता हो उसको समधारा कहते हैं । तीन पांच सात नौ ग्यारह इत्यादि जहां पर तीनके ऊपर दो दो अंशोंकी वृद्धि हो उसको विषमधारा कहते हैं । इन दोनों धाराओंमें जघन्य गुणको छोड़कर दो गुण अधिकका ही बन्ध होता है औरका नहीं ।

णिन्द्रिदरे समविसमा दोत्तिगआदी दुउत्तरा होंति ।

उभयेवि य समविसमा सरिसिदरा होंति पत्तेयं ॥ ६१५ ॥

स्निग्धेतरयोः समविषमा द्वित्रिकादयः व्युत्तरा भवन्ति ।

उभयेऽपि च समविषमाः षटशेतरे भवन्ति प्रत्येकम् ॥ ६१५ ॥

अर्थ—स्निग्ध और रूक्ष दोनोंमेंही दोगुणके ऊपर जहां दो २ की वृद्धि हो वहां समधारा होती है । और जहां तीन गुणके ऊपर दो २ की वृद्धि हो उसको विषमधारा कहते हैं । सो स्निग्ध और रूक्ष दोनोंमेंही दोनों ही धारा होती हैं । तथा प्रत्येक धारामें रूपी और अरूपी होते हैं ।

इस ही अर्थको प्रकारान्तरसे स्पष्ट करते हैं ।

दोत्तिगपभवदुउत्तरगदेसणंतरदुगाण बंधो दु ।

णिन्द्रे लुक्खे वि तहावि जहण्णुभयेवि सव्वत्थ ॥ ६१६ ॥

द्वित्रिकप्रभवद्वयुत्तरगतेष्वनन्तरद्विकयोः बन्धस्तु ।

स्निग्धे रूक्षे पि तथापि जघन्योभयेऽपि सर्वत्र ॥ ६१६ ॥

अर्थ—स्निग्ध या रूक्ष गुणमें समधारामें दो अंशोंके आगे दो दो अंशोंकी वृद्धि होती है । और विषमधारामें तीनके आगे दो २ की वृद्धि होती है । सो इन दोनोंमें ही अनन्तरद्विकका बन्ध होता है । जैसे दो गुणवाले स्निग्ध या रूक्षका चारगुणवाले स्निग्ध या रूक्षके साथ, तथा तीनगुणवाले स्निग्ध या रूक्षका पांच गुणवाले स्निग्ध या रूक्षके साथ बन्ध होता है । इसी तरह आगे भी समझना चाहिये । किन्तु जघन्यका बन्ध नहीं होता । दूसरी सब जगह स्निग्ध और रूक्षमें बंध होता है । **भावार्थ**—स्निग्ध या रूक्ष गुणसे युक्त जिन दो पुद्गलोंमें बन्ध होता है उनको स्निग्ध या रूक्ष गुणके अंशोंमें दो अंशोंका अंतर होना चाहिये । जैसे दो चार, तीन पांच, चार छह, पांच सात इत्यादि । इस तरह दो अंश अधिक

रहनेपर सर्वत्र बंध होता है । इस नियमके अनुसार एकगुणवाले और तीनगुणवालेका भी बंध होना चाहिये, किन्तु सो नहीं होता; क्योंकि यह नियम है कि जघन्य गुणवालेका बंध नहीं होता । अतएव एक गुणवालेका तीन गुणवालेके साथ बंध नहीं होता; किन्तु तीन गुणवालेका पांच गुणवालेके साथ बंध हो सकता है; क्योंकि तीन गुणवाला जघन्यगुणवाला नहीं है, एक-गुणवालेको ही जघन्य गुणवाला कहते हैं ।

णिद्धिद्वरगुणाणू सपरट्ठाणेवि णेदि बंधट्ठं ।

बहिरंतरंगहेदुहि गुणंतरं संगदे एदि ॥ ६१७ ॥

स्निग्धेतरावरगुणाणुः स्वपरस्थानेऽपि नैति बन्धार्थम् ।

बहिरंतरङ्गहेतुभिर्गुणान्तरं संगते एति ॥ ६१७ ॥

अर्थ—स्निग्ध या रूक्षका जघन्य गुणवाला परमाणु स्वस्थान या परस्थान कहीं भी बन्धको प्राप्त नहीं होता । किन्तु बाह्य और अन्तरङ्ग कारणके निमित्तसे किसी दूसरे गुणवाला—अंशवाला होने पर बन्धको प्राप्त होते हैं । **भावार्थ—**स्निग्ध या रूक्ष गुणका जब एक अंश—अविभागप्रतिच्छेद—रूप परिणमन होता है तब उसका न स्वस्थानमें बंध होता है और न परस्थानमें बंध होता है । किन्तु बाह्य अभ्यन्तर कारणके निमित्तसे जब जघन्य स्थानको छोड़कर अधिक अंशरूप परिणमन होजाय तब वे ही स्निग्ध रूक्ष गुण बंधको प्राप्त हो सकते हैं ।

णिद्धिद्वरगुणा अहिया हीणं परिणामयंति बंधम्मि ।

संखेज्जासंखेज्जाणंतपदेसाण खंधाणं ॥ ६१८ ॥

स्निग्धेतरगुणा अधिका हीनं परिणामयंति बन्धे ।

संख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशानां स्कन्धानाम् ॥ ६१८ ॥

अर्थ—संख्यात असंख्यात अनंतप्रदेशवाले स्कन्धोंमें स्निग्ध या रूक्षके अधिक गुणवाले परमाणु या स्कन्ध अपने से हीनगुणवाले परमाणु या स्कन्धोंको अपनेरूप परणमाते हैं । जैसे एक हजार स्निग्ध या रूक्ष गुणके अंशोंसे युक्त परमाणु या स्कन्धको एक हजार दो अंशवाला स्निग्ध या रूक्ष परमाणु या स्कन्ध परणमाता है । इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिये ।

॥ इति फलाधिकारः ॥

इस तरह सात अधिकारोंके द्वारा छह द्रव्योंका वर्णन करके अब पंचास्तिकायका वर्णन करते हैं ।

द्वब्बं छक्कमकालं पंचत्थीकायसण्णिदं होदि ।

काले पदेसपचयो जम्हा णत्थित्ति णिद्धिं ॥ ६१९ ॥

द्रव्यं षड्भूतकालं पञ्चास्तिकायसंज्ञितं भवति ।

काले प्रदेशप्रचयो यस्मात् नास्तीति निर्दिष्टम् ॥०६१५॥

अर्थ—कालमें प्रदेशप्रचय नहीं है इसलिये कालको छोड़कर शेष द्रव्योंको ही पञ्चास्तिकाय कहते हैं । **भावार्थ—**जो सद्व्यपक हो उसको अस्ति कहते हैं । और जिनके प्रदेश अनेक हों उनको काय कहते हैं । काय दो प्रकारके होते हैं, एक मुख्य दूसरा उपचरित । जो अखण्डप्रदेशी हैं उन द्रव्योंको मुख्य काय कहते हैं । जैसे जीव धर्म अधर्म आकाश । जिसके प्रदेश तो खण्डित हैं; किन्तु स्निग्ध रूक्ष गुणके निमित्तसे परस्परमें बन्ध होकर जिनमें एकत्व होगया हो, अथवा बन्ध होकर एकत्व होनेकी जिसमें सम्भावना हो उसको उपचरित काय कहते हैं, जैसे पुद्गल । किन्तु कालद्रव्य स्वयं अनेकप्रदेशी न होनेसे मुख्य काय भी नहीं हैं । और स्निग्ध रूक्ष गुण न होनेसे बन्ध होकर एकत्वकी भी उसमें सम्भावना नहीं है, इसलिये वह (काल) उपचरित काय भी नहीं है । अतः कालद्रव्यको छोड़कर शेष जीव पुद्गल धर्म अधर्म आकाश इन पांच द्रव्योंको ही पञ्चास्तिकाय कहते हैं । और कालद्रव्यको कायरूप नहीं किन्तु अस्तिरूप कहते हैं ।

नव पदार्थोंको बताते हैं ।

नव य पद्वत्था जीवाजीवा ताणं च पुण्णपावदुगं ।

आसवसंवरणिज्जरबंधा मोक्खो य होतित्ति ॥ ६२० ॥

नव च पदार्था जीवाजीवाः तेषां च पुण्यपापद्विक्रमः ।

आस्रवसंवरनिर्जराबन्धा मोक्षश्च भवन्तीति ॥ ६२० ॥

अर्थ—मूलमें जीव और अजीव ये दो पदार्थ हैं । इन हीके सम्बन्धसे पुण्य और पाप ये दो पदार्थ होते हैं । इसलिये चारपदार्थ हुए । तथा पुण्यपापके आस्रव बंध संवर निर्जरा मोक्ष पांच पदार्थ होते हैं । इसलिये सब मिलाकर नव पदार्थ होते हैं । **भावार्थ—**जिसमें ज्ञानदर्शनरूप चेतना पाई जाय उसको जीव कहते हैं । जिसमें चेतना न हो उसको अजीव कहते हैं । शुभ कर्मोंको पुण्य और अशुभ कर्मोंको पाप कहते हैं । कर्मोंके आनेके द्वाराको, या मन वचन कायके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेशपरिस्पन्दको, अथवा बन्धके कारणको आस्रव कहते हैं । अनेक पदार्थोंमें एकत्वबुद्धिके उत्पादक सम्बन्धविशेषको अथवा आत्मा और कर्मके एकस्वेनावगाहरूप सम्बन्धविशेषको बन्ध कहते हैं । आस्रवके निरोधको संवर कहते हैं । बद्ध कर्मोंके एकदेश क्षयको निर्जरा कहते हैं । आत्मासे समस्त कर्मोंके छूट जानेको मोक्ष कहते हैं । ये ही नव पदार्थ हैं ।

जीवदुगं उच्चदं जीवा पुण्णा हु सम्मगुणसहिदा ।

वदसहिदावि य पावा तव्विवरीया हवन्ति ॥ ६२१ ॥

जीवद्विकमुक्तार्थं जीवाः पुण्या हि सम्यक्त्वगुणसहिताः ।
व्रतसहिता अपि च पापास्तद्विपरीता भवन्तीति ॥ ६२१ ॥

अर्थ—जीव और अजीवका अर्थ पहले बता चुके हैं । जीवके भी दो भेद हैं, एक पुण्य और दूसरा पाप । जो सम्यक्त्वगुणसे या व्रतसे युक्त हैं उनको पुण्य जीव कहते हैं । और इससे जो विपरीत हैं उनको पाप जीव कहते हैं ।

गुणस्थानक्रमकी अपेक्षासे जीवराशिकी संख्या बताते हैं ।

मिच्छाद्वितीया पावा णंताणंता य सासणगुणावि ।

पल्लासंखेज्जदिमा अणअणदरुदयमिच्छगुणा ॥ ६२२ ॥

मिथ्यादृष्टयः पापा अनन्तानन्ताश्च सासनगुणा अपि ।

पल्यासंख्येया अनान्यतरोदयमिथ्यात्वगुणाः ॥ ६२२ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि पाप जीव हैं ये अनन्तानंत हैं; क्योंकि द्वितीयादि तेरह गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण घटानेमें अवशिष्ट समस्त संसारी जीवराशि मिथ्यादृष्टि ही है । तथा सासादन गुणस्थानवाले जीव पल्यके असंख्यातमे भाग हैं । और ये भी पाप जीव ही हैं; क्योंकि अनंतानुबंधी चार कषायोंमेंसे किसी एक कषायका इसके उदय हो-रहा है । इसलिये यह मिथ्यात्व गुणको प्राप्त है । **भावार्थ**—सासादन गुणस्थानवालेका पहले यह लक्षण कह आये हैं कि “ किसी एक अनंतानुबंधी कषायके उदयसे जो सम्यक्त्वरूपी रत्नपर्वतसे तो गिरपड़ा है; किन्तु मिथ्यात्वरूप भूमिके सन्मुख है—अर्थात् अभी-तक जिसने मिथ्यात्वभूमिको ग्रहण नहीं किया है, किन्तु एक समयसे लेकर छह आवली-तकके कालमें नियमसे वह उस मिथ्यात्व भूमिको ग्रहण करलेगा ऐसे जीवको सासादन-गुणस्थानवाला कहते हैं । ” अतः इस गुणस्थानवाले जीवोंको पुण्य जीव नहीं कह सकते; क्योंकि अनंतानुबंधी कषायके उदयसे इनका सम्यक्त्वगुण भी नष्ट हो चुका है और इनके किसी प्रकारका व्रत भी नहीं है । किन्तु नियमसे ये मिथ्यात्व गुणस्थानको प्राप्त होंगे इसलिये इनको मिथ्यादृष्टि-पाप जीव ही कहते हैं । इन जीवोंकी संख्या पल्यके असंख्यातमे भाग है । और मिथ्यादृष्टि जीवोंकी संख्या अनन्तानंत है ।

मिच्छा सावयसासणमिस्साविरदा दुवारणंता य ।

पल्लासंखेज्जदिममसंखगुणं संखसंखगुणं ॥ ६२३ ॥

मिथ्याः श्रावकसासनमिश्राविरता द्विवारानन्ताश्च ।

पल्यासंख्येयमसंख्यगुणं संख्यासंख्यगुणम् ॥ ६२३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि अनन्तानंत हैं । श्रावक पल्यके असंख्यातमे भाग हैं । सासादन गुणस्थानवाले श्रावकोंसे असंख्यातगुणे हैं । मिश्र सासादनवालोंसे संख्यातगुणे हैं । अव्रतस-

म्यगृष्टि मिश्रजीवोंसे असंख्यातगुणे हैं । इनमें अन्तके चार स्थानोंमें कल २ अधिक समझना चाहिये । **भावार्थ**—मनुष्य और तिर्यच इन दो गतियोंमें ही देशांतरंयम गुणस्थान होता है । इनमें तेरह करोड़ मनुष्य और पल्यके असंख्यातमे भाग तिर्यच हैं । सासादन गुणस्थान चारों गतियोंमें होता है । इनमें बावन करोड़ मनुष्य और श्रावकोंसे असंख्यातगुणे इतर तीन गतिके जीव हैं । मिश्रगुणस्थान भी चारो गतियोंमें होता है इनमें एकसौ चार करोड़ मनुष्य और सासादनवालोंसे संख्यातगुणे शेष तीन गतिके जीव हैं । तथा अत्रत गुणस्थान भी चारों गतियोंमें होता है । इनमें सातसौ करोड़ मनुष्य हैं और मिश्रवालोंसे असंख्यातगुणे शेष तीन गतिके जीव हैं ।

तिरधियसयणवणउदी छण्णउदी अप्पमत्त वे कोडी ।

पंचेव य तेणउदी णवट्टविसयच्छउत्तरं पमदे ॥ ६२४ ॥

अधिकशतनवनवतिः पणवतिः अप्रमत्ते द्वे कोटी ।

पञ्चैव च त्रिनवतिः नवाष्टद्विशतपटुत्तरं प्रमत्ते ॥ ६२४ ॥

अर्थ—प्रमत्त गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण पांच करोड़ त्रिगानवे लाख अठानवे हजार दो सौ छह है (५९३९८२०६) । अप्रमत्त गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण दो करोड़ छद्यानवे लाख निन्यानवे हजार एक सौ तनि (२९६९९१०३) है ।

तिसयं भणंति केई चउरुत्तरमत्थपंचयं केई ।

उवसामगपरिमाणं खवगाणं जाण तहुगुणं ॥ ६२५ ॥

त्रिशतं भणन्ति केचित् चतुस्तुरमस्तपञ्चकं केचित् ।

उपशमकपरिमाणं क्षपकाणां जानीहि तद्दिगुणम् ॥ ६२५ ॥

अर्थ—उपशमश्रेणिवाले आठवें नौमे दशमे म्यारहमे गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण कोई आचार्य तीनसौ कहते हैं । कोई तनि सौ चार कहते हैं । कोई दो सौ निन्यानवे कहते हैं । क्षपकश्रेणिवाले आठमे नौमे दशमे बारहमे गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण उपशम श्रेणिवालोंसे दूना है ।

उपशमश्रेणिवाले तनि सौ चार जीवोंका निरंतर आठ समयोंमें विभाग करते हैं ।

सोलसयं चउवीसं तीसं छत्तीस तह य बाव्वालं ।

अट्ठवालं चउवण्णं चउवण्णं होंति उवसमगे ॥ ६२६ ॥

षोडशकं चतुर्विंशतिः त्रिंशत् षट्त्रिंशत् तथा च द्वाचत्वारिंशत् ।

अष्टचत्वारिंशत् चतुःपञ्चाशत् चतुःषष्ट्याशत् भवन्ति उपशमके ॥ ६२६ ॥

अर्थ—निरंतर आठ समयपर्यन्त उपशमश्रेणि मांडनेवाले जीवोंमें अधिकसे अधिक प्रथम समयमें १६, द्वितीय समयमें २४, तृतीय समयमें ३०, चतुर्थ समयमें ३६, पांचमे समयमें ४२, छठे समयमें ४८, सातमेमें ५४, और आठमेमें ५४, जीव होते हैं ।

वत्तीसं अडदालं सट्टी वावत्तरी य चुलसीदी ।

छण्णउदी अट्टत्तरसयमट्टत्तरसयं च खवगेसु ॥ ६२७ ॥

द्वात्रिंशदष्टत्वारिंशत् पाष्ठिः द्वासप्ततिश्च चतुरशीतिः ।

पण्णवतिः अष्टोत्तरशतमष्टोत्तरशतं च क्षपकेपु ॥ ६२७ ॥

अर्थ—अंतरायरहित आठ समयपर्यन्त क्षपकश्रेणि माडनेवाले जीव अधिकसे अधिक, उपर्युक्त आठ समयोंमें होनेवाले उपशमश्रेणि वालोंसे दूने होते हैं । इनमेंसे प्रथम समयमें ३२, दूसरे समयमें ४८, तीसरे समयमें ६०, चतुर्थ समयमें ७२, पांचमे समयमें ८४, छठे समयमें ९६, सातमे समयमें १०८, आठमे समयमें १०८ होते हैं ।

अट्ठेव सयसहस्सा अट्टाणउदी तथा सहस्साणं ।

संखा जोगिजिणाणं पंचसयविउत्तरं वंदे ॥ ६२८ ॥

अष्टैव शतसहस्राणि अष्टानवतिस्तथा सहस्राणाम् ।

संख्या योगिजिनानां पंचशतव्युत्तरं वन्दे ॥ ६२८ ॥

अर्थ—सयोगकेवली जिनोंकी संख्या आठ लाख अठानवे हजार पांचसौ दो है । इनकी मैं सदाकाल बन्दना करता हूं । **भावार्थ—**निरंतर आठ समयोंमें एकत्रित होनेवाले सयोगी जिनकी संख्या दूसरे आचार्यकी अपेक्षासे इस प्रकार कही है कि “ छसु सुद्धसमयेसु तिण्णि तिण्णि जीवा केवलमुप्पाययंति, दोसु समयेसु दो दो जीवा केवल मुप्पाययंति एवमट्ठसमयसंचिद-जीवा बावीसा हवंति ” अर्थात् आठ समयोंमेंसे छह समयोंमें प्रति समय तीन तीन जीव केवल-ज्ञानको उत्पन्न करते हैं, और दो समयोंमें दो दो जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं । इस तरह आठ समयोंमें वाईस सयोगी जिन होते हैं ।

जब केवलज्ञानके उत्पन्न होनेमें छह महीनाका अंतराल होता है तब अन्तराल नष्ट होनेसे निरंतर आठ समयोंमें वाईस केवली होते हैं । इसके विशेष कथनमें छह प्रकारका त्रैराशिक होता है । प्रथम यह कि जब छह महीना आठ समयमात्र कालमें वाईस केवली होते हैं । तब आठ लाख अठानवे हजार पांच सौ दो केवली कितने कालमें होंगे । इसका चालीस हजार आठसौ इकतालीसको छह महीना आठ समयोंमें गुणा करनेपर जो कालका प्रमाण लब्ध आवे वही उत्तर होगा । दूसरा छह महीना आठ समयोंमें निरंतर केवलज्ञान उत्पन्न होनेका काल आठ समय है तब पूर्वोक्त प्रमाण कालमें कितने समय होंगे । इसका उत्तर तीन लाख छब्बीस हजार सात सौ अठाईस है । तथा दूसरे आचार्योंके मतकी अपेक्षा आठ समयोंमें वाईस या चवालीस या अठासी या एकसौ छिहत्तर जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करते हैं तब पूर्वोक्त समयप्रमाणमें या उसके आधेमें या चतुर्थांशमें या अष्टमांशमें कितने जीव केवलज्ञानको उत्पन्न करेंगे । इन चार प्रकारके त्रैराशिकोंका उत्तर आठ लाख अठानवे हजार पांचसौ दो होता है ।

क्षपक तथा उपशमक जीवोंकी युगपत् सम्भवती विशेष संख्या को तीन गाथाओंमें कहते हैं ।

होति खवा इगिसमये बोहियबुद्धा य पुरिसवेदा य ।
उक्कस्सेणहुत्तरसयप्पमा सग्गदो य चुदा ॥ ६२९ ॥
पत्तेयबुद्धतित्थयरत्थिणउंसयमणोहिणाणजुदा ।
दसछक्कवीसदसवीसट्ठावीसं जहाकमसो ॥ ६३० ॥
जेट्ठावरबहुमज्झिमओगाहणगा दु चारि अट्ठेव ।
जुगवं हवंति खवगा उवसमगा अद्धमेदेसि ॥ ६३१ ॥

भवन्ति क्षपका एकसमये बोधितबुद्धाश्च पुरुषवेदाश्च ।
उत्कृष्टेनाष्टोत्तरशतप्रमाः स्वर्गतश्च च्युताः ॥ ६२९ ॥
प्रत्येकबुद्धतीर्थंकरस्त्रीपुंनपुंसकमनोवधिज्ञानयुताः ।
दशषट्कविंशतिदशविंशत्यष्टाविंशो यथाक्रमशः ॥ ६३० ॥
ज्येष्ठावरबहुमध्यमावगाहा द्वौ चत्वारोऽष्टौ ।
युगपत् भवन्ति क्षपका उपशमका अर्धमेतेषाम् ॥ ६३१ ॥

अर्थ—युगपत्—एक समयमें क्षपकश्रेणिवाले जीव अधिकसे अधिक होते हैं तो कितने होते हैं ? उसका हिसाब इस प्रकार है कि बोधितबुद्ध एकसौ आठ, पुरुषवेदी एकसौ आठ, स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य होकर क्षपकश्रेणि माइनेवाले एकसौ आठ, प्रत्येकबुद्धि ऋद्धिके धारक दश, तीर्थंकर छह, स्त्रीवेदी बीस, नपुंसकवेदी दश, मनःपर्ययज्ञानी बीस, अवधिज्ञानी अट्ठाईस, मुक्त होनेके योग्य शरीरकी उत्कृष्ट अवगाहनाके धारक दो, जघन्य अवगाहनाके धारक चार, समस्त अवगाहनाओंके मध्यवर्ती अवगाहनाके धारक आठ । ये सब मिलकर चारसौ बत्तीस होते हैं । उपशमश्रेणिवाले इसके आधे (२१६) होते हैं । **भावार्थ**—पहले तो गुणस्थानमें एकत्रित होनेवाले जीवोंकी संख्या बताई थी, और यहां पर श्रेणिमें युगपत् सम्भवती जीवोंकी उत्कृष्ट संख्या बताई है ।

सर्व संयमी जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

सत्तावी अट्ठंता छण्णवमज्झा य संजदा सव्वे ।
अजलिमौलियहत्थो तियरणसुद्धे णमंसामि ॥ ६३२ ॥

सप्तदयोऽष्टान्ताः षण्णवमध्याश्च संयताः सर्वे ।
अजलिमौलिकहस्तस्त्रिकरणशुद्ध्या नैमस्यामि ॥ ६३२ ॥

अर्थ—छट्टे गुणस्थानसे लेकर चौदहमे गुणस्थानतकके सर्व संयमियोंका प्रमाण तीन कम नव करोड़ है (८९९९९९९७) । इनको मैं हाथ जोड़कर शिर नवाकर मन वचन कायकी शुद्धिपूर्वक नमस्कार करता हूं । **भावार्थ—**प्रमत्तवाले जीव (५९३९८२०६) अप्रमत्तवाले (२९६९९१०३) उपशमश्रेणीवाले चारो गुणस्थानवर्ती (११९६) क्षपक-श्रेणीवाले चार गुणस्थानवर्ती (२३९२) संयोगी जिन (८९८५०२) इन सबका जोड़ (८९९९९३९९) होता है सो इसको सर्वसंयमियोंके प्रमाणमेंसे घटाने पर शेष अयोगी जीवोंका प्रमाण (५९८) रहता है । इसको संयमियोंके प्रमाणमें जोड़नेसे संयमियोंका कुल-प्रमाण तीन कम नौ करोड़ होता है ।

चारो गतिसम्बन्धी मिश्र्यादृष्टि सासादन मिश्र और अविरत इनकी संख्याके साधकभूत पर्यके भागहारका विशेष वर्णन करते हैं ।

ओघासंजदमिस्सयसासणसम्माणभागहारा जे ।

रूऊणावलियासंखेज्जेणिह भजिय तत्थ णिक्खित्ते ॥ ६३३ ॥

देवाणं अवहारा होंति असंखेण ताणि अवहरिय ।

तत्थेव य पक्खित्ते सोहम्मीसाण अवहारा ॥ ६३४ ॥

ओघा असंयतमिश्रकसासनसमीचां भागहारा ये ।

रूपोनावलिकासंख्यातेनेह भक्त्वा तत्र निक्षिप्ते ॥ ६३३ ॥

देवानामवहारा भवन्ति असंख्येन तानवहृत्य ।

तत्रैव च प्रक्षिप्ते सौधर्मैशानावहाराः ॥ ६३४ ॥

अर्थ—गुणस्थानसंख्यामें असंयत मिश्र सासादनके भागहारोंका जो प्रमाण बताया है उसमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे देवगतिसम्बन्धी भागहारका प्रमाण होता है । तथा देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे सौधर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी भागहारका प्रमाण होता है । **भावार्थ—**जहां जहांका जितना २ भागहारका प्रमाण बताया है उस २ भागहारका पर्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने २ ही वहां २ जीव समझने चाहिये । पहले गुणस्थानसंख्यामें असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण एकवार असंख्यात कहाथा, इसमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको भागहारके प्रमाणमें मिलानेसे देवगतिसम्बन्धी असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण होता है, इस देवगतिसम्बन्धी भागहारके प्रमाणका पर्यमें भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतने देवगतिसम्बन्धी असंयत-गुणस्थानवर्ती जीव हैं । तथा देवगतिसम्बन्धी असंयतगुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है उसमें एक कम आवलीके असंख्यातमे भागका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उसको उस

भागहारमें मिलावेसे सौधर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी असंयतगुणस्थानके भागहारका प्रमाण होता है। इस भागहारका पर्यमें भाग देनेमें जो लब्ध आवे उतना सौधर्म ईशान स्वर्गसम्बन्धी असंयत गुणस्थानवर्ती जीवोंका प्रमाण है। इसी तरह मिश्र और सासादनने भागहारका प्रमाण भी समझना चाहिये।

सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके असंयत मिश्र सासादनसम्बन्धी भागहारका प्रमाण बताते हैं।

सोहम्मसाणहारमसंखेण य संखरूवसंगुणिदे ।

उवरि असंजदामिस्सयसासणसम्माण अवहारा ॥ ६३५ ॥

सौधर्मेशानहारमसंख्येन च संख्यरूपसंगुणिते ।

उपरि असंयतमिश्रकसामनसमीचामवहारः ॥ ६३५ ॥

अर्थ—सौधर्म ईशान स्वर्गके सासादन गुणस्थानमें जो भागहारका प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गके असंयतगुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। इससे असंख्यातगुणा मिश्र गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है। तथा मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादन गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है।

इस गुणितक्रमकी व्याप्तिको बताते हैं।

सोहम्मादासारं जोइसिवणभवनतिरियणुढवीसु ।

अविरदामिस्से संखं संखासंखगुण सासणे देसे ॥ ६३६ ॥

सौधर्मादासहस्रारं ज्योतिषिवनभवनतिर्यक्पृथ्वीषु ।

अविरतमिश्रेऽसंख्यं संख्यासंख्यगुणं सासने देशे ॥ ६३६ ॥

अर्थ—सौधर्म स्वर्गसे लेकर सहस्रार स्वर्गपर्यन्त, ज्योतिषी, व्यंतर, भवनवासी, तिर्यक्, सातों नरकपृथ्वी, इनके अविरत और मिश्र गुणस्थानमें असंख्यातका गुणक्रम है। और सासादन गुणस्थानमें संख्यातका तथा देशसंयम गुणस्थानमें असंख्यातका गुणक्रम समझना चाहिये। **भावार्थ**—सौधर्म ईशान स्वर्गके आगे सानत्कुमार माहेन्द्रके असंयत मिश्र सासादन गुणस्थानके भागहारोंका प्रमाण बता चुके हैं। इसमें सासादन गुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा ब्रह्म ब्रह्मोत्तरके असंयत गुणस्थानका भागहार है। इससे असंख्यातगुणा मिश्रका भागहार और मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादनका भागहार है। ब्रह्म ब्रह्मोत्तरसम्बन्धी सासादनके भागहारसे असंख्यातगुणा लांठव कापिष्ठके असंयत गुणस्थान सम्बन्धी भागहारका प्रमाण है। और इससे असंख्यातगुणा मिश्रका भागहार और मिश्रके भागहारसे संख्यातगुणा सासादनका भागहार है। इसी क्रमके अनुसार शुक महाशुक्रमे लेकर सातवीं पृथ्वीतकके असंयत मिश्र सासादनसम्बन्धी भागहारोंका प्रमाण समझना चाहिये। विशेष-

पता यह है कि देशसंयम गुणस्थान स्वर्गोंमें तथा नरकोंमें नहीं होता; किन्तु तिर्यञ्चोंमें होता है । इसलिये तिर्यचोंमें जो सासादनके भागहारका प्रमाण है उससे असंख्यातगुणा तिर्यचोंके देशव्रत गुणस्थानका भागहार है । तथा तिर्यचोंके देशसंयम गुणस्थानके भागहारका जो प्रमाण है वही प्रथम नरकके असंयत गुणस्थानके भागहारका प्रमाण है । किन्तु देशव्रतके भागहारका प्रमाण स्वर्ग तथा नरकोंमें नहीं है ।

आनतादिकमें गुणितक्रमकी व्याप्तिको तीन गाथाओंद्वारा बताते हैं ।

चरमधरासानहारा आणदसम्माण आरणप्पहुदिं ।

अंतिमगवेच्चंतं सम्माणमसंखसंखगुणहारा ॥ ६३७ ॥

चरमधरासानहारादानतसमीचामारणप्रभृति ।

अंतिमप्रैवेयकान्तं समीचामसंख्यसंख्यगुणहाराः ॥ ६३७ ॥

अर्थ—सप्तम पृथ्वीके सासादनसम्बन्धी भागहारसे आनत प्राणतके असंयतका भागहार असंख्यातगुणा है । तथा इसके आगे आरण अच्युतसे लेकर नौमें प्रैवेयकपर्यंत दश स्थानोंमें असंयतका भागहार क्रमसे संख्यातगुणा २ है ।

तत्तो ताणुत्ताणं वामाणमणुद्विसाण विजयादि ।

सम्माणं संखगुणो आणदमिस्से असंखगणो ॥ ६३८ ॥

ततस्तेषामुक्तानां वामानामनुदिशानां विजयादि— ।

समीचां संख्यगुण आनतमिश्रे असंख्यगुणः ॥ ६३८ ॥

अर्थ—इसके अनंतर आनत प्राणतसे लेकर नवम प्रैवेयक पर्यंतके मिथ्यादृष्टि जीवोंका भागहार क्रमसे अंतिम प्रैवेयक सम्बन्धी असंयतके भागहारसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा है । इस अंतिम प्रैवेयक सम्बन्धी मिथ्यादृष्टिके भागहारसे क्रमपूर्वक संख्यातगुणा संख्यातगुणा नव अनुदिश और विजय वैजयंत जयंत अपराजितके असंयतोंका भागहार है । विजयादिकसम्बन्धी असंयतके भागहारसे आनत प्राणत सम्बन्धी मिश्रका भागहार असंख्यातगुणा है ।

तत्तो संखेज्जगुणो सासणसम्माण होदि संखगुणो ।

उत्तट्टाणे कमसो पणछस्सत्तठ्ठचदुरसंदिट्ठी ॥ ६३९ ॥

ततः संख्येयगुणः सासनसमीचां भवति संख्यगुणः ।

उक्तस्थाने क्रमशः पञ्चषट्कुसाष्टचतुःसंदिष्टिः ॥ ६३९ ॥

१-२-३- इन स्थानोंमें संख्यातकी सहनानी क्रमसे पांच अंक छह अंक तथा सातका अंक है । इस बातको आगेके गाथामें कहेंगे ।

अर्थ—आनत प्राणतसम्बन्धी मिश्रके भागहारसे, आरण अच्युतसे लेकर नवम त्रैवे-
यक पर्यंत दश स्थानोंमें मिश्रसम्बन्धी भागहारका प्रमाण क्रमसे संख्यातगुणा संख्यातगुणा है ।
यहांपर संख्यातकी सहनानी आठका अंक है । अंतिम त्रैवेयकसम्बन्धी मिश्रके भागहारसे आनत
प्राणतसे लेकर नवम त्रैवेयकपर्यंत ग्यारह स्थानोंमें सासादनसम्बद्धीके भागहारका प्रमाण
क्रमसे संख्यातगुणा २ है । यहां पर संख्यातकी सहनानी चारका अंक है । इन पूर्वोक्त पांच
स्थानोंमें संख्यातकी सहनानी क्रमसे पांच, छह, सात, आठ, और चारके अंक हैं ।

सगसगववहारेहिं पल्ले भजिदे हवन्ति सगरासी ।

सगसगगुणपडिवण्णे सगसगरासीसु अवणिदे वामा ॥ ६४० ॥

स्वकस्वकावहारैः पल्ये मक्ते भवन्ति स्वकराशयः ।

स्वकस्वकगुणप्रतिपन्नेषु स्वकस्वकराशिषु अपनीतेषु वामाः ॥ ६४० ॥

अर्थ—अपने २ भागहारका पल्यमें भाग देनेसे अपनी २ राशिके जीवोंका प्रमाण
निकलता है । तथा अपनी २ सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र सासादन तथा देशव्रतका प्रमाण
घटानेसे अवशिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण रहता है । **भावार्थ**—यहां पर मनुष्योंके
भागहारका प्रमाण नहीं बताया है, तथा देशव्रत गुणस्थान मनुष्य और नियंच इन दोनों हीके
होता है, इसलिये तिर्यंचोंकी ही सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र सासादन तथा देशव्रत गुण-
स्थानवाले जीवोंका प्रमाण घटानेसे मिथ्यादृष्टि तिर्यंच जीवोंका प्रमाण होता है; किन्तु देव और
नारकियोंकी सामान्य राशिमेंसे असंयत मिश्र और सासादन गुणस्थानवाले जीवोंका ही प्रमाण
घटानेसे अवशिष्ट मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण होता है । परन्तु जहां पर मिथ्यादृष्टि आदि
जीव सम्भव हों वहां पर ही इनका (मिथ्यादृष्टि आदि जीवोंका) प्रमाण निकालना चाहिये,
अन्यत्र नहीं; क्योंकि त्रैवेयकसे ऊपरके सब देव असंयत ही होते हैं ।

मनुष्यगतिमें गुणस्थानोंकी अपेक्षासे जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

तेरसकोडी देसे बावण्णं सासणे मुणेदव्वा ।

मिस्सावि य तद्दुगुणा असंजदा सत्तकोडिसयं ॥ ६४१ ॥

त्रयोदशकोट्यो देशे द्वापञ्चाशत् सासने मन्तव्याः ।

मिश्रा अपि च तद्दुगुणा असंयताः सत्तकोटिशतम् ॥ ६४१ ॥

अर्थ—देससंयम गुणस्थानमें तेरह करोड़, सासादनमें बावन करोड़, मिश्रमें एकसौ
चार करोड़, असंयतमें सात करोड़ मनुष्य हैं । प्रमत्तादि गुणस्थानवाले जीवोंका प्रमाण पूर्व
ही बता चुके हैं । इस प्रकार यह गुणस्थानोंमें मनुष्य जीवोंका प्रमाण है ।

जीविदरे कम्मचये पुण्णं पावोत्ति होदि पुण्णं तु ।

सुहपयडीणं दव्वं पावं असुहाण दव्वं तु ॥ ६४२ ॥

जीवितरस्मिन् कर्मचये पुण्यं पापमिति भवति पुण्यं तु ।

शुभप्रकृतीनां द्रव्यं पापमशुभप्रकृतीनां द्रव्यं तु ॥ ६४२ ॥

अर्थ—जीव पदार्थमें सामान्यसे मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवाले जीव पाप हैं । और मिश्र गुणस्थानवाले पुण्य और पापके मिश्ररूप हैं । तथा असंयतसे लेकर सब ही पुण्य जीव हैं । इसके अनंतर अजीव पदार्थका वर्णन करते हैं । अजीव पदार्थमें कर्मण स्कन्धके दो भेद हैं । एक पुण्य दूसरा पाप । शुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पुण्य और अशुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पाप कहते हैं । **भावार्थ—**कर्मण स्कन्धमें सातावेदनीय, नरकायुको छोड़कर शेष तीन आयु, शुभ नाम, उच्च गोत्र, इन शुभ प्रकृतियोंके द्रव्यको पुण्य कहते हैं । इनके सिवाय यातिकर्मकी समस्त प्रकृति और असातावेदनीय, नरक आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र, इन प्रकृतियोंके द्रव्यको पाप कहते हैं ।

आसवसंवरदव्वं समयपबद्धं तु णिज्जरादव्वं ।

तत्तो असंखगुणिदं उक्कस्सं होदि णियमेण ॥ ६४३ ॥

आस्रवसंवरद्रव्यं समयप्रबद्धं तु निर्जराद्रव्यम् ।

ततोऽसंख्यगुणितमुत्कृष्टं भवति नियमेन ॥ ६४३ ॥

अर्थ—आस्रव और संवरका द्रव्यप्रमाण समयप्रबद्धप्रमाण है । और उत्कृष्ट निर्जरा-द्रव्य समयप्रबद्धसे असंख्यातगुणा है । **भावार्थ—**एक समयमें समयप्रबद्धप्रमाण कर्मपुद्गलका ही आस्रव होता है, इसलिये आस्रवको समयप्रबद्धप्रमाण कहा है । और आस्रवके निरोधरूप संवर है । सो यह संवर भी एकसमयमें उतने ही द्रव्यका होगा, इसलिये द्रव्य—संवरको भी समयप्रबद्ध प्रमाण कहा है । गुणश्रेणिनिर्जरामें असंख्यात समयप्रबद्धोंकी निर्जरा एक ही समयमें हो जाती है, इसलिये उत्कृष्ट निर्जराद्रव्यको असंख्यात समयप्रबद्ध-प्रमाण कहा है ।

बंधो समयपबद्धो किंचृणदिवडुमेत्तगुणहाणी ।

मोक्खो य होदि एवं सद्वहिदव्वा दु तच्चट्ठा ॥ ६४४ ॥

बन्धः समयप्रबद्धः किञ्चिदूनव्यर्थभात्रगुणहानिः ।

मोक्षश्च भवत्येवं श्रद्धातव्यास्त तत्त्वार्थाः ॥ ६४४ ॥

अर्थ—बन्धद्रव्य समयप्रबद्धप्रमाण है; क्योंकि एक समयमें समयप्रबद्धप्रमाण ही कर्म-प्रकृतियोंका बंध होता है । तथा मोक्षद्रव्यका प्रमाण व्यर्थगुणहानिगुणितसमयप्रबद्ध प्रमाण

है; क्योंकि अयोगि गुणस्थानके अन्तमें जितनी कर्म प्रकृतियोंकी सत्ता रहती है उतना ही मोक्षद्रव्यका प्रमाण है । तथा यहां पर (अयोगि गुणस्थानके अंत समयमें) कर्मोंकी सत्ता द्व्यर्चगुणहानिगुणित समयप्रबद्धप्रमाण है । इसलिये मोक्षद्रव्यका प्रमाण भी द्व्यर्चगुणहानिगुणित-समयप्रबद्धप्रमाण ही है । इस प्रकार इन सात तत्त्वोंका श्रद्धान करना चाहिये । **भावार्थ—** पूर्वमें जो छह द्रव्य पञ्चास्तिकाय नव पदार्थोंका स्वरूप बताया है उसके अनुसार ही उनका श्रद्धान करना चाहिये; क्योंकि इनके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहने हैं ।

सम्यक्त्वके भेदोंको गिनानेके पहले क्षायिक सम्यक्त्वका स्वरूप बताते हैं ।

क्षीणे दंसणमोहे जं सद्वहणं सुणिम्मलं होई ।

तं खाइयसम्मत्तं णिच्चं कम्मक्खवणहेदु ॥ ६४५ ॥

क्षीणे दर्शनमोहे यच्छ्रद्धानं सुनिर्मलं भवति ।

तत्क्षायिकसम्यक्त्वं नित्यं कर्मक्षपणहेतु ॥ ६४५ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षीण होजाने पर जो निर्मल श्रद्धान होता है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं । यह सम्यक्त्व नित्य और कर्मोंके क्षय होनेका कारण है । **भावार्थ—**यद्यपि दर्शनमोहनीयके मिथ्यात्व मिश्र सम्यक्त्वप्रकृति ये तीन ही भेद हैं । तथापि अनंतानुबंधी कषाय भी दर्शन गुणको विपरित करता है इसलिये इसको भी दर्शन-मोहनीय कहते हैं । इसी लिये आचार्योंने पञ्चाध्यायीमें कहा है कि ‘सत्ते दृष्टिमोहनम्’ । अतएव इन सात प्रकृतियोंके सर्वथा क्षीण होजानेसे दर्शन गुणकी जो अत्यन्त निर्मल अवस्था होती है उसको क्षायिक सम्यक्त्व कहते हैं । इसके प्रतिपक्षी कर्मका एकदेश भी अवशिष्ट नहीं रहा है इस ही लिये यह दूसरे सम्यक्त्वोंकी तरह सांत नहीं है । तथा इसके होनेपर असंख्यातगुणी कर्मोंकी निर्जरा होती है इसलिये यह कर्मक्षयका हेतु है । इसी अभिप्रायका बोधक दूसरा क्षेपक गाथा भी है । वह इसप्रकार है कि—

दंसणमोहे खविदे सिज्झदि एक्केव तदियतुरियभवे ।

णादिक्कदि तुरियभवं ण विणस्सदि सेससम्मं व ॥ १ ॥

दर्शनमोहे क्षपिते सिद्धयति एकस्मिन्नेव तृतीयतुरीयभवे ।

नातिक्रामति तुरीयभवं न विनश्यति शेषसम्यक्त्वं व ॥ १ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मका क्षय होजाने पर उस ही भवमें या तीसरे चौथे भवमें जीव सिद्धपदको प्राप्त होता है, किन्तु चौथे भवका उलंघन नहीं करता, तथा दूसरे सम्यक्त्वोंकी तरह यह सम्यक्त्व नष्ट नहीं होता । **भावार्थ—**क्षायिक समदर्शन होने पर या तो उस ही भवमें जीव सिद्धपदको प्राप्त होजाता है । या देवायुका बंध होगया हो तो तीसरे भवमें सिद्ध होता है । यदि सम्यग्दर्शनके पहले मिथ्यात्व अवस्थामें मनुष्य या

तिर्येच आयुका बंध होगया हो तो चौथे भवमें सिद्ध होता है; किन्तु चतुर्थ भवका अतिक्रमण नहीं करता । यह सम्यक्त्व साध्यनंत है ।

क्षायिकसम्यक्त्वका विशेषस्वरूप बताते हैं ।

वयणेहिं वि हेदूहिं वि इंदियभयआणएहिं रूवेहिं ।

वीमच्छजुगुच्छाहिं य तेलोक्केण वि ण चालेज्जो ॥ ६४६ ॥

वचनैरपि हेतुभिरपि इन्द्रियभयान्नैतै रूपैः ।

बीभत्स्यजुगुप्साभिश्च त्रैलोक्येनापि न चालयः ॥ ६४६ ॥

अर्थ—श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतुओंसे अथवा इन्द्रियोंको भय उत्पन्न करनेवाले आकारोंसे यद्वा ग्लानिकारक पदार्थोंको देखकर उत्पन्न होनेवाली ग्लानिसे किं बहुना तीन लोकसे भी यह क्षायिक सम्यक्त्व चलायमान नहीं होता । भावार्थ—क्षायिक सम्यक्त्व इतना दृढ़ होता है कि तर्क तथा आगमसे विरुद्ध श्रद्धानको भ्रष्ट करनेवाले वचन या हेतु उसको भ्रष्ट नहीं कर सकते । तथा वह भयोत्पादक आकार या ग्लानिकारक पदार्थोंको देखकर भी भ्रष्ट नहीं होता । यदि कदाचित् तीन लोक उपस्थित होकर भी उसको अपने श्रद्धानसे भ्रष्ट करना चाहें तो भी वह भ्रष्ट नहीं होता ।

यह सम्यग्दर्शन किसके तथा कहां पर उत्पन्न होता है यह बताते हैं ।

दंसणमोहक्खवणापट्टवगो कम्मभूमिजादो हु ।

मणुसो केवलिमूले णिट्टवगो होदि सव्वत्थ ॥ ६४७ ॥

दर्शनमोहक्षपणाप्रस्थापकः कर्मभूमिजातो हि ।

मनुष्यः केवलिमूले निष्ठापको भवति सर्वत्र ॥ ६४७ ॥

अर्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेका प्रारम्भ केवलीके मूलमें कर्मभूमिका उत्पन्न होनेवाला मनुष्य ही करता है, तथा निष्ठापन सर्वत्र होता है । भावार्थ—दर्शनमोहनीय कर्मके क्षय होनेका जो क्रम है उसका प्रारम्भ केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें (निकट) ही होता है, तथा उसका (प्रारम्भका) करनेवाला कर्मभूमिज मनुष्य ही होता है । यदि कदाचित् पूर्ण क्षय होनेके प्रथम ही मरण होजाय तो उसकी (क्षणकी) समाप्ति चारों गतियोंमेंसे किसी भी गतिमें हो सकती है ।

वेदकसम्यक्त्वका स्वरूप बताते हैं ।

दंसणमोहुदयादो उत्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं ।

चलमलिनमगाढं तं वेदयसम्मत्तमिदि जाणे ॥ ६४८ ॥

दर्शनमोहोदयादुत्पद्यते यत् पदार्थश्रद्धानम् ।

चलमलिनमगाढं तद् वेदकसम्यक्त्वमिति जानीहि ॥ ६४८ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृतिके उदयसे पदार्थोंका जो चल मलिन अगाढरूप श्रद्धान् होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं । **भावार्थ**—मिथ्यात्व मिश्र और अनंतानुबंधी चतुष्क इनका सर्वथा क्षय अथवा उदयाभावी क्षय और उपशम हो चुकने पर; किन्तु अवशिष्ट सम्यक्त्वप्रकृतिके उदय होते हुए पदार्थोंका जो श्रद्धान् होता है उसको वेदक सम्यक्त्व कहते हैं । यहां पर भी सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयजनित चलता मलिनता और अगाढता ये तीन दोष होते हैं । इन तीनोंका लक्षण पहले कहचुके हैं ।

तीन गाथाओंमें उपशम सम्यक्त्वका स्वरूप और सामग्रीका वर्णन करते हैं ।

दंसणमोहुवसमदो उप्पज्जइ जं पयत्थसद्दहणं ।

उवसमसम्मत्तमिणं पसणमलपंकतोयसमं ॥ ६४९ ॥

दर्शनमोहोपशमादुत्पद्यते यत्पदार्थश्रद्धानम् ।

उपशमसम्यक्त्वमिदं प्रसन्नमलपङ्क्तोयसमम् ॥ ६४९ ॥

अर्थ—उक्त सम्यक्त्वविरोधिनी सात प्रकृतियोंके उपशमसे जो पदार्थोंका श्रद्धान् होता है उसको उपशमसम्यक्त्व कहते हैं । यह सम्यक्त्व इस तरहका निर्मल होता है जैसा कि निर्मली आदि पदार्थोंके निमित्तसे कीचड़ आदि मलके नीचे बैठ जाने पर जल निर्मल होता है । **भावार्थ**—उपशम सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं; क्योंकि प्रतिपक्षी कर्मका उदय दोनों ही स्थानपर नहीं है । किन्तु विशेषता इतनी ही है कि क्षायिक सम्यक्त्वके प्रतिपक्षी कर्मका सर्वथा अभाव होगया है, और उपशम सम्यक्त्वके प्रतिपक्षी कर्मकी सत्ता है । जैसे किसी जलमें निर्मली आदिके द्वारा उपरसे निर्मलता होने पर भी नीचे कीचड़ जमी रहती है, और किसी जलके नीचे कीचड़ रहती ही नहीं । ये दोनों जल निर्मलताकी अपेक्षा समान हैं । अन्तर यही है कि एकके नीचे कीचड़ है दूसरीके नीचे कीचड़ नहीं है ।

खयउवसमियविसोही देसणपाउग्गकरणलब्धी य ।

चत्तारि वि सामण्णा करणं पुण होदि सम्मत्ते ॥ ६५० ॥

क्षायोपशमिकविशुद्धी देशना प्रायोग्यकरणलब्धी च ।

चतस्रोऽपि सामान्याः करणं पुनर्भवति सम्यक्त्वे ॥ ६५० ॥

अर्थ—क्षायोपशमिक, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य, करण, ये पांच लब्धि हैं । इनमें चार तो सामान्य हैं; किन्तु करण-लब्धि विशेष है । इसके होनेपर सम्यक्त्व या चारित्र नियमसे होता है । **भावार्थ**—लब्धि शब्दका अर्थ प्राप्ति है । प्रकृतमें सम्यक्त्व ग्रहण करनेके योग्य सामग्रीकी प्राप्ति होना इसको लब्धि कहते हैं । उसके उक्त पांच भेद हैं । सम्यक्त्वके योग्य कर्मके क्षयोपशम होनेको क्षायोपशमिक लब्धि कहते हैं । निर्मलता-विशेषको विशुद्धि कहते हैं । योग्य उपदेशको देशना कहते हैं । पंचेन्द्रियादिरूप

योग्यताके मिलनेको प्रायोग्यलब्धि कहते हैं । अथःकरण अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरणरूप परिणामोंको करणलब्धि कहते हैं । इन तीनों करणोंका स्वरूप पहले कह चुके हैं । इन पांच लब्धियोंमेंसे आदिकी चार लब्धि तो सामान्य हैं—अर्थात् भव्य अव्यय दोनोंके होती हैं, किन्तु करण लब्धि असाधारण है—इसके होने पर नियमसे सम्यक्त्व या चारित्र्य होता है । जब तक करणलब्धि नहीं होती तब तक सम्यक्त्व नहीं होता ।

उपशम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके योग्य सामग्रीको बताकर उसको ग्रहण करनेकेलिये योग्य जीव कैसा होना चाहिये यह बताते हैं ।

चदुगदिभव्वो सण्णी पज्जत्तो सुज्झगो य सागारो ।

जागारो सहेसो सलद्धिगो सम्ममुवगमई ॥ ६५१ ॥

चतुर्गतिभव्यः संज्ञी पर्याप्तः शुद्धकश्च साकारः ।

जागरुकः सहेइयः सलब्धिकः सम्यक्त्वमुपगच्छति ॥ ६५१ ॥

अर्थ—जो जीव चार गतियोंमेंसे किसी एक गतिका धारक, तथा भव्य, संज्ञी, पर्याप्त, विशुद्धियुक्त, जागृत, उपयोगयुक्त, और शुभ लेइयाका धारक होकर करणलब्धिरूप परिणामोंका धारक होता है वह जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ।

चत्तारिविं सेत्ताइं आउगबंघेण होदि सम्मतं ।

अणुवदमहव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तुं ॥ ६५२ ॥

चत्वार्यपि क्षेत्राणि आयुष्कवन्धेन भवति सम्यक्त्वम् ।

अणुव्रतमहाव्रतानि न लभते देवायुष्कं मुक्त्वा ॥ ६५२ ॥

अर्थ—चारो गतिसम्बन्धी आयुष्कर्मका बन्ध होजाने पर भी सम्यक्त्व हो सकता है; किन्तु देवायुको छोड़कर शेष आयुका बंध होने पर अणुव्रत और महाव्रत नहीं होते ।

भावार्थ—चारो गतिमेंसे किसी भी गतिमें रहनेवाले जीवके चार प्रकारकी आयुमेंसे किसी भी आयुका बंध होने पर भी सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हो सकती है—इसमें कोई बाधा नहीं है । किन्तु सम्यक्त्व ग्रहण होनेके अनन्तर अणुव्रत या महाव्रत उसी जीवके हो सकते हैं जिसके चार आयुष्कर्मोंमेंसे केवल देवायुका बंध हुआ हो, अथवा किसी भी आयुका बंध न हुआ हो । नरकायु तिर्यगायु मनुष्यायुका बंध करनेवाले सम्यग्दृष्टिके अणुव्रत या महाव्रत नहीं होते ।

सम्यक्त्वमार्गणाके दूसरे भेदोंको गिनाते हैं ।

ण य मिच्छत्तं पत्तो सम्मत्तादो य जो य परिवड्ढिदो ।

सो सासणोत्ति गेयो पंचमभावेण संजुत्तो ॥ ६५३ ॥

न च मिथ्यात्वं प्राप्तः सम्यक्त्वतश्च यश्च परिपतितः ।

स सासन इति ज्ञेयः पंचमभावेन संयुक्तः ॥ ६५३ ॥

अर्थ—जो जीव सम्यक्त्वसे तो व्युत्पन्न हो गया है किन्तु मिथ्या को प्राप्त नहीं हुआ है उसको सासन कहते हैं। यह जीव पांचमे पारणामिक भावोंसे युक्त होता है। **भावावार्थ**—सासनरूप परिणामोंका होना भी सम्यक्त्वगुणका एक विपरिणाम है, इसलिये यह भी सम्यक्त्वमार्गणाका एक भेद है। अत एव यहां पर इसका वर्णन किया है; क्योंकि सम्यक्त्वमार्गणमें सामान्यसे सम्यक्त्वके समस्त भेदोंका वर्णन करना चाहिये। इस गुणस्थानमें दर्शनमोहनीयकी अपेक्षा पारणामिक भाव होते हैं, तथा अनन्तानुबन्धी आदिकी अपेक्षा औदयिकादि भाव होते हैं, और इसका विशेष स्वरूप गुणस्थानाधिकारमें कह चुके हैं इसलिये यहां नहीं कहते हैं।

मिश्रगुणस्थानका स्वरूप बताते हैं।

सद्वहणासद्वहणं जस्स य जीवस्स होइ तच्चेसु ।

विरयाविरयेण समो सम्मामिच्छोत्ति णायव्वो ॥ ६५४ ॥

श्रद्धानाश्रद्धानं यस्य च जीवस्य भवति तत्त्वेषु ।

विरताविरतेन समः सम्यग्मिथ्य इति ज्ञातव्यः ॥ ६५४ ॥

अर्थ—विरताविरतकी तरह जिस जीवके तत्त्वके विषयमें श्रद्धान और अश्रद्धान दोनो हों उसको सम्यग्मिथ्यादृष्टि समझना चाहिये। **भावावार्थ**—जिसतरह विरत और अविरत दोनों प्रकारके परिणामोंके जोड़की अपेक्षा विरताविरत नामका पांचमा गुणस्थान होता है, उसी तरह श्रद्धान और अश्रद्धानरूप परिणामोंके जोड़की अपेक्षा सम्यग्मिथ्यात्व नामका तीसरा गुणस्थान होता है। यह भी सम्यक्त्वमार्गण का एक भेद है।

मिच्छाइट्टी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्वहदि ।

सद्वहदि असम्भावं उवइट्ठं वा अणुवइट्ठं ॥ ६५५ ॥

मिथ्यादृष्टिर्जीव उपदिष्टं प्रवचनं न श्रद्धानाति ।

श्रद्धानाति असद्भावमुपदिष्टं वा अनुपदिष्टम् ॥ ६५५ ॥

अर्थ—जो जीव जिनेन्द्रदेवके कहे हुए आस आगम पदार्थका श्रद्धान नहीं करता; किन्तु कुगुरुओंके कहे हुए या विना कहे हुए भी मिथ्या पदार्थका श्रद्धान करता है उसको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। **भावावार्थ**—मिथ्यात्व—दर्शनमोहनीके उदयसे दो प्रकारके विपरिणाम होते हैं। एक ग्रहीत विपरीत श्रद्धान दूसरा अग्रहीत विपरीत श्रद्धान। जो कुगुरुओंके उपदेशसे विपरीत श्रद्धान होता है उसको ग्रहीतमिथ्यात्व कहते हैं। और जो विना उपदेशके ही विपरीत श्रद्धान हो उसको अग्रहीतमिथ्यात्व कहते हैं। इन दोनों ही प्रकारके विपरिणामोंको मिथ्यात्व इस सामान्य शब्दसे कहते हैं। तथा यह मिथ्यात्व सम्यक्त्वमार्गणाका एक भेद है। इसलिये इसी गाथाको एकवार गुणस्थानाधिकारमें आने पर भी यहां दूसरीवार कहा है।

सम्यक्त्वमार्गणामें तीन गाथाओंद्वारा जीवसंख्या बताते हैं ।

वासपुधत्ते खइया संखेज्जा जइ हवन्ति सोहम्मे ।

तो संखपल्लिदिद्ये केवदिया एवमणुपादे ॥ ६५६ ॥

वर्षपृथक्त्वे क्षायिकाः संख्येया यदि भवन्ति सौधर्मे ।

तर्हि संख्यपल्यस्थितिके कति एवमनुपाते ॥ ६५६ ॥

अर्थ—क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव सौधर्म ईशान स्वर्गमें पृथक्त्व वर्षमें संख्यात उत्पन्न होते हैं तो संख्यात पल्यकी स्थितिमें कितने जीव उत्पन्न होंगे ? इसका त्रैराशिक करनेसे क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण निकलता है; क्योंकि क्षायिकसम्यग्दृष्टि बहुधा कल्पवासी देव होते हैं और कल्पवासी देव बहुत करके सौधर्म ईशान स्वर्गमें ही हैं । **भावार्थ—**फलराशि संख्यातका और इच्छाराशि संख्यात पल्यका परस्पर गुणा करके प्रमाण राशि पृथक्त्ववर्षका भाग देनेसे जो लब्ध आवे उतना ही क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण है ।

इस प्रकार त्रैराशिक करनेसे लब्धप्रमाण कितना आया यह बताते हैं ।

संखावलिहिदपल्ला खइया तत्तो य वेदमुवसमगा ।

आवलिअसंखगुणिदा असंखगुणहीणया कमसो ॥ ६५७ ॥

संख्यावलिहितपल्या क्षायिकास्ततश्च वेदमुपशमकाः ।

आवल्यसंख्यगुणिता असंख्यगुणहीनकाः क्रमशः ॥ ६५७ ॥

अर्थ—संख्यात आवलीसे भक्त पल्यप्रमाण क्षायिकसम्यग्दृष्टि हैं । क्षायिक सम्यग्दृष्टिके प्रमाणका आवलीके असंख्यातमे भागसे गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतना ही वेदकसम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण है । तथा क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीवोंके प्रमाणसे असंख्यातगुणा हीन उपशम सम्यग्दृष्टि जीवोंका प्रमाण है ।

सासादन मिश्र और मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

पल्लासंखेज्जदिमा सासणमिच्छा य संखगुणिदा हु ।

मिस्सा तेहिं विहीणो संसारी वामपरिमाणं ॥ ६५८ ॥

पल्यासंख्याताः सासनमिथ्याश्च संख्यगुणिता हि ।

मिश्रास्तैर्विहीनः संसारी वामपरिमाणम् ॥ ६५८ ॥

अर्थ—पल्यके असंख्यातमे भागप्रमाण सासादनमिथ्यादृष्टि जीव हैं । और इनसे संख्यातगुणे मिश्र जीव हैं । तथा संसारी जीवराशिमेंसे क्षायिक औपशमिक क्षायोपशमिक सासादन मिश्र इन पांच प्रकारके जीवोंका प्रमाण घटानेसे जो शेष रहे उतना ही मिथ्यादृष्टि जीवोंका प्रमाण है ।

॥ इति सम्यक्त्वमार्गणाधिकारः ॥

कमप्राप्त संज्ञिमार्गणाका निरूपण करते हैं ।

णोइन्द्रियआवरणखओवसमं तज्जवोहणं सण्णा ।

सा जस्स सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिववोहो ॥ ६५ ॥

नोइन्द्रियावरणक्षयोपशमस्तज्जबोधनं संज्ञा ।

सा यस्य स तु संज्ञी इतरः शेषेन्द्रियावबोधः ॥ ६५ ॥

अर्थ—नोइन्द्रियावरण कर्मके क्षयोपशमको या तज्जन्य ज्ञानको संज्ञा कहते हैं । यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं । और जिनके यह संज्ञा न हो किन्तु केवल यथा-सम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान हो उनको असंज्ञी कहते हैं । **भावार्थ**—जीव दो प्रकारके होते हैं एक संज्ञी दूसरे असंज्ञी । जिनके लब्धि या उपयोगरूप मन पायाजाय उनको संज्ञी कहते हैं । और जिनके मन न हो उनको असंज्ञी कहते हैं । इन असंज्ञी जीवोंके यथासम्भव इन्द्रियजन्य ज्ञान ही होता है ।

संज्ञी असंज्ञीकी पहचानकेलिये चिह्नोंका वर्णन करते हैं ।

सिक्खकिरियुवदेसालावग्गाही मणोवलंबेण ।

जो जीवो सो सण्णी तव्विवरीओ असण्णी दु ॥ ६६ ॥

शिक्षाक्रियोपदेशालापग्राही मनोऽवलम्बेन ।

यो जीवः स संज्ञी तद्विपरीतोऽसंज्ञी तु ॥ ६६ ॥

अर्थ—हितका ग्रहण और अहितका त्याग जिसके द्वारा किया जा सके उसको शिक्षा कहते हैं । इच्छापूर्वक हाथ पैरके चलानेको क्रिया कहते हैं । वचन अथवा चानुक आदिके द्वारा बताये हुए कर्तव्यको उपदेश कहते हैं । और श्लोक आदिके पाठको आलाप कहते हैं ।

जो जीव इन शिक्षादिकको मनके अवलम्बनसे ग्रहण=धारण करता है उसको संज्ञी कहते हैं । और जिन जीवोंमें यह लक्षण घटित न हो उनको असंज्ञी कहते हैं ।

मीमंसदि जो पुव्वं कज्जमकज्जं च तच्चमिदरं च ।

सिक्खदि णामेणेदि य समणो अमणो य विवरीदो ॥ ६७ ॥

मीमांसति यः पूर्वं कार्यमकार्थं च तत्त्वमितरञ्च ।

शिक्षते नाम्ना एति च समनाः अमनाश्च विपरीतः ॥ ६७ ॥

अर्थ—जो जीव प्रवृत्ति करनेके पहले अपने कर्तव्य और अकर्तव्यका विचार करै, तथा तत्त्व और अतत्त्वका स्वरूप समझ सके, और उसका जो नाम रक्खा गया हो उस नामके द्वारा बुलाने पर आसके, उसको समनस्क या संज्ञी जीव कहते हैं । और इससे जो विपरीत है उसको अमनस्क या असंज्ञी कहते हैं ।

संज्ञिमार्गणागत जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

देवेहिं सादिरेगो रासी सण्णीण होदि परिमाणं ।

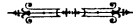
तेण्णो संसारी सव्वेसिमसण्णिजीवाणं ॥ ६६२ ॥

देवैः सातिरेको राशिः संज्ञिनां भवति परिमाणम् ।

तेनोनः संसारी सर्वेषामसंज्ञिजीवानाम् ॥ ६६२ ॥

अर्थ—देवोंके प्रमाणसे कुछ अधिक संज्ञी जीवोंका प्रमाण है । सम्पूर्ण संसारी जीव राशिमेंसे संज्ञी जीवोंका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही समस्त असंज्ञी जीवोंका प्रमाण है ।

॥ इति संज्ञिमार्गणाधिकारः ॥



क्रमप्राप्त आहारमार्गणाका वर्णन करते हैं ।

उदयावण्णसरीरोदयेण तदेहवयणचित्ताणं ।

णोकम्मवग्गणाणं ग्रहणं आहारयं णाम ॥ ६६३ ॥

उदयापन्नशरीरोदयेन तदेहवचनचित्तानाम् ।

नोकर्मवर्गणानां ग्रहणमाहारकं नाम ॥ ६६३ ॥

अर्थ—शरीरनामा नामकर्मके उदयसे देह वचन और द्रव्य मनरूप बननेके योग्य नोकर्मवर्गणाका जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं ।

निरुक्तिपूर्वक आहारकका अर्थ लिखते हैं ।

आहरदि सरीराणं तिण्हं एयद्वरवग्गणाओ य ।

भासमणाणं णियदं तम्हा आहारयो भणियो ॥ ६६४ ॥

आहरति शरीराणां त्रयाणामेकतरवर्गणाश्च ।

भाषामनसोर्नियतं तस्मादाहारको भणितः ॥ ६६४ ॥

अर्थ—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक इन तीन शरीरोंमेंसे किसी भी एक शरीरके योग्य वर्गणाओंको तथा वचन और मनके योग्य वर्गणाओंको यथायोग्य जीवसमाप्त तथा कालमें जीव आहरण=ग्रहण करता है इसलिये इसको आहारक कहते हैं ।

जीव दो प्रकारके होते हैं एक आहारक दूसरे अनाहारक । आहारक जीव कौन २ होते हैं और अनाहारक जीव कौन २ होते हैं यह बताते हैं ।

विग्गहग्गदिमावण्णा केवलिनो समुग्घदो अजोगी य ।

सिद्धा य अणाहारा सेसा आहारया जीवा ॥ ६६५ ॥

विग्रहगतिमापन्नाः केवलिनः समुद्धाता अयोगिनश्च ।

सिद्धाश्च अनाहाराः शेषा आहारका जीवाः ॥ ६६५ ॥

अर्थ—विग्रहगतिको प्राप्त होनेवाले चारों गतिमम्बन्धी जीव, प्रतर और लोकपूर्ण समु-
द्घात करनेवाले सयोगकेवली, अयोगकेवली, समस्त भिद्ध इतने जीव तो अनाहारक होते हैं ।
और इनको छोड़कर शेष जीव आहारक होते हैं ।

समुद्घात, कितने प्रकारका होता है यह बताते हैं ।

वेयणकसायवेगुव्वियो य मरणंतियो समुग्घादो ।

तेजाहारो छट्ठो यत्तमओ केवलीणं तु ॥ ६६६ ॥

वेदनाकषायवैगूर्विकाश्च मारणान्तिकः समुद्घातः ।

तेज आहारः षष्ठः सप्तमः केवलिनां तु ॥ ६६६ ॥

अर्थ—समुद्घातके सात भेद हैं । वेदना, कषाय, वैक्रियिक, मारणान्तिक, तैजस,
आहारक, केवल । इनका स्वरूप लेख्यामार्गिकाके क्षेत्राधिकारमें कहा जाचुका है इस लिये यहां
पर नहीं कहा है ।

समुद्घातका स्वरूप बताते हैं ।

मूलसरीरमछंडिय उत्तरदेहस्स जीवपिंडस्स ।

पिग्गमणं देहादो होदि समुग्घादणामं तु ॥ ६६७ ॥

मूलशरीरमत्यक्त्वा उत्तरदेहस्य जीवपिण्डस्य ।

निर्गमनं देहाद्भवति समुद्घातनाम तु ॥ ६६७ ॥

अर्थ—मूल शरीरको न छोड़कर तैजस कर्मण रूप उत्तर देहके साथ २ जीवप्रदे-
शोंके शरीरसे बाहर निकलनेको समुद्घात कहते हैं ।

आहारमारणंति य दुगं पि णियमेण एगदिसिगं तु ।

दसदिंसि गदा हु सेसा पंच समुग्घादया होंति ॥ ६६८ ॥

आहारमारणांतिकद्विकमपि नियमेन एकदिशिकं तु ।

दशदिशि गता हि शेषाः पञ्चसमुद्घातका भवन्ति ॥ ६६८ ॥

अर्थ—उक्त सात प्रकारके समुद्घातोंमें आहार और मारणान्तिक ये दो समुद्घात तो
एक ही दिशामें गमन करते हैं; किन्तु बाकीके पांच समुद्घात दशों दिशाओंमें गमन करते हैं ।

आहारक और अनाहारकके कालका प्रमाण बताते हैं ।

अंगुलअसंखभागो कालो आहारयस्स उक्कस्सो ।

कम्मम्मि अणाहारो उक्कस्सं तिणिण समयो हु ॥ ६६९ ॥

अङ्गुलसंख्यभागः कालः आहारकस्योत्कृष्टः ।

कर्मणे अनाहारः उत्कृष्टः त्रयः समयो हि ॥ ६६९ ॥

अर्थ—आहारका उत्कृष्ट काल सूच्यंगुलके असंख्यातमें भागप्रमाण है । कर्मण शरीरमें अनाहारका उत्कृष्ट काल तीन समयका है, और जघन्य काल एक समयका है । तथा आहारका जघन्य काल तीन समय कम श्वासके अठारहमे भाग प्रमाण है, क्योंकि विग्रहगति-सम्बन्धी तीन समयोंके घटाने पर क्षुद्र भवका काल इतना ही अवशेष रहता है ।

आहारमार्गणासम्बन्धी जीवोंकी संख्याको बताते हैं ।

कम्मइयकायजोगी होदि अणाहारयाण परिमाणं ।

तद्विरहिदसंसारो सब्बो आहारपरिमाणं ॥ ६७० ॥

कर्मणकाययोगी भवति अनाहारकाणां परिमाणम् ।

तद्विरहितसंसारी सर्व आहारपरिमाणम् ॥ ६७० ॥

अर्थ—कर्मणकाययोगी जीवोंका जितना प्रमाण है उतना ही अनाहारक जीवोंका प्रमाण है । और संसारी जीवराशिमेंमे कर्मणकाययोगी जीवोंका प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे उतना ही आहारक जीवोंका प्रमाण है ।

॥ इति आहारमार्गणाधिकारः ॥

क्रमप्राप्त उपयोगाधिकारका वर्णन करते हैं ।

वत्थुणिमित्तं भावो जावो जीवस्स जो दु उवजोगो ।

सो दुविहो णायब्बो सायारो चेव णायारो ॥ ६७१ ॥

वस्तुनिमित्तं भावो जातो जीवस्य यस्तूपयोगः ।

स द्विविधो ज्ञातव्यः साकारश्चैवानाकारः ॥ ६७१ ॥

अर्थ—जीवका जो भाव वस्तुको (ज्ञेयको) ग्रहण करनेकेलिये प्रवृत्त होता है उसको उप-योग कहते हैं । इसके दो भेद हैं एक साकार (सविकल्प) दूसरा निराकार (निर्विकल्प) । दोनोंप्रकारके उपयोगोंके उत्तरभेदोंको बताते हुए यह उपयोग जीवका लक्षण है यह बताते हैं ।

णाणं पंचविहंपि य अण्णाणतियं च सागरुवजोगो ।

चतुर्दसणमणगारो सब्बे तल्लखणा जीवा ॥ ६७२ ॥

ज्ञानं पंचविधमपि च अज्ञानत्रिकं च साकारोपयोगः ।

चतुर्दर्शनमनाकारः सर्वे तल्लखणा जीवाः ॥ ६७२ ॥

अर्थ—पांच प्रकारका सम्यग्ज्ञान और तीन प्रकारका अज्ञान ये साकार उपयोग है । चार प्रकारका दर्शन अनाकार उपयोग है । यह उपयोग ही सम्पूर्ण जीवोंका लक्षण है ।

साकार उपयोगमें कुछ विशेषताको बताते हैं ।

मदिसुदओहिमणोहिंय सगसगविसयं विसेसविण्णाणं ।

अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो दु सायारो ॥ ६७३ ॥

मतिश्रुतावधिमनोभिश्च स्वकस्वकविषये विशेषविज्ञानम् ।

अन्तर्मुहूर्तकाल उपयोगः स तु साकारः ॥ ६७३ ॥

अर्थ—मति श्रुत अवधि और मनःपर्यय इनकेद्वारा अपने २ विषयका अन्तर्मुहूर्तकालपर्यन्त जो विशेषज्ञान होता है उसको ही साकार उपयोग कहते हैं । **भावार्थ—**साकार उपयोगके पांच भेद हैं । मति श्रुत अवधि मनःपर्यय और केवल । इनमेंसे आदिके चार ही उपयोग छद्मस्थ जीवोंके होते हैं । उपयोग चेतनाका एक परिणामन है । तथा एक वस्तुके ग्रहणरूप चेतनाका यह परिणामन छद्मस्थ जीवोंके अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तकालतक ही रह सकता है । इस साकार उपयोगमें यही विशेषता है कि यह वस्तुके विशेष अंशको ग्रहण करता है ।

अनाकार उपयोगका स्वरूप बताते हैं ।

इंदियमणोहिणा वा अत्थे अविसेसिदूण जं ग्रहणं ।

अंतोमुहुत्तकालो उवजोगो सो अणायारो ॥ ६७४ ॥

इन्द्रियमनोऽवधिना वा अर्थे अविशेष्य यद्ग्रहणम् ।

अन्तर्मुहूर्तकालः उपयोगः स अनाकारः ॥ ६७४ ॥

अर्थ—इन्द्रिय मन और अवधिकेद्वारा अन्तर्मुहूर्तकालतक पदार्थोंका जो सामान्यरूपसे ग्रहण होता है उसको निराकार उपयोग कहते हैं । **भावार्थ—**दर्शनके चार भेद हैं, चक्षु-दर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन और केवलदर्शन । इनमेंसे आदिके तीन ही दर्शन छद्मस्थ जीवोंके होते हैं । नेत्रकेद्वारा पदार्थका जो सामान्यावलोकन होता है उसको चक्षुदर्शन कहते हैं । और नेत्रको छोड़कर शेष चार इन्द्रिय तथा मनकेद्वारा जो सामान्यावलोकन होता है उसको अचक्षुदर्शन कहते हैं । अवधिज्ञानके पहले इन्द्रिय और मनकी सहायतके बिना आत्म-मात्रसे जो रूपी पदार्थविषयक सामान्यावलोकन होता है उसको अवधिदर्शन कहते हैं । यह दर्शनरूप निराकार उपयोग भी साकार उपयोगकी तरह छद्मस्थ जीवोंके अधिकसे अधिक अन्तर्मुहूर्तकाल तक ही होता है ।

उपयोगाधिकारमें जीवोंका प्रमाण बताते हैं ।

णाणुवजोगजुदाणं परिमाणं णाणमग्गणं व हवे ।

दंसणुवजोगियाणं दंसणमग्गणं व उत्तकमो ॥ ६७५ ॥

गो० ३२

ज्ञानोपयोगयुतानां परिमाणं ज्ञानमार्गणावद्भवेत् ।

दर्शनोपयोगिनां दर्शनमार्गणावदुक्तक्रमः ॥ ६७५ ॥

अर्थ—ज्ञानोपयोगवाले जीवोंका प्रमाण ज्ञानमार्गणावाले जीवोंकी तरह समझना चाहिये । और दर्शनोपयोगवालोंका प्रमाण दर्शनमार्गणावालोंकी तरह समझना चाहिये । इनमें कुछ विशेषता नहीं है ।

॥ इति उपयोगाधिकारः ॥

उक्त प्रकारसे बीस प्ररूपणाओंका वर्णन करके अब अन्तर्भावधिकारका वर्णन करते हैं ।

गुणजीवा पञ्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणुवज्जोगो ।

जोग्गा परूविदव्वा ओघादेसेसु पत्तेयं ॥ ६७६ ॥

गुणजीवाः पर्याप्तियः प्राणाः संज्ञाश्च मार्गणोपयोगौ ।

योग्याः प्ररूपितव्या ओघादेशयोः प्रत्येकम् ॥ ६७६ ॥

अर्थ—उक्त बीस प्ररूपणाओंमेंसे गुणस्थान और मार्गणास्थानमें यथायोग्य प्रत्येक गुणस्थान जीवसमास पर्याप्ति प्राण संज्ञा मार्गणा उपयोगका निरूपण करना चाहिये **भावार्थ**—इस अधिकारमें यह बताते हैं कि किस २ मार्गणामें या गुणस्थानमें शेष किस २ प्ररूपणाका अन्तर्भाव होता है । परन्तु इस अन्तर्भावका निरूपण यथायोग्य होना चाहिये ।

किस २ मार्गणामें कौन २ गुणस्थान होते हैं ? उत्तरः—

चउपण चोद्वस चउरो णिरयादिमु चोद्वसं तु पंचक्खे ।

तसकाये सेसिंदियकाये मिच्छं गुणट्ठाणं ॥ ६७७ ॥

चत्वारि पञ्च चतुर्दश चत्वारि निरयादिषु चतुर्दश तु पञ्चाक्षे ।

त्रसकाये शेषेन्द्रियकाये मिथ्यात्वं गुणस्थानम् ॥ ६७७ ॥

अर्थ—गतिमार्गणाकी अपेक्षासे क्रमसे नरकगतिमें आदिके चार गुणस्थान होते हैं, और तिर्यग्गतिमें पांच, मनुष्यगतिमें चौदह, तथा देवगतिमें नरकगतिके समान चार गुणस्थान होते हैं । इन्द्रियमार्गणाकी अपेक्षा पचेन्द्रिय जीवोंके चौदह गुणस्थान और शेष एकेन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रियपर्यन्त जीवोंके केवल मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । कायमार्गणाकी अपेक्षा त्रसकायके चौदह और शेष स्थावर कायके एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है । **भावार्थ**—यहां पर यह बताया है कि अमुक २ गति इन्द्रिय या कायवाले जीवोंके अमुक २ गुणस्थान होता है । इसी तरह जीवसमासादिकोंको भी यथायोग्य समझना चाहिये । जैसे कि नरक और देवगतिमें पर्याप्ति और निर्वृत्यपर्याप्ति ये दो जीवसमास होते हैं । तिर्यग्गतिमें चौदह तथा मनुष्यगतिमें संज्ञीसम्बन्धी पर्याप्ति अपर्याप्ति ये दो जीवसमास

होते हैं। इन्द्रिय मार्गणामें एकेन्द्रिय जीवोंके बादर पर्याप्त अपर्याप्त सूत्र पर्याप्त अपर्याप्त ये चार जीवसमास होते हैं। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय जीवोंके अपने २ पर्याप्त अपर्याप्त इस-तरह दो २ जीवसमान होते हैं। पंचेन्द्रियमें संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त असंज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये चार जीवसमास होते हैं। कायमार्गणाकी अपेक्षा स्थावरकायमें एकेन्द्रियके समान चार जीवसमास होते हैं। और त्रसकायमें शेष दश जीवसमास होते हैं।

मज्झिमचउमणः त्रयणे मण्णिप्पहुदिं दु जाव खीणोत्ति ।

सेसाणं जोगित्ति य अणुभयववणं तु वियलादो ॥ ६७८ ॥

मध्यमचतुर्मेनावचनयोः संज्ञिप्रभृतिस्तु यावत् क्षीण इति ।

शेषाणां योगीति च अनुभयवचनं तु विकलतः ॥ ६७८ ॥

अर्थ—असत्यमन उभयमन असत्य वचन उभय वचन इन चार योगोंके स्वामी संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकपायपर्यंत बारह गुणस्थानवाले जीव हैं। और सत्यमन अनुभयमन सत्यवचन इनके स्वामी आदिके तेरह गुणस्थानवाले जीव हैं। अनुभय वचनयोग विकलत्रयसे लेकर सयोगीपर्यन्त होता है। अनुभय वचनको छोड़कर शेष तीन प्रकारका वचन और चार प्रकारका मन, इनमें एक संज्ञी पर्याप्त ही जीवसमास है। और अनुभय वचनमें पर्याप्त द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी संज्ञी ये पांच जीवसमास होते हैं।

औरालं पज्जत्ते थावरकायादि जाव जोगोत्ति ।

तम्मिस्समपज्जत्ते चटुगुणठाणेसु णियमेण ॥ ६७९ ॥

औरालं पर्याप्ते स्थावरकायादि यावत् योगीति ।

तन्मिश्रमपर्याप्ते चतुर्गुणस्थानेषु नियमेन ॥ ६७९ ॥

अर्थ—औदारिककाययोग, स्थावर एकेन्द्रिय पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगी पर्यन्त होता है। और औदारिक मिश्रकाययोग नियमसे चार अपर्याप्त गुणस्थानोंमें ही होता है। औदारिक काययोगमें पर्याप्त सात जीवसमास होते हैं, और मिश्रयोगमें अपर्याप्त सात जीवसमास हैं।

अपर्याप्त चार गुणस्थानोंको गिनाते हैं।

मिच्छे सासणसम्मं पुवेदयदे कवाडजोगिम्मि ।

णरतिरियेवि य दोण्णिवि हांतित्ति जिणेहिं णिदिट्ठं ॥ ६८० ॥

मिथ्यात्वे सासनसम्यक्त्वे पुवेदायते कषाटयोगिनि ।

नरतिरश्चोरपि च द्वावपि भवन्तीति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६८० ॥

१ गुणस्थानोंका कम गुणस्थानाधिकारसे समझना। २ इनमें एक सयोगीको मिलानेसे आठ जीवसमास होते हैं।

अर्थ—मिथ्यात्व, सासादन, पुरुषवेदके उदयसंयुक्त असंयत, तथा कपाटसमुद्घात करनेवाले सयोगकेवली, इन चार स्थानोंमें ही औदारिकमिश्रकाययोग होता है । तथा औदारिक काययोग और औदारिकमिश्रकाययोग ये दोनों ही मनुष्य और तिर्यञ्चोंके ही होते हैं ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है ।

वेगुद्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सं तु ।

सुराणिरयचउट्ठाणे मिस्से णहि मिस्सजोगो हु ॥ ६८१ ॥

वैगूर्व पर्याप्ति इतरे खलु भवति तस्य मिश्रं तु ।

सुरनिरयचतुःस्थाने मिश्रे नहि मिश्रयोगो हि ॥ ६८१ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टिसे लेकर असंयतपर्यंत चारो ही गुणस्थानवाले देव और नारकियोंके पर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिक काययोग होता है, और अपर्याप्त अवस्थामें वैक्रियिकमिश्रयोग होता है; किन्तु यह मिश्रयोग चार गुणस्थानोंमेंसे मिश्र गुणस्थानमें नहीं होता; क्योंकि कोई भी मिश्रयोग मिश्रगुणस्थानमें नहीं होता । वैक्रियिक योगमें एक संज्ञीपर्याप्त ही जीवसमाप्त है और मिश्रयोगमें एक संज्ञी निर्वृत्यपर्याप्त जीवसमाप्त है ।

आहारो पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्सो दु ।

अंतमुहुत्तकाले छट्ठगुणे होदि आहारो ॥ ६८२ ॥

आहारः पर्याप्ति इतरे खलु भवति तस्य मिश्रस्तु ।

अन्तर्मुहूर्तकाले षष्ठगुणे भवति आहारः ॥ ६८२ ॥

अर्थ—आहारककाययोग पर्याप्त अवस्थामें होता है, और आहारकमिश्रयोग अपर्याप्त अवस्थामें होता है । ये दोनों ही योग छठे गुणस्थानवाले मुनिके ही होते हैं । और इनके उत्कृष्ट और जघन्य कालका प्रमाण अंतमुहूर्त ही है **भावार्थ**—यहांपर जो पर्याप्तता या अपर्याप्तता कही है वह आहारक शरीरकी अपेक्षासे कही है, औदारिक शरीरकी अपेक्षासे नहीं कही है; क्योंकि औदारिकशरीरसम्बन्धी अपर्याप्तता छठे गुणस्थानमें नहीं होती ।

ओरालियमिस्सं वा चउगुणठाणेसु होदि कम्मइयं ।

चदुगदिविगहकाले जोगिस्स य पदरलोगपूरणगे ॥ ६८३ ॥

औरालिकमिश्रो वा चतुर्गुणस्थानेषु भवति कर्मणश्च ।

चतुर्गतिविग्रहकाले योगिनश्च प्रतरलोकपूरणके ॥ ६८३ ॥

अर्थ—औदारिक मिश्रयोगकी तरह कर्मण योग भी चार गुणस्थानोंमें और चारों विग्रहगतियोंके कालमें होता है, विशेषता केवल इतनी है कि औदारिकमिश्रयोगको जो सयोगके-वलिगुणस्थानमें बताया है सो कपाटसमुद्घात समयमें बताया है, और कर्मणयोगको प्रतर और लोकपूरण समुद्घात समयमें बताया है । यहां पर औदारिकमिश्रकी तरह जीवसमाप्त भी आठ होते हैं ।

थावरकायप्पहुदी संढो सेसा असण्णिआदी य ।

अणियट्टिस्स य पढमो भागोत्ति जिणेहिं णिाद्विटं ॥ ६८४ ॥

स्थावरकायप्रभृतिः षण्डः शेषा असंज्ञादयश्च ।

अनिवृत्तेश्च प्रथमो भाग इति जिनैर्निर्दिष्टम् ॥ ६८४ ॥

अर्थ—वेदमार्गणके तीन भेद हैं, स्त्री, पुरुष, नपुंसक । इसमें नपुंसक वेद स्थावर-काय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति करणके पहले सवेद भाग पर्यन्त रहता है । अत एव इसमें गुणस्थान नव और जीवसमास चौदह होते हैं । शेष स्त्री और पुरुषवेद असंज्ञी पंचेन्द्रिय मिथ्यादृष्टिसे लेकर अनिवृत्तिकरणके सवेद भाग तक होते हैं । यहां पर गुणस्थान तो पहलेकी तरह नव ही है; किन्तु जीवसमास असंज्ञी पंचेन्द्रियके पर्याप्त अपर्याप्त और संज्ञीके पर्याप्त अपर्याप्त इसतरह चार ही होते हैं ।

थावरकायप्पहुदी अणियट्टीबित्तिचउत्थभागोत्ति ।

कोहतिथं लोहो पुण सुहमसुरागोत्ति विण्णेयो ॥ ६८५ ॥

स्थावरकायप्रभृति अनिवृत्तिद्वित्रिचतुर्थभाग इति ।

कोधत्रिकं लोभः पुनः सूक्ष्मसुराग इति विज्ञेयः ॥ ६८५ ॥

अर्थ—कषायमार्गणाकी अपेक्षा क्रोध मान माया ये तीन कषाय स्थावरकायमिथ्या-दृष्टिसे लेकर अनिवृत्ति करणके दूसरे तीसरे चौथे भाग तक क्रमसे रहते हैं । और लोभकषाय दशमे सूक्ष्मसांपराय गुणस्थान तक रहता है । अतएव आदिके तीन कषायोंमें गुणस्थान नव और लोभकषायमें दश होते हैं; किन्तु जीवसमास दोनों जगह चौदह २ ही होते हैं । ∴

थावरकायप्पहुदी मदिसुदअण्णाणयं विभंगो दु ।

सण्णीपुण्णप्पहुदी सासणसम्मोत्ति णायव्वो ॥ ६८६ ॥

स्थावरकायप्रभृति मतिश्रुताज्ञानकं विभङ्गस्तु ।

संज्ञिपूर्णप्रभृति सासनसम्यगिति ज्ञातव्यः ॥ ६८६ ॥

अर्थ—कुमति और कुश्रुत ज्ञान स्थावरकाय-मिथ्यादृष्टिसे लेकर सासादन गुणस्थान तक होते हैं । विभङ्गज्ञान संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सासादनपर्यन्त होता है । कुमति कुश्रुत ज्ञानमें गुणस्थान दो और जीवसमास चौदह होते हैं । विभङ्गमें गुणस्थान दो और जीवसमास एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है ।

सण्णाणतिगं अविरदसम्मादी छट्ठगादि मणपज्जो ।

खीणकसायं जाव दु केवलणाणं जिणे सिद्धे ॥ ६८७ ॥

सद्ज्ञानात्रिकमविरतसम्यग्गादि षष्ठकादिर्मनःपर्ययः ।

क्षीणकषायं यावत्तु केवलज्ञानं जिने सिद्धे ॥ ६८७ ॥

अर्थ—आदिके तीन सम्यग्ज्ञान (मति श्रुत अवाधि) अव्रतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त होते हैं । मनःपर्ययज्ञान छोटे गुणस्थानसे लेकर बारहमे गुणस्थान तक होता है । और केवलज्ञान तेरहमे चौदहमे गुणस्थानमें तथा सिद्धोंके होता है । **भावार्थ**—आदिके तीन सम्यग्ज्ञानोंमें गुणस्थान नव और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । मनःपर्यय ज्ञानमें गुणस्थान सात और जीवसमास एक संज्ञीपर्याप्त ही है । यहां पर यह शंका नहीं हो सकती कि आहारक मिश्रयोगकी अपेक्षा अपर्याप्तता भी सम्भव है इसलिये यहां दो जीवसमास कहने चाहिये ? क्योंकि मनःपर्यय ज्ञानवालेके नियमसे आहारक-कृद्धि नहीं होती । केवलज्ञानकी अपेक्षा गुणस्थान दो (सयोगी, अयोगी) और जीवसमास भी संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । सयोगकेवलियों के समुद्भात समयमें अपर्याप्तता भी होती है यह पहले कहचुके हैं । गुणस्थानोंसे रहित सिद्धोंके भी केवलज्ञान होता है ।

अयदोत्ति हु अविरमणं देसे देसो पमत्त इदरे य ।

परिहारो सामाइयछेदो छट्ठादि थूलोत्ति ॥ ६८८ ॥

सुहमो सुहमकसाये संते खीणे जिणे जहक्खादं ।

संजममगणभेदा सिद्धे णत्थित्ति णिद्धिट्ठं ॥ ६८९ ॥

अयत इति अविरमणं देशे देशः प्रमत्तेतरस्मिन् च ।

परिहारः सामायिकश्छेदः षष्ठादिः स्थूल इति ॥ ६८८ ॥

सूक्ष्मः सूक्ष्मकषाये शान्ते क्षीणे जिने यथाख्यातम् ।

संयममार्गणभेदाः सिद्धे न सन्तीति निर्दिष्टम् ॥ ६८९ ॥

अर्थ—संयममार्गणमें असंयमको भी गिनाया है, इसलिये यह (असंयम) मिश्र्या-दृष्टिसे लेकर अव्रतसम्यग्दृष्टिक होता है । अतः यहां पर गुणस्थान चार और जीवसमास चौदह होते हैं । देशसंयम पांचमे गुणस्थानमें ही होता है । अतः यहां पर गुणस्थान एक और जीवसमास भी एक संज्ञी पर्याप्त ही होता है । परिहारविशुद्धि संयम छोड़े सातमे गुण-स्थानमें ही होता है, यहांपर भी जीवसमास एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है; क्योंकि परिहार-विशुद्धिवाला आहारक नहीं होता । सामायिक और छेदोपस्थापना संयम छोड़े लेकर अनि-वृत्तिकरण गुणस्थानतक होता है । इसलिये यहांपर गुणस्थान चार और जीवसमास दो होते हैं । सूक्ष्मसांपराय संयम दशमे गुणस्थानमें ही होता है । अतः यहांपर गुणस्थान और जीवसमास एक २ ही है । यथाख्यात संयम उपशांतकषाय क्षीणकषाय सयोगकेवली और अयोगकेवलियोंके होता है । यहां पर गुणस्थान चार और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त तथा केवल-समुद्भातकी अपेक्षा अपर्याप्त ये दो होने हैं । सिद्ध गुणस्थान और मार्गणाओंसे रहित हैं अतः उनके कोई भी संयम नहीं होता ।

कमप्राप्त दर्शनमार्गणाकी अपेक्षा यथासम्भवं गुणस्थान और जीवसमाप्त धरित करते हैं ।

चतुरक्षस्थावरविरदसम्माइट्ठी दु खीणमोहोत्ते ।

चक्षुअचक्षू आही जिणसिद्ध केवलं हांदि ॥ ६० ॥

चतुरक्षस्थावरविरतसम्यग्दृष्टिस्तु क्षीणमोह इति ।

चक्षुरचक्षुरवधिः जिनिगिद्धे केवलं भवति ॥ ६० ॥

अर्थ—दर्शनके चार हैं । चक्षुदर्शन अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन केवलदर्शन यह पहले बता चुके हैं । इनमें पहला चक्षुदर्शन चतुरिन्द्रियसे लेकर क्षीणमोहपर्यन्त होता है । और अचक्षुदर्शन भी स्थावरकायमे लेकर क्षीणमोहपर्यन्त ही होता है । तथा अवधिदर्शन अव्रतसम्यग्दृष्टिसे लेकर क्षीणमोहपर्यन्त होता है । केवलदर्शन सयोगकेवल और अयोगकेवल इन दो गुणस्थानोंमें और सिद्धोंके होता है । **भावार्थ**—चक्षुदर्शनमें गुणस्थान बारह और चतुरिन्द्रिय तथा पंचेन्द्रियके असंज्ञी संज्ञीसम्बन्धी अपर्याप्त पर्याप्तकी अपेक्षा जीवसमाप्त छह होते हैं । अचक्षुदर्शनमें गुणस्थान बारह और जीवसमाप्त चौदह होते हैं । अवधिदर्शनमें गुणस्थान नव और जीवसमाप्त संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । केवलदर्शनमें गुणस्थान दो और जीवसमाप्त भी दो होते हैं । विशेषता यह है कि यह (केवलदर्शन) गुणस्थानातीत सिद्धोंके भी होता है ।

लेइयाकी अपेक्षासे गुणस्थान और जीवसमाप्तोंका वर्णन करते हैं ।

थावरकायप्पहुदी अविरदसम्मोत्ति असुहतियलेस्सा ।

सण्णीदो अपमत्तो जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ ॥ ६१ ॥

स्थावरकायप्रभृति अविरतसम्यगिति अशुभत्रिकलेइयाः ।

संज्ञितः अप्रमत्तो यावत्तु शुभास्तिस्रो लेइयाः ॥ ६१ ॥

अर्थ—लेइयाओंके छह भेदोंको पहले बता चुके हैं । उनमें आदिकी कृष्ण नील कापोत ये तीन अशुभ लेइया स्थावरकायमे लेकर चतुर्थ गुणस्थानपर्यन्त होती हैं । और अंतकी पीत पद्म शुक्ल ये तीन शुभलेइया संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त होती हैं । **भावार्थ**—अशुभ लेइयाओंमें गुणस्थान चार और जीवसमाप्त चौदह होते हैं, तथा शुभलेइयाओंमें गुणस्थान सात और जीवसमाप्त दो होते हैं ।

इस कथनसे शुक्ललेइया भी सातमे गुणस्थानतक ही सिद्ध होती है, अतः शुक्ललेइयाके विषयमें अपवादात्मक विशेष कथन करते हैं ।

णवरि य सुक्का लेस्सा सजोगिचरिमोत्ति होदि णियमेण ।

१ क्योंकि यह समीचीन अधिज्ञानकी अपेक्षासे कथन है । जो मिथ्या अर्थात् है उसको विभंग कहते हैं । विभंगके पहले दर्शन नहीं होता ।

गयजोगिम्भि वि सिद्धे लेस्सा णत्थित्ति णिद्धिट्ठं ॥ ६९२ ॥

नवरि च शुक्ला लेस्या सयोगिचरम इति भवति नियमेन ।

गतयोगेऽपि च सिद्धे लेस्या नास्तीति निर्दिष्टम् ॥ ६९२ ॥

अर्थ—शुक्ललेस्यामें यह विशेषता है कि वह संज्ञी पर्याप्त मिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोग-केवल गुणस्थानपर्यन्त होती है । और इसमें जीवसमास दो ही होते हैं । इसके ऊपर चौदहमे गुणस्थानवर्ती जीवोंके तथा सिद्धोंके कोई भी लेस्या नहीं होती, यह परमागममें कहा है ।

थावरकायप्पहुदी अजोगि चरिमोत्ति होंति भवसिद्धा ।

मिच्छाइट्ठिठाणे अभव्वसिद्धा हवन्ति ॥ ६९३ ॥

स्थावरकायप्रभृति अयोगिचरम् इति भवन्ति भवसिद्धाः ।

मिथ्यादृष्टिस्थाने अभव्वसिद्धा भवन्तीति ॥ ६९३ ॥

अर्थ—भव्यसिद्ध स्थावरकाय—मिथ्यादृष्टिसे लेकर अयोगिपर्यंत होते हैं । और अभव्य-सिद्ध मिथ्यादृष्टिस्थानमें ही रहते हैं । **भावार्थ—**भव्यत्वमार्गणाके दो भेद हैं, एक भव्य और दूसरे अभव्य—इन्हींको भव्यसिद्ध अभव्यसिद्ध भी कहते हैं । जिसके निमित्तसे बाह्य निमित्त मिलनेपर सिद्धपर्यायकी तथा उसके साधनभूत सम्यग्दर्शनादिसम्बन्धी शुद्धपर्यायकी प्राप्ति होसके जीवकी उस शक्तिविशेषको भव्यत्वशक्ति कहते हैं । जिसके निमित्तसे बाह्य निमित्तके मिलने पर भी सम्यग्दर्शनादिककी तथा उनके कार्यरूप सिद्धपर्यायकी प्राप्ति न हो सके जीवकी उस शक्तिविशेषको अभव्यत्वशक्ति कहते हैं । भव्यत्वशक्तिवालोंको भव्य और अभव्यत्वशक्तिवाले जीवोंको अभव्य कहते हैं । भव्यजीवोंके चौदह गुणस्थान और चौदह जीवसमास होते हैं । और अभव्य जीवोंके चौदह जीवसमास और एक मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है ।

सम्यक्त्वमार्गणाकी अपेक्षा वर्णन करते हैं ।

मिच्छा सासणमिस्सो सगसगठाणम्मि होदि अयदादो ।

पढमुवसमवेदगसम्मत्तदुगं अप्पमत्तोत्ति ॥ ६९४ ॥

मिथ्यात्वं सासनमिश्रौ स्वकस्वकस्थाने भवति अयतात् ।

प्रथमोपशमवेदकसम्यक्त्वद्विक्रमप्रमत्त इति ॥ ६९४ ॥

अर्थ—सम्यक्त्वमार्गणाके छह भेद हैं—मिथ्यात्व, सासन, मिश्र, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक । इनमें आदिके तीन सम्यक्त्व तो अपने २ गुणस्थानमें ही होते हैं । और प्रथमोपशम तथा वेदक ये दो सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर सातमे गुणस्थानतक होते हैं । **भावार्थ—**मिथ्यादर्शनका गुणस्थान एक प्रथम और जीवसमास चौदह । सासादनका

गुणस्थान एक दूसरा जीवसमास सात होते हैं । वे इस प्रकार हैं कि बाहर एकेन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी इनसम्बन्धी अपर्याप्त और एक संज्ञीपर्याप्त । मिश्रदर्शनका गुणस्थान एक तीसरा और जीवसमास भी संज्ञी पर्याप्त यह एक ही होता है । उपशमसम्यक्त्वके दो भेद हैं—एक प्रथमोपशम दूसरा द्वितीयोपशम । जो प्रतिपक्षी पांच या सात प्रकृतियोंके उपशमसे होता है उसको प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । और जो सम्यग्दर्शन तीन दर्शनमोहनीय प्रकृतियोंके उपशमके साथ २ चार अनंतानुबंधी कषायोंके विसंयोजनसे उत्पन्न होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं । इनमेंसे एक प्रथमोपशम सम्यक्त्व तथा वेदक सम्यक्त्व असंयतसे लेकर अप्रमत्तपर्यंत होता है । प्रथमोपशमसम्यक्त्व अवस्थामें मरण नहीं होता । इसलिये जीवसमास एक संज्ञीपर्याप्त ही होता है । और वेदकसम्यक्त्वमें संज्ञीपर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं । क्योंकि प्रथम नरक और भवनत्रिकको छोड़कर शेष देव, भोगभूमिज मनुष्य तथा तिर्यचोमें अपर्याप्त अवस्थामें भी वेदक सम्यक्त्व रहता है ।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्वको कहते हैं ।

विदियुवसमसम्मत्तं अविरदसम्मादि संतमोहोत्ति ।

खड्गं सम्मं च तद्वा सिद्धोत्ति जिणेहिं णिद्धिं ॥ ६९५ ॥

द्वितीयोपशमसम्यक्त्वमविरतसम्यगादिशांतमोहइति ।

क्षायिकं सम्यक्त्वं च तथा सिद्धइति जिनेर्निर्दिष्ट ॥ ६९६ ॥

अर्थ—द्वितीयोपशम सम्यक्त्व चतुर्थ गुणस्थानसे लेकर उपशांतमोहपर्यन्त होता है । क्षायिक सम्यक्त्व चतुर्थगुणस्थानसे लेकर सिद्धपर्यन्त होता है । द्वितीयोपशम सम्यक्त्वमें संज्ञीपर्याप्त और देव अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं । क्षायिक सम्यक्त्वं संज्ञीपर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं । तथा यह सम्यक्त्व सिद्धोंके भी होता है; परन्तु वहांपर कोई भी जीवसमास नहीं होता । **भावार्थ—**यहां पर चतुर्थ पंचम तथा षष्ठ गुणस्थानमें जो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व बताया है उसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि द्वितीयोपशम सम्यक्त्व सातमे गुणस्थानमें ही उत्पन्न होता है; परन्तु वहांसे श्रेणिका आरोहण करके जब म्यारहमे गुणस्थानसे नीचे गिरता है तब छोटे पांचमे चौथे गुणस्थानमें भी आता है इस अपेक्षासे इन गुणस्थानोंमें भी द्वितीयोपशम सम्यक्त्व रहता है ।

१ विशेषता इतनी है कि द्वितीयोपशम सम्यक्त्वसे च्युत होकर जो सासादन गुणस्थानको प्राप्त होता है उसके संज्ञीपर्याप्त और देवअपर्याप्त ये दो ही जीवसमास होते हैं । २ अनंतानुबंधीका अप्रत्याख्यानादिभ्य परिणमन होना ।

३ वेदकसम्यक्त्वका लक्षण पहले कह चुके हैं ।

संज्ञामार्गणाकी अपेक्षा वर्णन करते हैं ।

सण्णी सण्णिप्पहुदी खीणकसाओत्ति होदि णियमेण ।

थावरकायप्पहुदी असण्णित्ति हवे असण्णी हु ॥ ६९६ ॥

संज्ञी संज्ञिप्रभृतिः क्षीणकपाय इति भवति नियमेन ।

स्थावरकायप्रभृतिः असंज्ञीति भवेदसंज्ञी हि ॥ ६९६ ॥

अर्थ—संज्ञी जीव संज्ञी मिथ्यादृष्टिसे लेकर क्षीणकपायपर्यन्त होते हैं । इनमें गुण-स्थान बारह और जीवसमास संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो होते हैं । असंज्ञी जीव स्थावरकायसे लेकर असंज्ञीपञ्चेन्द्रियपर्यन्त होते हैं । इनमें गुणस्थान एक मिथ्यात्व ही होता है, और जीव-समास संज्ञीसम्बन्धी पर्याप्त अपर्याप्त इन दो भेदोंको छोड़कर शेष बारह होते हैं ।

थावरकायप्पहुदी सजोगिचरिमोत्ति होदि आहारी ।

कम्मइय अणाहारी अजोगिसिद्धे वि णायव्वो ॥ ६९७ ॥

स्थावरकायप्रभृतिः सयोगिचरम इति भवति आहारी ।

कर्मण अनाहारी अयोगिसिद्धेऽपि ज्ञातव्यः ॥ ६९७ ॥

अर्थ—स्थावरकायमिथ्यादृष्टिसे लेकर सयोगकेवलीपर्यन्त आहारी होते हैं । और कर्मणकाययोगवाले तथा अयोगकेवली अनाहारक समझने चाहिये । **भावार्थ—**कर्मणकाय-योग और अयोग केवल गुणस्थानवाले जीवोंको छोड़कर शेष समस्त संसारी जीव आहारक होते हैं । आहारक जीवोंके आदिके तेरह गुणस्थान और चौदह जीवसमास होते हैं । अनाहारक जीवोंके गुणस्थान पांच (मिथ्यादृष्टि सासादन असंयत सयोगी अयोगी) और जीवसमास सात अपर्याप्त और एक अयोगीसम्बन्धी पर्याप्त इसप्रकार आठ होते हैं ।

किंस २ गुणस्थानमें कौन २ सा जीवसमास होता है यह धटित करते हैं ।

मिच्छे चोद्वस जीवा सासण अयदे पमत्तविरदे य ।

सण्णिदुग्गं सेसगुणे सण्णीपुण्णो दु खीणोत्ति ॥ ६९८ ॥

मिथ्यात्वे चतुर्दश जीवाः सासनायते प्रमत्तविरते च ।

संज्ञिद्विकं शेषगुणे संज्ञिपूर्णस्तु क्षीण इति ॥ ६९८ ॥

अर्थ—मिथ्यात्वगुणस्थानमें चौदह जीवसमास हैं । सासादन असंयत प्रमत्तविरत चक्रा-रसे सयोगकेवली इनमें संज्ञी पर्याप्त अपर्याप्त ये दो जीवसमास होते हैं । शेष गुणस्थानोंमें संज्ञी-पर्याप्त एक ही जीवसमास होता है ।

मार्गणास्थानोंमें जीवसमासोंको संक्षेपसे दिखते हैं ।

तिरियगदीए चोद्वस हवन्ति सेसेसु जाण दो दो दु ।

मग्गणठाणस्सेवं णेयाणि समासठाणाणि ॥ ६९९ ॥

तिर्यग्गतौ चतुर्दश भवन्ति शेषेषु जानीहि द्वौ द्वौ तु ।

मार्गणास्थानस्यैवं ज्ञेयानि समासस्थानानि ॥ १९९ ॥

अर्थ—मार्गणास्थानके जीवसमासोंको संक्षेपमे इसप्रकार समझना चाहिये कि तिर्यग्मा-
तिमार्गणमें तो चौदह जीवसमास होते हैं । और शेष समस्त गतियोंमें दो दो ही जीवस-
मास होते हैं ।

गुणस्थानोंमें पर्याप्ति और प्राणोंको बताते हैं ।

पञ्जती पाणावि य सुगमा भावेन्द्रियं ण जोगिग्धि ।

तहि वाचुत्सासाउगकायत्तिगदुगमजोगिणो आऊ ॥ ७०० ॥

पर्याप्तयः प्राणा अपि च सुगमा भावेन्द्रियं न योगिनि ।

तस्मिन् वागुच्छ्वासायुष्ककायविकद्विकमयोगिन आयुः ॥ ७०० ॥

अर्थ—पर्याप्ति और प्राण ये सुगम हैं, इसलिये यहां पर इनका पृथक् उल्लेख नहीं करते; क्योंकि बारहमे गुणस्थानतक सब ही पर्याप्ति और सब ही प्राण होते हैं । तेहरमे गुणस्थानमें भवेन्द्रिय नहीं होती; किन्तु द्रव्येन्द्रियकी अपेक्षा छहों पर्याप्ति होती हैं । परन्तु प्राण यहांपर चार ही होते हैं—वचन श्वासोच्छ्वास आयु कायबल । इसी गुणस्थानमें वचनबलका अभाव होनेसे तीन और श्वासोच्छ्वासका अभाव होनेसे दो प्राण रहते हैं । चौदहमे गुणस्थानमें काययोगका भी अभाव होजानेसे केवल आयु प्राण ही रहता है ।

क्रमप्राप्त संज्ञाओंको गुणस्थानोंमें बताते हैं ।

छट्टोत्ति पढमसण्णा सकज्ज सेसा य कारणावेक्खा ।

पुव्वो पढमणियट्ठी सुहुमोत्ति कमेण सेसाओ ॥ ७०१ ॥

षष्ठ इति प्रथमसंज्ञा सकार्या शेषाश्च कारणापेक्षाः ।

अपूर्वः प्रथमानिवृत्तिः सूक्ष्म इति क्रमेण शेषाः ॥ ७०१ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व गुणस्थानसे लेकर प्रमत्तपर्यन्त आहार भय मैथुन और परिग्रह ये चारों ही संज्ञा कार्यरूप होती हैं । किन्तु इसके ऊपर अप्रमत्त आदिकमें जो तीन आदिक संज्ञा होती हैं वे सब कारणकी अपेक्षासे होती हैं । छठे गुणस्थानमें आहारसंज्ञाकी व्युच्छित्ति होजाती है । शेष तीन संज्ञा कारणकी अपेक्षासे अपूर्वकरणपर्यन्त होती हैं । यहांपर (अपूर्वकरणमें) भयसंज्ञाकी भी व्युच्छित्ति होजाती है । शेष दो संज्ञा अनिवृत्तिकरणके सवेदभागपर्यन्त होती हैं । यहां पर मैथुनसंज्ञाका विच्छेद होनेसे सूक्ष्मसांपरायमें एक परिग्रह संज्ञा ही होती है । इस परिग्रह संज्ञाका भी यहां विच्छेद होजानेसे ऊपर उपशातकपाय आदि गुणस्थानोंमें कोई भी संज्ञा नहीं होती ।

मग्गण उवजोगावि य सुग्गमा पुब्बं परूविदत्तादो ।

गदिआदिसु मिच्छादी परूविदे रूविदा होंति ॥ ७०२ ॥

मार्गणा उपयोगा अपि च सुग्गमाः पूर्वं प्ररूपितत्वात् ।

गत्यादिषु मिथ्यात्वादौ प्ररूपिते रूपिता भवन्ति ॥ ७०२ ॥

अर्थ—पहले मार्गणास्थानकमें गुणस्थान और जीवसमासादिका निरूपण कर चुके हैं इसलिये यहां गुणस्थानके प्रकरणमें मार्गणा और उपयोगका निरूपण करना सुगम है ।
भावार्थ—मार्गणा और उपयोग किसतरह सुगम हैं यह संक्षेपमें यहां पर स्पष्ट करते हैं । मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें नरकादि चारो ही गति पर्याप्त और अपर्याप्त होती हैं । सासादन गुणस्थानमें नरकगतिको छोड़कर शेष तीनों गति पर्याप्त अपर्याप्त होती हैं । और नरक गति पर्याप्त ही है । मिश्रगुणस्थानमें चारों ही गति पर्याप्त ही होती हैं । असंयत गुणस्थानमें प्रथम नरक पर्याप्त भी है अपर्याप्त भी है । शेष छहों नरक पर्याप्त ही हैं । तिर्यग्मा-
 तिमें भोगभूमिज तिर्यंच पर्याप्त अपर्याप्त दोनों ही होते हैं । कर्मभूमिज तिर्यंच पर्याप्त ही होते हैं । मनुष्यगतिमें भोगभूमिज मनुष्य और कर्मभूमिज मनुष्य भी पर्याप्त अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं । देवगतिमें भवनत्रिक पर्याप्त ही होते हैं । और वैमानिक देव पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं । देशसंयत गुणस्थानमें कर्मभूमिज तिर्यंच और मनुष्य ये दो ही और पर्याप्त ही होते हैं । प्रमत्तगुणस्थानमें मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं । किन्तु आहारक शरीरकी अपेक्षा पर्याप्त अपर्याप्त दोनों होते हैं । अप्रमत्तसे लेकर क्षीणकषायपर्यन्त मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं । सयोगकेवलियोंमें पर्याप्त तथा समुद्रातकी अपेक्षा अपर्याप्त भी मनुष्य होते हैं । अयोगकेवलियोंमें मनुष्य पर्याप्त ही होते हैं । इन्द्रियमार्गणाके पांच भेद हैं । ये पांचो ही मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों प्रकारके होते हैं । सासादनमें पांचो अपर्याप्त होते हैं; और पंचेन्द्रिय पर्याप्त भी होता है अर्थात् अपर्याप्त अवस्थामें पांचो ही इन्द्रियवालोंके सासादन गुणस्थान होता है; किन्तु पर्याप्त अवस्थामें पंचेन्द्रियके ही सासादन गुणस्थान होता है । मिश्रगुणस्थानमें पंचेन्द्रिय पर्याप्त ही है । असंयतमें पंचेन्द्रिय पर्याप्त वा अपर्याप्त होते हैं । देशसंयतसे लेकर अयोगी-
 पर्यन्त सर्वगुणस्थानोंमें पंचेन्द्रिय पर्याप्त ही होते हैं; किन्तु छठे गुणस्थानमें आहारककी अपेक्षा और सयोगीमें समुद्रातकी अपेक्षा अपर्याप्त पंचेन्द्रिय भी होता है । कायके छह भेद हैं । पांच स्थावर और एक त्रस । ये छहों मिथ्यात्वमें पर्याप्त अपर्याप्त दोनों होते हैं । सासादनमें बादर—पृथ्वी जल वनस्पती तथा द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय असंज्ञी पंचेन्द्रिय अपर्याप्त ही होते हैं और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त अपर्याप्त दोनों ही होते हैं । मिश्रगुणस्थानसे लेकर अयोगीतक संज्ञी त्रसकाय पर्याप्त ही होता है; किन्तु असंयत गुणस्थानमें तथा

आहारककी अपेक्षा प्रमत्तमें और समुद्भातकी अपेक्षा सयोगीमें संज्ञी-तकाय अपर्याप्त भी होता है । भावयोग आत्माकी शक्तिरूप है यह पहले कह चुके हैं । मन-वचन-कायके निमित्तसे जीवप्रदेशोंके नचल होनेको द्रव्य योग कहते हैं । इसके तीन भेद हैं, मन वचन काय । इसमें मन और वचनके चार २ भेद हैं—सत्य असत्य उभय अनुभय । काययोगके सात भेद हैं—औदारिक वैक्रियिक आहारक और इन तीनोंकेमिश्र तथा कार्माण । इस प्रकार योगके पन्द्रह भेद होते हैं । इनमेंसे किस २ गुणस्थानमें कितने २ योग होते हैं यह बतानेकेलिये आचार्य सूत्र करते हैं—

तिष्ठु तेरं दस मिस्से सत्तसु णव छट्ठयम्मि एयारा ।

जोगिम्मि सत्त जोगा अजोगिठाणं हवे सुण्णं ॥ ७०३ ॥

त्रिषु त्रयोदश दश मिश्रे सप्तसु नव षष्ठे एकादश ।

योगिनि सप्त योगा अयोगिस्थानं भवेत् शून्यम् ॥ ७०३ ॥

अर्थ—मिथ्यादृष्टि सासादन असंयत इन तीन गुणस्थानोंमें उक्त पन्द्रह योगोंमेंसे आहारक आहारकमिश्रको छोड़कर शेष तेरह योग होते हैं । मिश्रगुणस्थानमें उक्त तेरह-योगोंमेंसे औदारिकमिश्र वैक्रियिकमिश्र कार्माण इन तीनोंके घटजानेसे शेष दश योग होते हैं । इसके ऊपर छठे गुणस्थानको छोड़कर सात गुणस्थानोंमें नव योग होते हैं; क्योंकि उक्त दश योगोंमेंसे वैक्रियिक योग और भी घट जाता है । किन्तु छठे गुणस्थानमें म्यारह योग होते हैं; क्योंकि उक्त दश योगोंमेंसे वैक्रियिक योग घटता है और आहारक आहारकमिश्र ये दो योग मिलते हैं । सयोगकेवलीमें सातयोग होते हैं; वे ये हैं—सत्यमनोयोग अनुभयमनोयोग सत्यवचनयोग अनुभयवचनयोग औदारिक औदारिकमिश्र कार्माण । अयोगकेवलीके कोई भी योग नहीं होता । **भावार्थ**—इस सूत्रमें प्रत्येक गुणस्थानमें कितने २ योग होते हैं उनको बताकर अब वेदादिक मार्गणाओंको बताते हैं । वेदके तीन भेद है, स्त्री पुरुष नपुंसक । ये तीनों ही वेद अनिवृत्ति करणके सवेद भागपर्यन्त होते हैं—आगे किसी भी गुणस्थानमें नहीं होते । कषायके चार भेद हैं । क्रोध मान माय लोभ—इनमें प्रत्येकके अनंतानुबन्धी आदि चार २ भेद होते हैं । इस प्रकार कषायके सोलह भेद होते हैं । इनमेंसे मिथ्यात्व और सासादन गुणस्थानमें अनंतानुबन्धी आदि चारो कषायका उदय रहता है । मिश्र और असंयतमें अनंतानुबन्धीको छोड़कर शेष तीन कषाय रहते हैं । देशसंयतमें प्रत्याख्यान और संज्वलन ये दो ही कषाय रहते हैं । प्रमत्तादिक अनिवृत्तिकरणके दूसरे भागपर्यन्त संज्वलन कषाय रहता है । तीसरे भागमें संज्वलनके मान माया लोभ ये तीन ही भेद रहते हैं—क्रोध नहीं रहता । चौथे भागतक माया और लोभ, तथा पांचमे भागतक बादर लोभ रहता है । दशमे गुणस्थान तक सूक्ष्मलोभ रहता है । इसके ऊपर सर्व गुणस्थान कषायरहित

ही हैं । ज्ञानके आठ भेद हैं, कुमति कुश्रुत, विभंग, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल । इनमें आदिके तीन मिथ्या और अंतके पांच ज्ञान सम्यक् होते हैं । मिथ्यादृष्टि सासादनमें आदिके तीन ज्ञान होते हैं । मिश्रमें भी आदिके तीन ही ज्ञान होते हैं, परन्तु वे विपरीत या समीचीन नहीं होते; किन्तु मिश्ररूप होते हैं । असंयत देशसंयतमें सम्यग्ज्ञानोंमेंसे आदिके तीन होते हैं । प्रमत्तादिक क्षीणकषायपर्यन्त आदिके चार सम्यग्ज्ञान होते हैं । सयोगी अयोगीमें केवल केवलज्ञान ही होता है । संयमका सामान्यकी अपेक्षा एक सामायिक; किन्तु विशेष अपेक्षा सात भेद हैं । असंयम देशसंयम सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि सूक्ष्मसांपराय यथाख्यात । इनमें आदिके चार गुणस्थानोंमें असंयम और पांचमे गुणस्थानमें देशसंयम होता है । प्रमत्त अप्रमत्तमें सामायिक छेदोपस्थापना परिहारविशुद्धि ये तीन संयम होते हैं । आठमे नवमेमें सामायिक छेदोपस्थापना दो ही संयम होते हैं । दशमे गुणस्थानमें सूक्ष्मसांपराय होता है । इसके ऊपर सब गुणस्थानोंमें यथाख्यात संयम ही होता है । दर्शनके चार भेद हैं, चक्षु अचक्षु अवधि केवल । मिश्रपर्यन्त तीन गुणस्थानोंमें चक्षु अचक्षु दो दर्शन होते हैं । असंयतादि क्षीणकषाय पर्यन्त चक्षु अचक्षु अवधि ये तीन दर्शन होते हैं । सयोगी अयोगी तथा सिद्धोंके केवलदर्शन ही होता है । लेइयाके छह भेद हैं, कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल । इनमें आदिकी तीन अशुभ और अंतकी तीन शुभ हैं । आदिके चार गुणस्थानोंमें छहों लेइया होती हैं । देशसंयतसे लेकर अप्रमत्तपर्यन्त तीन शुभ लेइया होती हैं । इसके ऊपर सयोगी पर्यन्त शुक्ल लेइया ही होती है । और अयोगी गुणस्थान लेइयारहित है । भव्यमार्गणाके दो भेद हैं, भव्य अभव्य । मिथ्यादृष्टि गुणस्थानमें भव्य अभव्य दोनों होते हैं । सासादनादि क्षीणकषायपर्यन्त भव्य ही होते हैं । सयोगी और अयोगी भव्य अभव्य दोनोंसे रहित हैं । सम्यक्त्वके छह भेद हैं, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, उपशम, वेदक, क्षायिक । मिथ्यात्वमें मिथ्यात्व, सासादनमें सासादन, मिश्रमें मिश्र सम्यक्त्व होता है । असंयतसे अप्रमत्ततक उपशम वेदक क्षायिक तीनों सम्यक्त्व होते हैं । उसके ऊपर उपशमश्रेणीमें—अपूर्वकरण आदि उपशांतकषायतक उपशम और क्षायिक दो सम्यक्त्व होते हैं । क्षपक श्रेणीमें—अपूर्वकरण आदि समस्त गुणस्थानोंमें तथा सिद्धोंके क्षायिक सम्यक्त्व ही होता है । संज्ञीमार्गणाके दो भेद हैं—एक संज्ञी दूसरा असंज्ञी । प्रथम मिथ्यात्व गुणस्थानमें संज्ञी असंज्ञी दोनों ही मार्गणा होती हैं । इसके आगे सासादन आदि क्षीणकषायपर्यन्त संज्ञी मार्गणा ही होती है । सयोगी अयोगीके मन नहीं होता अतः कोई भी संज्ञा नहीं होती । आहारमार्गणाके भी दो भेद हैं—एक आहार दूसरा अनाहार । मिथ्यादृष्टि सासादन असंयत सयोगी इनमें आहार अनाहार दोनों ही होते हैं । अयोगीकेवली अनाहार ही होते हैं । शेष नव गुणस्थानोंमें आहार ही होता है ।

गुणस्थानोंमें मार्गणाओंको बताकर अब उपयोगको बताते हैं ।

दोणं पंच य छञ्चव दोसु मिस्सम्मि होंति वामेस्सा ।

सत्तुवजोगा सत्तसु दो चेव जिणे य सिद्धे य ॥ ७०४ ॥

द्वयोः पञ्च च छट् चैव द्वयोर्मिश्रे भवन्ति व्यामिश्राः ।

सप्तोपयोगाः सप्तसु द्वौ चैव जिने च सिद्धे च ॥ ७०४ ॥

अर्थ—दो गुणस्थानोंमें पांच, और दोमें छह, मिश्रमें मिश्ररूप छह, सात गुणस्थानोंमें सात, जिन, और सिद्धोंके दो उपयोग होते हैं । **भावार्थ**—उपयोगके मूलमें दो भेद हैं, एक ज्ञान दूसरा दर्शन । ज्ञानके आठ भेद हैं, इनके नाम पहले बता चुके हैं । दर्शनके चार भेद हैं इनके भी नाम पहले गिना चुके हैं । इसतरह उपयोगके बारह भेद हैं । इनमेंसे मिथ्यात्व और सासादनमें आदिके तीन ज्ञान और आदिके दो दर्शन ये पांच उपयोग होते हैं । असंयत और देशसंयतमें मति श्रुत अवाधि तथा चक्षु अचक्षु अवधिदर्शन ये छह उपयोग होते हैं । मिश्र गुणस्थानमें ये ही छह उपयोग मिश्ररूप होते हैं । प्रमत्तादि क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थानोंमें मनःपर्ययसहित सात उपयोग होते हैं । सयोगी अयोगी तथा सिद्धोंके केवलज्ञान और केवलदर्शन ये दो ही उपयोग होते हैं ।

इसप्रकार गुणस्थानोंमें वीसप्ररूपणानिरूपणनामा इक्कीसमा अधिकार समाप्त हुआ ।



इष्टदेवको नमस्कार करते हुए आलपाधिकारको कहनेकी प्रतिज्ञा करते हैं ।

गोयमथेरं पणमिय ओघादेसेसु वीसभेदाणं ।

योजनिकाणालावं वोच्छामि जहाकमं सुणह ॥ ७०५ ॥

गौतमस्थविरं प्रणम्य ओघादेशयोः विशभेदानाम् ।

योजनिकानामालापं वक्ष्यामि यथाक्रमं शृणुत ॥ ७०५ ॥

अर्थ—सिद्धोंको वा वर्षमान—तीर्थकरको यद्वा गौतमगणधरस्वामीको अथवा साधुसमूहको नमस्कार करके गुणस्थान और मार्गणाओंके योजनिकारूप वीस भेदोंके आलापको क्रमसे कहता हूँ सो सुनो ।

ओवे चोदसठाणे सिद्धे वीसदिविहाणमालावा ।

वेदकषायविभिण्णे अणियङ्गीपंचभागे य ॥ ७०६ ॥

ओघे चतुर्दशस्थाने सिद्धे विंशतिविधानामालापाः ।

वेदकषायविभिन्ने अनिवृत्तिपञ्चभागे च ॥ ७०६ ॥

अर्थ—चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणास्थानोंमें उक्त वीस प्ररूपणओंके सामान्य पर्याप्त अपर्याप्त ये तीन आलाप होते हैं । वेद और कषायकी अपेक्षासे अनिवृत्तिकरणके पांच भागोंमें पांच आलाप भिन्न २ समझने चाहिये ।

गुणस्थानोंमें आलापोंको बताते हैं ।

ओघे मिच्छदुगेवि य अयदपमत्ते सजोगिठाणम्मि ।

तिण्णेव य आलावा सेसेसिक्को हवे णियमा ॥ ७०७ ॥

ओघे मिथ्यात्वद्विऽके पि च अयतप्रमत्तयोः सयोगिस्थाने ।

त्रय एवचालापाः शेषेष्वेको भवेत् नियमात् ॥ ७०७ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व सासादन असंयत प्रमत्त सयोगकेवली इन गुणस्थानोंमें तीनों आलाप होते हैं । शेष गुणस्थानोंमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है ।

इसी अर्थको स्पष्ट करते हैं ।

सामण्णं पज्जत्तमपज्जत्तं चेदि तिण्णि आलावा ।

दुवियप्पमपज्जत्तं लब्धीणिव्वत्तगं चेदि ॥ ७०८ ॥

सामान्यः पर्याप्तः अपर्याप्तश्चेति त्रय आलापाः ।

द्विविकल्पोऽपर्याप्तो लब्धिवर्निवृत्तिकश्चेति ॥ ७०८ ॥

अर्थ—आलापके तीन भेद हैं—सामान्य पर्याप्त अपर्याप्त । अपर्याप्तके दो भेद हैं—एक लब्धपर्याप्त दूसरा निर्वृत्त्यपर्याप्त ।

दुविहं पि अपज्जत्तं ओघे मिच्छेव होदि णियमेण ।

सासणअयदपमत्ते णिव्वत्तिअपुण्णगो होदि ॥ ७०९ ॥

द्विविधोऽप्यपर्याप्त ओघे मिथ्यात्व एव भवति नियमेन ।

सासादनायतप्रमत्तेषु निर्वृत्त्यपूर्णको भवति ॥ ७०९ ॥

अर्थ—दोनों प्रकारके अपर्याप्त आलाप समस्त गुणस्थानोंमेंसे मिथ्यात्व गुणस्थानमें ही होते हैं । सासादन असंयत प्रमत्त इनमें निर्वृत्त्यपर्याप्त आलाप होता है । **भावार्थ—**अपर्याप्तके जो दो भेद गिनाये हैं उनमेंसे प्रथम गुणस्थानमें दोनों और सासादन असंयत प्रमत्त इनमें एक निर्वृत्त्यपर्याप्त ही होता है; किन्तु सामान्य और पर्याप्त ये दोनों आलाप सर्वत्र—पाँचो गुणस्थानोंमें होते हैं ।

जोगं पडि जोगिजिणे होदि हु णियमा अपुण्णगत्तं तु ।

अवसेसणवट्ठाणे पज्जत्तालावगो एक्को ॥ ७१० ॥

योगं प्रति योगिजिने भवति हि नियमादपूर्णकत्वं तु ।

अवशेषनवस्थाने पर्याप्तालापक एकः ॥ ७१० ॥

अर्थ—सयोगकेवलियोंमें योगकी (समुद्धातकी) अपेक्षासे नियमसे अपर्याप्तकता होती है; इसलिये उक्त पाँच गुणस्थानोंमें तीन २ आलाप और शेष नव गुणस्थानोंमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है ।

कमप्राप्त चौदह मार्गणाओमें आलापोका वर्णन करते हैं ।

सत्तण्हं पुढवीणं ओघे मिच्छे य तिण्णि आलावा ।

पढमाविरदेवि तहा सेसाणं पुण्णमालावो ॥ ७११ ॥

सप्तानां पृथिवीनामोघे मिश्रत्वे च त्रय आलापाः ।

प्रथमाविरतेपि तथा शेषाणां पूर्णकालापः ॥ ७११ ॥

अर्थ—सातो ही पृथिवियोंमें गुणस्थानोंमेंसे मिश्रत्वात् गुणस्थानमें तीन आलाप होते हैं । तथा प्रथमा पृथिवीके अविरत गुणस्थानमें भी तीन आलाप होते हैं । शेष पृथिवियोंमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । **भावार्थ**—प्रथम पृथिवीको छोड़कर शेष छह पृथिवियोंमें सासादन मिश्र असंयत ये तीन गुणस्थान पर्याप्त अवस्थामें ही होते हैं । अतः इन छह पृथिवीसम्बन्धी तीन गुणस्थानोंमें और प्रथम पृथिवीके सासादन तथा मिश्रमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है, शेष स्थानोंमें तीनों ही आलाप होते हैं ।

तिरियचउक्काणोघे मिच्छदुगे अविरदे य तिण्णे व ।

णवरि य जोणिणि अयदे पुण्णो सेसेवि पुण्णो दु ॥ ७१२ ॥

तिर्यक्चतुष्काणामोघे मिश्रत्वात्त्रिके अविरते च त्रय एव ।

नवरि च योनिन्ययते पूर्णः शेषेऽपि पूर्णस्तु ॥ ७१२ ॥

अर्थ—तिर्यश्च पांच प्रकारके होते हैं—सामान्य, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, योनिमती, अपर्याप्त । इनमेंसे अंतके अपर्याप्तको छोड़कर शेष चार प्रकारके तिर्यचोंके पांच गुणस्थान होते हैं । जिनमेंसे मिश्रत्वात् सासादन असंयत इन गुणस्थानोंमें तीन २ आलाप होते हैं । इसमें भी इतनी विशेषता है कि योनिमती तिर्यचके असंयत गुणस्थानमें एक पर्याप्त आलाप ही होता है । शेष मिश्र और देशसंयतमें भी पर्याप्त ही आलाप होता है ।

तेरिच्छियलद्धियपज्जत्ते एक्को अपुण्ण आलावो ।

मूलोघं मणुसतिये मणुसिणिअयदग्धि पज्जत्तो ॥ ७१३ ॥

तिर्यक्लब्धपर्याप्ते एकः अपूर्ण आलापः ।

मूलोघं मनुष्यत्रिके मानुष्ययते पर्याप्तः ॥ ७१३ ॥

अर्थ—लब्धपर्याप्ते तिर्यचोंके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है । मनुष्यके चार भेद हैं ।—सामान्य, पर्याप्त, योनिमत्, अपर्याप्त । इनमेंसे आदिके तीन मनुष्योंके चौदह गुणस्थान होते हैं^१ । उनमें गुणस्थानसामान्यके समान ही आलाप होते हैं । विशेषता इतनी

^१ यहाँ यह शंका नहीं हो सकती कि 'योनिमत् मनुष्यके छठे आदि गुणस्थान किध तरह हो सकते हैं ?' क्योंकि जीवकाण्डमें जीवके भावोक्ती प्रधानतासे वर्णन है । अतएव यहभी भाववेदकी अपेक्षा कथन है ।

है कि असंयत गुणस्थानवर्ती मानुषीके एक पर्याप्त ही आलाप होता है **भावार्थ**—गुणस्थानोंमें जिस क्रमसे आलापोंका वर्णन किया है उस ही क्रमसे मनुष्यगतिमें भी आलापोंको समझना चाहिये; किन्तु विशेषता यह है कि योनिमत् मनुष्यके असंयत गुणस्थानमें एक पर्याप्त आलाप ही होता है ।

मणुसिणि पमत्तविरदे आहारदुगं तु णत्थि णियमेण ।

अवगदवेदे मणुसिणि सण्णा भूदगदिमासेज्ज ॥ ७१४ ॥

मानुष्यां प्रमत्तविरते आहारद्विकं तु नास्ति नियमेन ।

अपगतवेदायां मानुष्यां संज्ञा भूतगतिमासाद्य ॥ ७१४ ॥

अर्थ—जो द्रव्यसे पुरुष है; किन्तु भावकी अपेक्षा स्त्री है ऐसे प्रमत्तविरत जीवके आहारक शरीर और आहारक आङ्गोपाङ्ग नामकर्मका उदय नियमसे नहीं होता । वेदरहित अनिवृत्तिकरण गुणस्थानवाले भावस्त्री—मनुष्यके जो मैथुनसंज्ञा कही है वह भूतगतिन्यायकी अपेक्षामें कही है । **भावार्थ**—जिस तरह पहले कोई सेठ था परन्तु वर्तमानमें वह सेठ नहीं है तो भी पहलेकी अपेक्षासे उसको सेठ कहते हैं । इसी तरह वेदरहित जीवके यद्यपि वर्तमानमें मैथुनसंज्ञा नहीं है तथापि पहले स्त्री इसलिये वहां पर मैथुनसंज्ञा कही जाती है । इस गाथामें जो तु शब्द पड़ा है उससे इतना विशेष समझना चाहिये कि स्त्रीवेद या नपुंसकवेदके उदयमें मनःपर्यय ज्ञान और परिहारविशुद्धि संयम भी नहीं होता । द्रव्यस्त्रीके पांच ही गुणस्थान होते हैं; किन्तु भावमानुषीके चौदहों गुणस्थान होसकते हैं । इसमें भी भाववेद नौमें गुणस्थानसे ऊपर नहीं रहता । तथा आहारक ऋद्धि और परिहारविशुद्धिसंयमवाले जीवोंके द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता ।

णरलद्धिअपज्जत्ते एको दु अपुण्णगो दु आलावो ।

लेस्साभेदविभिण्णा सत्त वियप्पा सुरहाणा ॥ ७१५ ॥

नरलब्ध्यपर्याप्ते एकस्तु अपूर्णकस्तु आलापः ।

लेइयाभेदविभिन्नानि सप्त विकल्पानि सुरस्थानानि ॥ ७१५ ॥

अर्थ—मनुष्यगतिमें जो लब्ध्यपर्याप्त हैं उनके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है । देवगतिमें लेइयाभेदकी अपेक्षासे सात विकल्प होते हैं । **भावार्थ**—देवगतिमें लेइयाकी अपेक्षासे सात भेदोंको पहले बताचुके हैं कि; भवनत्रिकमें तेजका जघन्य अंश, सौधर्मयुगलमें तेजका मध्यमांश, सनत्कुमार युगलमें तेजका उत्कृष्ट अंश और पद्मका जघन्य अंश, ब्रह्मादिक छह स्वर्गोंमें पद्मका मध्यमांश, शतारयुगलमें पद्मका उत्कृष्ट और शुक्लका जघन्य अंश, आनतादिक तेरहमें शुक्लका मध्यमांश, अनुदिश और अनुत्तरमें शुक्ललेइयाका उत्कृष्ट अंश होता है ।

सर्वसुराणं ओघे मिच्छदुगे अविरदे य तिण्णेव ।

णवरि य भवणतिकप्पित्थीणं च य अविरदे पुण्णो ॥ ७१६ ॥

सर्वसुराणामोघे मिथ्यात्वद्विके अविरते च त्रय एव ।

नवरि च भवनत्रिकल्पस्त्रीणां च च अविरते पूर्णः ॥ ७१६ ॥

अर्थ—समस्त देवोंके चार गुणस्थान सम्भव हैं । उनमेंसे मिथ्यात्व सासादन अविरत गुणस्थानमें तीन २ आलाप होते हैं । किन्तु इतनी विशेषता है कि भवनत्रिक देव और कल्पवासिनी देवी इनके असंयत गुणस्थानमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है ।

मिस्से पुण्णालाओ अणुद्दिसानुत्तरा हू ते सम्मा ।

अविरद तिण्णालावा अणुद्दिसानुत्तरे हांति ॥ ७१७ ॥

मिश्रे पूर्णालापः अनुदिशानुत्तरा हि ते सम्यग्धः ।

अविरते त्रय आलापा अनुदिशानुत्तरे भवन्ति ॥ ७१७ ॥

अर्थ—नव त्रैवेयकपर्यन्त सामान्यसे समस्त देवोंके मिश्र गुणस्थानमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । इसके उपर अनुदिश और अनुत्तर विमानवासी सब देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं; अतः इन देवोंके अविरत गुणस्थानमें तीन आलाप होते हैं ।

क्रमप्राप्त इन्द्रियमार्गणामें आलापोंको बताते हैं ।

बादरसूहमेइंदियवितिचउरिंदियअसण्णिजीवाणं ।

ओघे पुण्णे तिण्णि य अपुण्णगे पुण अपुण्णो हु ॥ ७१८ ॥

बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुरिन्द्रियासंज्ञिजीवानाम् ।

ओघे पूर्णं त्रयश्च अपूर्णके पुनः अपूर्णस्तु ॥ ७१८ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय—बादर सूक्ष्म, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों मेंसे जिनके पर्याप्ति—नामकर्मका उदय है उनके तीन आलाप होते हैं । और जिनके अपर्याप्ति-नामकर्मका उदय होता है उनके लब्ध्यपर्याप्ति ही आलाप होता है । **भावार्थ—**निर्वृत्यपर्याप्तके भी पर्याप्ति नामकर्मका ही उदय रहता है अतः उसके भी तीन ही आलाप होते हैं ।

सण्णी ओघे मिच्छे गुणपड्डिवण्णे य मूलआलावा ।

लद्धियपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ॥ ७१९ ॥

संश्लोषे मिथ्यात्वे गुणप्रतिपत्ते च मूलालापाः ।

लब्ध्यपूर्णं एकः अपर्याप्तो भवति आलापः ॥ ७१९ ॥

अर्थ—संज्ञी जीवके जितने गुणस्थान होते हैं उनमेंसे मिथ्यादृष्टि या विशेष गुणस्थानको प्राप्त होनेवालेके मूलके समान ही आलाप समझने चाहिये । और लब्ध्यपर्याप्तके संज्ञीके एक अपर्याप्त ही आलाप होता है । **भावार्थ—**संज्ञी जीवोंमेंसे तिर्यग्यके पांच ही

गुणस्थान होते हैं । इनमेंसे मिथ्यात्व सासादन असंयतमें तीन २ आलाप होते हैं । और मिश्र देशसंयतमें एक पर्याप्त ही आलाप होता है । दूसरे संज्ञी जीवोंमें सामान्य गुणस्थानोंमें जो आलाप कहे हैं उसी तरह समझना चाहिये । संज्ञी जीवोंमें नारकी और देवोंके चार तथा मनुष्योंके चौदहों गुणस्थान होते हैं ।

क्रमप्राप्त कायमार्गणाके आलापोंको दो गाथाओंमें गिनाते हैं ।

भूआउतेउवाऊणिच्चचदुग्गादिणिगोदगे तिणिण ।

ताणं थूळेदरसु वि पत्तेगे तडुभेदेवि ॥ ७२० ॥

तसजीवाणं ओघे मिच्छादिगुणे वि ओघ आलाओ ।

लद्धिअपुण्णे एक्कोऽपज्जत्तो होदि आलाओ ॥ ७२१ ॥

भूमेनोवायुनित्यचतुर्गतिनिगोदके त्रयः ।

तेषां स्थूलेतरयोरपि प्रत्येके तद्विभेदेपि ॥ ७२० ॥

त्रसजीवानामोघे मिथ्यात्वादिगुणेऽपि ओघ आलापः ।

लब्ध्यपूर्णे एक अपर्याप्तो भवत्यालापः ॥ ७२१ ॥

अर्थ—पृथिवी जल अग्नि वायु नित्यनिगोद चतुर्गतिनिगोद इनके स्थूल और सूक्ष्म भेदोंमें तथा प्रत्येकके सप्रतिष्ठित अप्रतिष्ठित दो भेदोंमें तीन २ आलाप होते हैं । त्रसजीवोंमें चौदह गुणस्थान होते हैं । इनके आलापोंमें कुछ विशेषता नहीं है । गुणस्थानसामान्यके जिस तरह आलाप बताये हैं उसी तरह यहां भी समझने चाहिये । पृथ्वीसे लेकर त्रसपर्यंत जितने भेद हैं उनमें जो लब्ध्यपर्याप्त हैं उनके एक लब्ध्यपर्याप्त ही आलाप होता है । योगमार्गणोंमें आलापोंको बताते हैं ।

एक्कारसजोगाणं पुण्णगदाणं सपुण्णआलाओ ।

मिस्सचउक्कस्स पुणो सगएक्कअपुण्णआलाओ ॥ ७२२ ॥

एकादशयोगानां पूर्णगतानां स्वपूर्णांलापः ।

मिश्रचतुष्कस्य पुनः स्वैकैकापूर्णांलापः ॥ ७२२ ॥

अर्थ—चार मनोयोग चार वचनयोग सात काययोग इन पंद्रह योगोंमेंसे औदारिक मिश्र वैक्रियिकमिश्र आहारकमिश्र कार्माण इन चार योगोंको छोड़कर शेष ग्यारह योगोंमें अपना २ एक पर्याप्त आलाप होता है । और शेष उक्त चार योगोंमें अपना २ एक अपर्याप्त आलाप ही होता है ।

अवशिष्ट मार्गणाओंके आलापोंको संक्षेपमें कहते हैं ।

वेदावाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघ आलाओ ।

णवरि य संद्वितीणं णत्थि हु आहारमाण दुगं ॥ ७२३ ॥

वेदादाहार इति च स्वगुणस्थानानामोष आलापः ।

नवरि च षण्दस्त्रीणां नास्ति हि आहारकानां द्विकम् ॥ ७२३ ॥

अर्थ—वेदमार्गणासे लेकर आहारमार्गणापर्यन्त दशमार्गणाओंमें अपने २ गुणस्थानके समान आलाप होते हैं । विशेषता इतनी है कि जो भावनपुंसक या भावस्त्रीवेदी हैं उनके आहारक—काययोग और आहारक—मिश्रकाययोग नहीं होता । **भावार्थ**—जिस २ मार्ग-णामें जो २ गुणस्थान सम्भव हैं और उनमें जो २ आलाप बताये हैं वे ही आलाप उन २ मार्गणाओंमें होते हैं, इनको यथासम्भव लगालेना चाहिये । गुणस्थानोंके आलापोंको पहले बता-चुके हैं अतः पुनः यहांपर लिखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा गइंदिया काया ।

जोगा वेदकसाया णाणजमा दंसणा लेस्सा ॥ ७२४ ॥

भव्वा सम्मत्तावि य सण्णी आहारगा य उवजोगा ।

जोगा परूविद्व्वा ओघादेसेसु समुदायं ॥ ७२५ ॥

गुणजीवाः पर्याप्तयः प्राणाः संज्ञाः गतीन्द्रियाणि कायाः ।

योगा वेदकसायाः ज्ञानयमा दर्शनानि लेख्याः ॥ ७२४ ॥

भव्याः सम्यक्त्वान्यपि च संज्ञिनः आहारकाश्चोपयोगाः ।

योग्याः प्ररूपितव्या ओघादेशयोः समुदायम् ॥ ७२५ ॥

अर्थ—चौदह गुणस्थान, चौदह जीवसमास, छह पर्याप्ति, दश प्राण, चार संज्ञा, चार गति, पांच इन्द्रिय, छह काय, पन्द्रह योग, तीन वेद, चार कषाय, आठ ज्ञान, सात संयम, चार दर्शन, छह लेख्या, भव्यत्व अभव्यत्व, छह प्रकारके सम्यक्त्व, संज्ञित्व, असंज्ञित्व, आहारक अनाहारक, बारह प्रकारका उपयोग इन सबका यथायोग्य गुणस्थान और मार्गणास्थानोंमें निरूपण करना चाहिये । **भावार्थ**—इन बीस स्थानोंमेंसे कोई एक विवक्षित स्थान शेष स्थानोंमें कहां २ पर पाया जाता है इस बातका आगमके अविरुद्ध वर्णन करना चाहिये । जैसे चौदह गुणस्थानोंमेंसे कौन २ सा गुणस्थान जीवसमासके चौदह भेदोंमेंसे किस २ विवक्षित भेदमें पाया जाता है । अथवा जीवसमास या पर्याप्तिका कोई एक विवक्षित भेद-रूप स्थान किस २ गुणस्थानमें पाया जाता है इसका वर्णन करना चाहिये । इसी प्रकार दूसरे स्थानोंमें भी समझना चाहिये ।

जीवसमासमें कुछ विशेषता है उसको बताते हैं ।

ओधे आदेसे वा सण्णीपज्जंतगा हवे जत्थ ।

तत्त य उणवीसंता इगिविंतिगुणिदा हवे ठाणा ॥ ७२६ ॥

अथे आदेशे वा संज्ञिपर्यन्तका भवेयुर्यत्र ।

तत्र चैकोनविंशता एकद्वित्रिगुणिता भवेयुः स्थानानि ॥ ७२६ ॥

अर्थ—सामान्य (गुणस्थान) या विशेषस्थानमें (मार्गणास्थानमें) संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्यन्त मूलजीवसमासोंका जहां निरूपण किया है वहां उत्तर जीवसमासस्थानके भेद उन्नीसपर्यन्त होते हैं । और इनका भी एक दो तीनके साथ गुणा करनेसे क्रमसे उन्नीस अड़तीस और सत्तावन जीवसमासके भेद होते हैं । **भावार्थ**—गुणस्थान और मार्गणाओंमें जहां संज्ञि-पर्यन्त भेद बताये हैं, वहां ही जीवसमासके एकसे लेकर उन्नीसपर्यन्त भेद और पर्याप्त अपर्याप्त इन दो भेदोंसे गुणा करनेकी अपेक्षा अड़तीस भेद, तथा पर्याप्त निर्वृत्त्यपर्याप्त लब्ध्यपर्याप्त इन तिन भेदोंसे गुणा करनेकी अपेक्षा सत्तावन भेद भी समझने चाहिये । इसका विशेष स्वरूप जीवसमासाधिकारमें कहचुके हैं ।

“ गुणजीवे ”—रत्यादि गाथाके द्वारा बताये हुए बीस भेदोंकी योजना करते हैं ।

वीरमुहकमलणिग्गयसयलसुयग्गहणपयउणसमत्थं ।

णमिऊणगोयममहं सिद्धंतालावमणुबोच्छं ॥ ७२७ ॥

वीरमुखकमलनिर्गतसकलश्रुतग्रहणप्रकटनसमर्थम् ।

नत्वा गौतममहं सिद्धान्तालापमनुवक्ष्ये ॥ ७२७ ॥

अर्थ—अंतिम तीर्थंकर श्रीवर्धमानस्वामीके मुखकमलसे निर्गत समस्त श्रुतसिद्धान्तके ग्रहण करने और प्रकट करनेमें समर्थ श्रीगौतमस्वामीको नमस्कार करके मैं उस सिद्धान्तालापको कहूंगा जो कि वीर भगवान्के मुखकमलसे उपदिष्ट श्रुतमें वर्णित समस्त पदार्थोंके प्रकट करनेमें समर्थ है । **भावार्थ**—जिस तरह श्रीगौतमस्वामी तीर्थंकर भगवान्के समस्त उपदेशको ग्रहण और प्रकट करनेमें समर्थ हैं उसी तरह यह आलाप भी उनके (भगवान्के) समस्त श्रुतके ग्रहण और प्रकट करनेमें समर्थ है । क्योंकि इस सिद्धान्तालापमें उन्ही समस्त पदार्थोंका वर्णन है जिनको कि श्रीगौतमस्वामीने भगवान्के समस्त श्रुतको ग्रहण करके प्रकट किया है ।

पहले गुणस्थान जीवसमास आदि बीस प्ररूपणाओंको बताचुके हैं उनमें तथा उनके उत्तर भेदोंमें क्रमसे एक २ के ऊपर यह आलाप आगमके अनुसार लगालेना चाहिये कि विवक्षित किसी एक प्ररूपणाके साथ शेष प्ररूपणाओंमेंसे कौन २ सी प्ररूपणा अथवा उनका उत्तर भेद पाया जाता है । इनका विशेष स्वरूप देखनेकी जिनको इच्छा हो वे इसकी संस्कृत टीका अथवा बड़ी भाषाटीकामें देखें ।

इन आलापोंको लगाते समय जिन बातोंका अवश्य ध्यान रखना चाहिये उन विशेष बातोंको ही आचार्य यहां पर दिखाते हैं ।

सर्व्वेसिं सुदुमाणं काओदा सर्व्वविगहे सुक्ता :

सर्व्वो मिस्सो देहां कओदवण्णो हवे णियमा ॥ १ ॥

सर्व्वेषां सूक्ष्माणां कपोताः सर्व्वेतिग्रहे शुक्ताः ।

सर्व्वो मिश्रो देहः कपोतवर्णो भवेन्नियमात् ॥ १ ॥

अर्थ—पृथिवीकायादि समस्त सूक्ष्मकी कपोत लेश्या ही होती है । तथा समस्त विग्रहगतिसम्बन्धी कर्मणशरीरकी शृङ्खल लेश्या होती है । तथा समग्र मिश्र शरीर नियमसे कपोतवर्ण-वाला होता है । **भावार्थ—**अपर्याप्त आलापोंमें द्रव्यलेश्या कपोत और शुक्ल ये दो ही होती हैं । इसके सिवाय और भी विशेषता है वह यह है कि मनुष्यरचना सम्बन्धी प्रमत्तादि गुण-स्थानोंमें जो तीन वेद बताये हैं वे द्रव्यवेदकी अपेक्षासे हैं । भाववेदकी अपेक्षासे एक पुरुष वेदही होता है । तथा स्त्री नपुंसक वेदके उदयमें आहारक योग मनःपर्यय ज्ञान परिहारविशुद्धि संयम ये नहीं होते । नारकियोंके अपर्याप्त अवस्थामें सासादन गुणस्थान नहीं होता । तथा किसी भी अपर्याप्त अवस्थामें मिश्र गुणस्थान नहीं होता । इत्यादि और भी जो नियम “पुढवी आदि चउण्ह” आदि पहले बताये हैं उनको तथा अन्यत्र भी कहे हुए नियमोंको आलाप लगाते समय ध्यानमें रखना चाहिये ।

और भी कुछ नियमोंको गिनांत हैं ।

मणपज्जवपरिहारो पढमुवसम्मत्त दोण्णि आहारा ।

एदेसु एक्कपगदे णत्थित्ति असेसयं जाणे ॥ ७२८ ॥

मनःपर्ययपरिहारौ प्रथमोपसम्यक्त्वं द्वावाहारौ ।

एतेषु एकप्रकृते नास्तीति अशेषकं जानीहि ॥ ७२८ ॥

अर्थ—मनःपर्यय ज्ञान परिहारविशुद्धि संयम प्रथमोपशमसम्यक्त्व और आहारकद्रव्य इनमें किसी भी एकके हेतुपर शेष भेद नहीं होते ऐसा जानना चाहिये ।

विदियुवसमसम्मत्तं सेढीदोदिण्णि अविरदादीसु ।

सगसगलेस्सामरिदे देवअपज्जत्तगेव हवे ॥ ७२९ ॥

द्वितीयोपशमसम्यक्त्वं श्रेणितोऽवतीर्णोऽविरतादिषु ।

स्वकस्वकलेश्यामृते देवापर्याप्तक एव भवेत् ॥ ७२९ ॥

अर्थ—उपशमश्रेणिते उत्तरकर अविरतादिक गुणस्थानोंको प्राप्त करनेवालोंमेंसे जो अपनी २ लेश्याके अनुसार मरण करके देवपर्याप्तको प्राप्त करता है उसहीके अपर्याप्त अवस्थामें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व होता है । **भावार्थ—**चारगतिमेंसे एक देव अपर्याप्तको छोड़कर अन्य किसी भी गतिकी अपर्याप्त अवस्थामें द्वितीयोपशम सम्यक्त्व नहीं होता ।

१ यह गाथा यद्यपि लेश्या मार्गणमें भी आचुकी है तथापि यहाँपर भी इसको उपयोगी समझकर पुनः लिख दिया है ।

गुणस्थनियोंका स्वरूप बताकर गुणस्थानातीत सिद्धोंका स्वरूप बताते हैं ।

सिद्धाणं सिद्धगई केवलणाणं च दंसणं खयियं ।

सम्मत्तमणाहारं उवजोगाणक्कमपउत्ती ॥ ७३० ॥

सिद्धानां सिद्धगतिः केवलज्ञानं च दर्शनं क्षायिकम् ।

सम्यक्त्वमनाहारमुपयोगानामक्रमप्रवृत्तिः ॥ ७३० ॥

अर्थ—सिद्ध जीवोंके सिद्धगति केवलज्ञान क्षायिकदर्शन क्षायिकसम्यक्त्व अनाहार और उपयोगकी अक्रम प्रवृत्ति होती है । **भावार्थ—**छद्मस्थ जीवोंके क्षायोपशमिक ज्ञान दर्शनकी तरह सिद्धोंके क्षायिक ज्ञान दर्शनरूप उपयोगकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु युगपत् होती है । तथा सिद्धोंके आहार नहीं होता—वे अनाहार होते हैं । क्योंकि उनसे कर्मका और नोकर्मका सर्वथा सम्बन्ध ही छूटगया है । “ णोकम्मकम्महारो कवल्लहारो य लेप्पमाहारो ओजमणोवि य कमसो आहारो छिन्धिहो णेयो ” ॥ १ ॥ इस गाथाके अनुसार नोकर्म और कर्म भी आहार ही हैं, अतः सर्वथा अनाहार सिद्धोंके ही होता है ॥

गुणजीवठाणरहिया सण्णापज्जत्तिपाणपरिहीणा ।

सेसणवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति ॥ ७३१ ॥

गुणजीवस्थानरहिताः संज्ञापर्याप्तिप्राणपरिहीनाः ।

शेषनवमार्गणोनाः सिद्धाः शुद्धाः सदा भवन्ति ॥ ७३१ ॥

अर्थ—सिद्ध परमेष्ठी, चौदह गुणस्थान चौदह जीवसमास चार संज्ञा छह पर्याप्ति दश प्राण इनसे रहित होते हैं । तथा इनके सिद्धगति ज्ञान दर्शन सम्यक्त्व और अनाहारको छोड़कर शेष नव मार्गणा नहीं पाई जाती । और ये सिद्ध सदा शुद्ध ही रहते हैं; क्योंकि मुक्ति-प्राप्तिके बाद पुनः कर्मका बन्ध नहीं होता ।

अंतमें बीस भेदोंके जाननेके उपायको बताते हुए इसका फल दिखाते हैं ।

णिक्खेवे एयत्थे णयप्पमाणे णिरुत्तिअणियोगे ।

मग्गइ वीसं भेयं सो जाणइ अप्पसब्भावं ॥ ७३२ ॥

निक्षेपे एकार्थे नयप्रमाणे निरुत्तचनुयोगयोः ।

मार्गयति विशं भेदं स जानाति आत्मसद्भावम् ॥ ७३२ ॥

अर्थ—जो भव्य उक्त गुणस्थानादिक बीस भेदोंको निक्षेप एकार्थ नय प्रमाण निरुक्ति अनुयोग आदिके द्वारा जानलेता है वही आत्मसद्भावको समझता है । **भावार्थ—**जिनके द्वारा पदार्थोंका समीचीन व्यवहार हो ऐसे उपायविशेषको निक्षेप कहते हैं । इसके चार भेद हैं, नाम स्थापना द्रव्य और भाव । इनकेद्वारा जीवादि समस्त पदार्थोंका समीचीन व्यवहार होता है । जैसे किसी अर्थ विशेषकी अपेक्षा न करके किसीकी जीव यह

संज्ञा रखदी इसको जीवका नामनिक्षेप कहते हैं । किसी काष्ठ चित्र मूर्ति आदिमें किसी जीवकी ' यह वही है ' ऐसे संकल्परूपको स्थापनानिक्षेप कहते हैं । स्थापनामें स्थाप्यमान पदार्थकी ही तरह उसका आदर अनुग्रह होता है । भविष्यत् या भूतको वर्तमानवत् कहना जैसे कोई देव मरकर मनुष्य होनेवाला है उसको देवपर्यायमें मनुष्य कहना अथवा मनुष्य होनेपर देव कहना यह द्रव्यनिक्षेपका विषय है । वर्तमान मनुष्यको मनुष्य कहना यह भाव-निक्षेपका विषय है । प्राणभूत साधारण लक्षणको एकार्थ कहते हैं । जैसे जीवका लक्षण दश प्राणोंमेंसे यथासम्भव पाणोंका धारण करना या चेतना (जानना और देखना) है । यही जीवका एकार्थ है । वस्तुके अंशग्रहणको नय कहते हैं । जैसे जीवशब्दके द्वारा आत्माकी एक जीवत्वशक्तिका ग्रहण करना । एक शक्तिके द्वारा समस्त वस्तुके ग्रहणको प्रमाण कहते हैं । जैसे जीवशब्दके द्वारा संपूर्ण आत्माका ग्रहण करना । जिस धातु और प्रत्ययके द्वारा जिस अर्थमें जो शब्द निष्पन्न हुआ है उसके उसही प्रकारसे दिखानेको निरुक्ति कहते हैं । जैसे जीवति जीविष्यति अजीवीत् वा स जीवः=जो जीता है या जीवेगा या जिया हो उसको जीव कहते हैं । जीवादिक पदार्थोंके जाननेके उपाय विशेषको अनुयोग कहते हैं । उसके ब्रह्म भेद हैं । निर्देश (नाममात्र या स्वरूप अथवा लक्षणका कहना) स्वामित्व, साधन (उत्पत्तिके निमित्त) अधिकरण, स्थिति (कालकी मर्यादा) भेद । इन उपायोंमें जो उक्त वीसप्रकरण-ओंको जानलेता है वही आत्माके समीचीन स्वरूपको समझ सकता है ।

॥ इति आलापाधिकारः ॥



अन्तमें आशीर्वादस्वरूप गाथाको आचार्य कहते हैं ।

अज्जज्जेणगुणगणसमूहसंधारिअजियसेणगुरू ।

भुवणगुरू जस्स गुरू सो राओ गोम्मटो जयतु ॥ ७३३ ॥

आर्यायसेनगुणगणसमूहसंधार्यजितसेनगुरुः ।

भुवनगुरुर्यस्य गुरुः स राजा गोम्मटो जयतु ॥ ७३३ ॥

अर्थ—श्रीआर्यसेन आचार्यके अनेक गुणगणको धारण करनेवाले और तीनलोकके गुरु श्रीअजितसेन आचार्य जिसके गुरु हैं वह श्री गोम्मट (चामुण्डराय) राजा नयवन्ता रहो ।

॥ इति गोम्मटसारस्य जीवकाण्डं समाप्तम् ॥

अकारादिके क्रमसे गाथासूची

गाथा.	अ.	पृ. गा.	गाथा.	पृ. गा.
अद्भीमर्दसणेण	...	५६।१३५	अंतोमुहुत्तमेत्ता	...
अंगुलअसंख	७०।१७१	अदत्तेस्स वारस	...
अंगुलअसंख	१८।३३५	अपदिदिदपत्तेणं	...
अंगुलअसंख	१४७।३८९	अपदिदिदपत्तेया	...
अंगुलअसंख	३४७।३९०	अप्पपरोमय	...
अंगुलअसंख	१४९।३९८	अयदोत्ति छ	...
अंगुलअसंख	१५०।४००	अयदोत्ति हु अवि	...
अंगुलअसंख	१५२।४०८	अवरद्धवादुवरिम	...
अंगुलअसंख	२४७।६६९	अवरद्धे अवस्व	...
अंगुलअसंख	१५३।४०३	अवरपरित्ता	...
अंगुलमावलिया	...	९२।२२८	अवरमपुणं	...
अंगोवंगुदया	२७३।७३३	अवरा पन्नाय	...
अन्नमसेणगुण	...	३५।८०	अवस्वीर इगि...	...
अन्नमलेच्छ...	...	२०९।५६३	अवस्वीरिम्मि	...
अज्जीवेसु य रुवी	...	२१३।५७४	अवरो वरसंख...	...
अट्ठीसद्धलवा	...	३०।६८	अवरोग्गाहण	...
अट्ठविहक्रम्म	१६५।४५२	अवरोग्गाहण	...
अट्ठं कम्मार्ण	...	१३५।३५७	अवरो जुलाणंतो	...
अट्ठारसछत्तीसं	...	२३२।६२८	अवरोहिखेत्त	...
अट्ठेव सयसहस्सा	...	९३३।३५०	अवरोहिखेत्त	...
अडकोडिएय	११६।३००	अवरं तु ओहि	...
अण्णाणतिथं होदि	...	२२३।६०५	अवरं दव्वमुदा	...
अण्णोणुवयारेण	...	२७।६०	अवरंसमुदा होति	...
अणुलोहं वेदंतो	...	१७१।४७३	अवरंसमुदा सो	...
अणुलोहं वेदंतो	...	२१९।५९३	अवरं होदि अणंतं	...
अणुसंखासंखे...	...	१३२।३८७	अवहीयदिति...	...
अथक्खरं च...	...	१२१।३१४	अवघादादी अंतो	...
अत्यादो अत्यंतर	...	७९।१९६	असहायणाण	...
अत्थि अणंता जीवा	...	१७७।४९१	अमुराणमंगंखे	...
अंतरभावपव...	...	१९९।५५२	अमुराणमसं	...
अंतरमवहक्कसं	...	२३।५०	अमुहाणं वर	...
अंतोमुहुत्तकालं	...	२४।५३	अहमिदा जह देवा	...
अंतोमुहुत्तमेत्ता	...	२१।४९	अहिमुहाणियमिय	...
अंतोमुहुत्तमेत्ता	...	९९।२५२	अहियारो पाहुड्यं	...
अंतोमुहुत्तमेत्तं	...			

गाथा.	पृ. गा	गाथा.	पृ. गा.
एगणुं तु ज ...	२५२।६०९	किमिरायनक ...	१११।२८६
एगणिगोदसरिरे ...	७९।१९४	कुम्भुण्णो जो ...	३६।८२
एदम्हि गुणठाणे ...	२३।११	केवलणाणदि ...	२८।२३
एदम्हि विभज्जंते ...	१६९।२९७	केवलणाणाणं ...	१९३।५३८
एदे भावा णियमा ...	६।१२	ख	
एयक्खरादु ...	१२८।३३४	खेवं सयल ...	२२२।६०३
एयदवियम्मि ...	२१५।५८१	खेधा असंखलोमा ...	७८।१९३
एयपदादो उव ...	१२८।३३६	खयउवसमिय ...	२४१।६५०
एया य कोडिकोडी ...	१८।११६	खबगे य स्त्रीणमोहे ...	२९।६७
एयंत बुद्ध ...	८।१६	स्त्रीणे रसणमोहे ...	२३९।६४५
एवं असंखलोग ...	१२७।३३१	खेत्तादो अमुह ...	१९३।३७
एवं उवरि विणेओ ...	४६।१११	ग	
एवं गुणसंजुत ...	२२५।६१०	गइदंदियेमु ...	५८।१४१
एवं तु समुग्घादे ...	१९६।५४६	गइउदयज ...	५९।१४५
क		गच्छसमा तक्का ...	१५५।६१७
कदकफल्लजुद ...	२७।६१	गतनममनंग ...	१३६।३६२
कंदस्स व सल्लस ...	७६।१८८	गदिठाणोग्गह ...	२१०।५६५
कप्पवहार ...	१४०।३६७	गदिठाणोग्गह ...	२२३।६०४
कप्पसुराणं ...	१६०।४३२	गच्चनजीवाणं ...	३७।८७
कम्मइयकाय ...	२४८।६७०	गच्चनगुडिथि ...	१०८।२७९
कम्मइयवग्गा ...	१५३।४०९	गाउयपुधत्त ...	१६६।४५४
कम्मव य कम्ममवं ...	९५।२४०	गुणजीवा ...	२।२
कम्मोराणिय ...	१०३।२६३	गुणजीवा पज्जत्ती ...	२५०।६७६
कमवणुत्तर ...	१३२।३४८	गुणजीवा पज्जत्ती ...	३६९।७२४
काऊणीलकिण्हं ...	१८०।५०१	गुणजीवठाण ...	२७२।७३१
काऊ काऊ काऊ ...	१८९।५२८	गुणपच्चइगो ...	१४१।३३१
कालीवैसेसेण ...	१५२।४०७	गुहसिरसंधि ...	७६।१८६
काले चउण्ण ...	१५३।४११	गोयमथेरं ...	२६३।७०५
कालो छल्लेस्सा ...	१९८।५५०	घ	
कालोवि य ववएसो ...	२१५।५७९	घणअंगुलपट्टम ...	६५।१६०
कालं अस्सिय ...	२११।५७०	च	
किण्हवउक्काणं ...	१८८।५२६	चउगइसख ...	१२९।३३८
किण्हतियाणं ...	१८९।५२७	चउ पण चोइस ...	२५०।६७७
किण्हवरंसेण सुदा ...	१८७।५२३	चउरस्सवथावर ...	२५५।६९०
किण्हं सिलास ...	११२।२९१	चउसत्तिपदं ...	१३३।३५२
किण्हा णीला काऊ ...	१७७।४९२	चक्कण जं पया ...	१७४।४८३
किण्हादिरासि ...	१९२।५३६	चक्कसोदं ...	७०।१७०
किण्हादिलेस्स ...	२०१।५५५	चंडो ण मुचइ ...	१८३।५०८

गाथा.	पृ. गा.	गाथा.	पृ. गा.
चत्तारिवि स्त्रे ...	२४२।६५२	जाहिव जासु व ...	५८।१४०
चदुर्गदि भन्वो ...	२४२।६५१	जीवदुर्ग उत्तर्धं ...	२२९।६२१
चदुर्गदिमदि ...	१६७।६६०	जीवा अर्णतसंखा ...	२१७।५८७
चंदरविजंतु ...	१३६।३६०	जीवा चोद्दसमे ...	१७२।४७७
चरमभरासाण ...	२३६।६३७	जीवाजीवं दव्वं ...	२०९।५६२
चरिसुव्वंकेण ...	१२७।२३२	जीवारणं च य रासी ...	१२४।३२३
चागी भद्दो चोक्खो ...	१८४।५१५	जीवादोर्णत ...	९८।२४८
चित्तियमिचित्तियं ...	१६१।४३७	जीवादोर्णतसु ...	२२१।५९८
चित्तियमिचित्तियं ...	१६५।४८८	जीविदरं कम्म ...	२३८।६४२
चोद्दसमगण ...	१२९।३३९	जेंद्रावरवहु ...	२३३।६३१
छ		जेंसि ण संति ...	९६।२४२
छाणाणं आ ...	१२५।४३७	जेंहि अणेया ...	३१।७०
छोत्ति पढम ...	२५९।७०१	जोइसियवाण ...	१०७।२७६
छद्द्व्वाव्वाणं ...	२१५।५८०	जोइसियंताणो ...	१६१।४३६
छद्द्व्वेयु य णामे ...	२०८।५६१	जोइसियादो अहिया ...	१९३।५३९
छपयणील ...	१७८।४९४	जोगपउत्ती ...	१७६।४८९
छपंचारिय ...	४८।११५	जोगं पडि जोगि ...	२६४।७१०
छपंचणविवि ...	२०८।५६०	जोगे चउरक्खा ...	१७५।४८६
छस्सय जोयण ...	६३।१५५	जो णेव सच्चमोसो ...	८९।२२०
छस्सयफणासाई ...	१३७।३६५	जो तसव्वाहु ...	१४।३१
छादयदि सयं ...	१०६।२७३	ठ	
छेत्तणय पीर- ...	१७०।४७०	ठाणेहिंवि जोणीहिं ...	३३।७४
ज		ण	
जणवइसम्मदि ...	८९।२२१	णक्कसाये ...	१९१।५३२
जत्तस्स पहं ...	२१०।५६६	णट्ठपमाए पढमा ...	५७।१३८
जत्थेक्कमरद ...	७७।१९२	णट्ठासेसपमादो ...	२०।४६
जम्मं खलु सम्मु ...	३६।८३	णय कुणइ पक्खवायं ...	१८५।५१६
जम्बूदीवे भरहो ...	७८।१९४	णय जे भव्वाभव्वा ...	२०२।५५८
जम्हा उवरिम ...	२१।४८	णय परिणमदि ...	२११।५६९
जं सामणं ...	१७४।४८१	णय पत्तियइ ...	१८३।५१२
जह कंचणममिग ...	८१।२०२	णय मिच्छत्तं ...	२४२।६५३
जहरवादसंजमो ...	१६९।४६७	णय सच्चमोस ...	८८।२१८
जह पुण्णापुण्णाई ...	४८।११७	णरतिरियाणं ...	१८९।५२९
जह भारवहो ...	८१।२०१	णरतिरिय ...	११५।२९२
जाइजरामरण ...	६२।१५१	ण रमंति जदो ...	६०।१४६
जाई अविणाभावी ...	७३।१८०	णरत्तिअपज्जत्त ...	२६६।७१५
जाणइ कक्काकनं ...	१८४।५१४	णरलोएत्ति य... ..	१६६।४५५
जाणइ तिकाल ...	११५।२९८	णवमी अणक्खर ...	९०।२२५

गाथा	पृ. गा	गाथा.	पृ. गा.
णव य पदत्या ...	२०१६२०	तत्तो ल्वत ...	१६११४२५
णवरि य दुस ...	१००१२५४	तत्तो ल्वत ...	२३५१६३९
णवरि विसेसं ...	१२२१३१८	तद्देहमंगुलम्स ...	७४११८३
णवरि समुग्धा ...	१९७१५४९	तद्विद्यकरो भव ...	१७१४०
णवरि य मुक्ता ...	२५५१६९२	तद्विद्यकमाय ...	१७०१६८८
णवि इंदिय ...	७११३७३	तद्विद्यनमभुग ...	६४१५७
णाणं पंचविहं ...	२४८१६७२	तद्विद्यनमभुग ...	४४११०५
णाणुवजोगजुदाणं ...	२४८१६७५	तद्विद्यनमभुग ...	१६६१४५३
णारयतिरिक्ख ...	११११२८७	तद्विद्यनमभुग ...	३१७१
णिकिखनु बिदिय ...	१६१३८	तद्विद्यनमभुग ...	२६८१७२१
णिकखेवे एयत्थे ...	२७२१७३२	तद्विद्यनमभुग ...	८३२०५
णिच्चिदरधादु ...	३९१८९	तद्विद्यनमभुग ...	९७१२४७
णिद्धापयले ...	२५१५५	तद्विद्यनमभुग ...	४४११०४
णिद्धावंचण ...	१८३१५१०	तद्विद्यनमभुग ...	७१११७५
णिद्धेसवणपरि ...	१७७१४९०	तद्विद्यनमभुग ...	१०४१२६६
णिद्धत्तं लुक्खत्तं ...	२२४१६०८	तद्विद्यनमभुग ...	१०५१२६८
णिद्धिणिद्धा ण ...	२२५१६११	तद्विद्यनमभुग ...	१०५१२६७
णिद्धस्स णिद्धेण ...	२२६१६१४	तद्विद्यनमभुग ...	९७१२४५
णिद्धिदरोली ...	२२६१६१२	तद्विद्यनमभुग ...	२५१५४
णिद्धिदरवरु ...	२२८१६१७	तद्विद्यनमभुग ...	६६१६२
णिद्धिदरगुणा ...	२२८१६१८	तद्विद्यनमभुग ...	१०४१२७५
णिद्धिदरे सम ...	२२७१६१५	तद्विद्यनमभुग ...	५११२२
णिम्मल्लखं ...	१८२१५०७	तद्विद्यनमभुग ...	६५११५९
णियखेत्ते केवलं ...	९४१२३५	तद्विद्यनमभुग ...	६९१६९
णिरया किद्धा ...	१७८१४९५	तद्विद्यनमभुग ...	१९११५३३
णिस्सेसखीण ...	२८१६२	तद्विद्यनमभुग ...	७३१७९
णेरइया खलु ...	३९१९३	तद्विद्यनमभुग ...	१६२१४४०
णेविल्ली णेव ...	१०६१२७४	तद्विद्यनमभुग ...	२३११६२४
णोईदियआवरण ...	२४५१६५९	तद्विद्यनमभुग ...	२५८१६९९
णोईदियति ...	१६३१४४३	तद्विद्यनमभुग ...	२६५१७१२
णो इंदियेयु वि ...	१३१२९	तद्विद्यनमभुग ...	१५८१४२४
णो कम्मुरालसं ...	१४३१३७६	तद्विद्यनमभुग ...	६०१४७
त		तद्विद्यनमभुग ...	१७९१४९९
तज्जोगो सामणं ...	१०३१२६२	तद्विद्यनमभुग ...	२३११६२५
तत्तो उवरी ...	७१४	तद्विद्यनमभुग ...	२६११७०३
तत्तो एमार ...	६५११६१	तद्विद्यनमभुग ...	१७११४७२
तत्तो कम्मइय ...	१३९१३९६	तद्विद्यनमभुग ...	१९११५५३
तत्तो ताणुत्ताणं ...	२३६१६३८	तद्विद्यनमभुग ...	१९८१५४१

गाथा.	पृ. गा.	गाथा.	पृ. गा.
तेउस्सय सद्ग ...	१९६।५४५	देवाणं अवहारा ...	२३४।६३४
तेऊ तेऊ तेऊ ...	१९१।५३४	देवेहिं सादिरेया ...	१०८।२७८
तेऊ पढमे मुक्के ...	१८०।५८०	देवेहिं सादिरेया ...	१०२।२६०
तेजा सरीरज्जे ...	१०१।२५७	देवेहिं सादिरेगो ...	२४६।६६२
तेत्तीसवेज्जणाई ...	१३३।३५१	देसविरेदे ...	७।१३
तेरमकोडी देमे ...	२३७।६४१	देसावहिवर ...	१५३।४१२
तेभिच्छियल्लोद्ध ...	२६५।७१३	देसाहिअवर ...	१४८।१९३
तेवि विसंमण ...	८६।२१३	देसाहिमज्ज ...	१४८।३९४
तेमिं च समांमे ...	९२।२।३७	देसाहिस्स य ...	१४२।३७३
ता वासय अज्झय ...	१३४।३५६	दोगुणणिद्धानु ...	२२६।६१३
थ		दोण्हं पंचय ...	२६३।७०४
धावरकायपहुदी ...	२५३।६८४	दात्तिगपभव ...	२२७।६१६
धावरकायप ...	२५३।५८५	ध	
धावरकायप ...	२५३।६८६	धणुवीमउदस ...	६८।१६७
धावरकायप ...	२५५।६९१	धम्मगुणमग्गणा ...	५७।१३९
धावरकायप ...	२५६।६९३	धम्माधम्मादीणं ...	२११।५६७
धावरकायप ...	२५८।६९७	धुवअदुवस्से ...	१५०।४०१
धावरसंख ...	७१।१७४	धुवकोमुंमय ...	२७।५९
शोवा तिसु ...	१०८।२८०	धुवहारकम्म ...	१४५।३८४
द		धुवहारस्स य ...	१४६।३८७
दव्वं खंतं कालं ...	१४३।३७५	धूलिगल्लकट्ठाणे ...	११३।२९३
दव्वं खंतं कालं ...	१६५।४४९	न	
दव्वं छक्कमकालिय ...	२२८।६१९	नीलुक्कस्सं ...	१८८।५२४
दस चोदस ...	१३१।३४३	प	
दसविहसच्चे ...	८८।२१९	पच्चक्खाणुदयादो ...	१४।३०
दस सणीणं ...	५५।१३२	पच्चक्खाणेव ...	१३१।३४५
दंसणमोह ...	२४०।६४७	पंचक्खतिरि- ...	३८।९१
दंसणमोहुद ...	२४०।६४८	पंचतिहिचहु ...	१७२।४७५
दंसणमोहुव ...	२४१।६४९	पंचवि इंदिय ...	५४।१२९
दंसणवयसामादय ...	१७२।४७६	पंचरस पंच ...	१७३।४७८
दहिदुडमिव वा ...	१०।२२	पंचसंमिदो तिरुतो ...	१७०।४७१
दिण्णच्छेदं ...	८६।२१४	पंचेवे होंति णाणा ...	११६।२९९
दिण्णच्छेदेणवहिद ...	१५६।४२०	पज्जत्तस्स य ...	५०।१२०
दिवसो मिण्ण ...	२१४।७७५	पज्जत्तसरीरस्स ...	५२।१२५
दीव्वंति जदो ...	६१।१५०	पज्जत्तमणुस्साणं ...	६५।१५८
दुगतिगमवा हु ...	१६६।४५६	पज्जत्तीपट्ठवणं ...	५०।११९
दुगवारपाहुडादो ...	१३०।३४१	पज्जत्ती पाणावि ...	२५९।७००
दुविहंपि अप ...	२६४।७०९	पज्जायक्खर ...	१२२।३१६

गोम्मतसारः ।

गाथा.	प. गा.	गाथा.	पृ. गा.
पडिवादी दे—	१४२।३७४	पुण्णजहणं	४२।१००
पडिवादी पुण	१६४।४४६	पुगिमिच्छांत	१०६।२७०
पढमखो अंत—	१७।३९	पुग्गुणभोगं	१०६।२७२
पढमं पढदपमा—	१६।३७	पुग्गुहदुदारु	९२।२२९
पढमुवसमसहि—	५९।१४४	पुव्वं जलथल	१३६।३६१
पणजुगले तस	३३।७६	पुव्वापुव्वफण्य	२६।१८
पण्णदाल पण—	१३६।३६४	पुहपुहकमाय	११४।२९५
पणणउदिसया	१३२।३४६	पाम्मालद्वग्गिहि	२१९।५९२
पण्णवणिजा	१२७।३३३	पाम्मालद्वग्गानं	२१६।५८४
पाणिदरसभोय—	५६।१३७	पोतजरायुज—	३६।८४
पणुवीस जोय—	१५८।४२५	फ	
पत्तैयबुद्धित्थ—	१३३।६३०	फामरसगंध	६७।१६५
पमदादिचउ—	१७३।४७९	ब	
पम्मस्स य सत्ताण	१९७।५४७	बंधो यमयप—	२३८।६४४
पम्मुक्कस्संसमुदा	१८६।५२०	बहुवहुविहं च	११९।०३९
परमणसिद्धियमदं	१६४।४४७	बहुभागे समभागो	७२।१७८
परमाणुष्ठादि	१७६।४८४	बहुवत्तिजादि	१२०।३१०
परमाणुवगणादो	२१९।५९५	बहुविहबहुप—	१७५।४८५
परमाणुहि अणं—	९६।२४४	बादरआऊ	१७८।४९६
परमावाहिवर	१५५।४१८	बादरतेऊवाऊ	९३।२३२
परमावाहिस्स	१४८।३९२	बादरपुणातेऊ	१०१।२५८
परमावाहिस्स	१५६।४१३	बादरबादर	२२२।६०२
परमोहिदव्व	१५०।४१५	बादरमुहमे	३२।७२
पट्ठितियं उव—	९९।२५१	बादरमुहमा	७२।१७६
पट्ठसमऊण	१५३।४१०	बादरमुहम	७४।१८२
पट्ठासंखघणं—	१६८।४६२	बादरसंजल—	१६९।४६५
पट्ठासंखेज्ज	८४।२०८	बादरसंजलणु	१६९।४६६
पट्ठासंखेज्ज—	१७३।४८०	बावीम सत्त	४७।११३
पट्ठासंखेज्ज	२४४।६५८	बास्तुरसय	१३२।३४९
पट्ठासंखेज्जा—	१०२।२५३	बाहिरपाणेहिं	५३।१२८
पस्सदि ओही	१४८।३९५	बित्तिचप पुण्ण	४०।९६
पहिया जे छपु—	१८२।५०६	बित्तिचपमाण	७२।१७७
पुक्खरगहणे	१२१।३१२	विदियुवसम	२७१।७२९
पुग्गलविवाद	८७।२१५	विहोपिहिं चहुहिं	७९।१९७
पुढविदगागणि	५१।१२४	वीजं जोणीभूरे	७६।१८९
पुढवी आऊ तेऊ	७४।१८१	भ	
पुढवी आऊ तेऊ	८०।१९९	भत्तं देवी चंदप्पह	८९।२२२
पुढवी जलं च	२२२।६०१	भरहाम्मि अद्ध	१५।१४०५

गाथा.	पृ. गा.	गाथा.	पृ. गा.
भवणतियाण ...	१५६।४२८	मिच्छाद्री जीवो ...	२४३।६५५
भवपचइगो ...	१४१।३७०	मिच्छाद्री पावा ...	२३०।६२३
भवपचइगो ...	१४२।३७२	मिच्छा सावय ...	२३०।६२२
भवत्तणस्स जोयगा ...	२०२।५५७	मिच्छे खलु ...	६।११
भव्वासम्मत्तावि ...	२६९।७२५	मिच्छे चोइस ...	२५८।६९८
भविया सिद्धी ...	२०१।५५६	मिच्छे सासण ...	२५१।६८०
भावाणं ग्यामण ...	१७४।६८२	मिच्छोदयेण ...	७।१५
भावादो छत्तसा ...	२००।५५४	मिच्छो सासण ...	५।९
भासमणवग्ग— ...	२२४।६०७	मिच्छा सासण ...	२५६।६९४
भिण्णसमयट्ठि ...	२४।५२	मिस्सुदये सम्मिस्सं ...	११६।३०१
भुआउतेउ ...	३२।७३	मिस्सं पुण्णालाओ ...	२६७।७७७
भुआउतेउवाऊ ...	२६८।७२०	मीमांसदि जो पुक्वं ...	२४५।६६१
भोगा पुण्णग ...	१९०।१३०	मूलम्मापोरवीजा ...	७५।१८५
म		मूलसरोरमछे— ...	२४७।६६७
		मूले कंदे छद्दी ...	७६।१८७
मग्गण उवजोया ...	२६०।७०२	य	
मज्झिमअंसेण ...	१८७।५२१		
मज्झिमचउ ...	२५१।६७८	याजकनामंनानन ...	१३६।३६३
मज्झिमदव्वं खेत्तं ...	१६७।४५८	र	
मज्झिमपदक्खर— ...	१३४।३५४		
मण्णाति जत्ते। ...	६०।१८८	रुऊणवेर अवरु ...	४४।१०७
मण्णदव्ववग्गणा ...	१४६।३८५	रुवुत्तरेण तत्तो ...	४५।११०
मण्णदव्ववग्गणा ...	१६५।४५१	रुसट्ठ णिदइ ...	१८३।५११
मण्णपज्जवं च ...	१६२।४३८	ल	
मण्णपज्जवं च ...	१६४।४४४		
मण्णपज्जवपरिहारा ...	२७१।७२८	लद्धिअपुण्णं ...	५२।१२६
मण्णवयणाण ...	८७।२१६	ल्लिपट्ठ आणीकीरट्ठ ...	१७६।४८८
मण्णवयणाणं ...	९१।२२६	लेस्साणं सु ...	१८५।५१७
मण्णसहिंयाणं ...	९१।२२७	लेस्साणुक्कसा— ...	१८१।५०४
मण्णुसिण्णिपमत ...	२६६।७१४	लोगरसअयंखे— ...	२१६।५८३
मदिआवरण ...	६७।१६४	लोगागासपदेसा ...	२१७।५८६
मदिमुदओही ...	२४९।६७३	लोगागासपदेसे ...	२१८।५८८
भंदो बुद्धिहीणो ...	१८३।५०९	लोगागासय ...	२१८।५९०
मरणं पत्थेइ ...	१८३।५१३	लोगाणमसे— ...	१२२।३१५
मरदिअग्गवेज्ज— ...	१९५।५४३	लोगाणमसे— ...	१७९।४९८
मसुरंविदु ...	८१।२००	व	
मायालोहे ...	४।६		
मिच्छत्तं वेदंतो ...	८।१७	वग्गणरासि ...	१४७।३९१
मिच्छाद्री जीवो ...	९।१८	वण्णोदयेण ...	१७७।४९३
		वण्णोदयसंपा— ...	१९२।५३५
		वत्तणहेइ कालो ...	२१०।५६७
		वत्तावत्तपसादे ...	१५।३३

गोमयसारः

६

गाथा.	पृ. ग.	गाथा.	पृ. ग.
वत्तीसं अडदा—	...	सकीसण्णा पदमं	...
वत्थुणिमित्तं	सका चम्पूदीवे	...
वत्थुस्स पदे—	...	संखा तद्द पत्थासो	...
वसदमिदिकसा—	...	संखातीना	...
वयणेहीं वि	संखाधत्तय जेण्णी	...
वरकालोदंस	संखावल्लिहद	...
ववहारो पुण का—	...	संखेओ ओघो	...
ववहारो पुण ति—	...	संखेज्जपमे वासे	...
ववहारो पुण	संखेज्जामंखेज्जा	...
ववहारो य विय—	...	संखेज्जामंखे—	...
वादरमद्दमे	सगज्जुगालिहं	...
वापणनरतो	सगमाणेहि विभत्ते	...
वामपुधत्ते खइया	...	सगसगअसंस	...
विडल्मदीवि	सगभगवेत्त	...
विकहा तहा	सगसगअवहा	...
विग्गहगदिमा—	...	संगहिद्य मयल	...
विंदावल्लिगोण	...	मेजलण्णोक्कसा—	...
विदियुवयम	मेजलण्णोक्कसा—	...
विवरोयमेहि	सद्धानसमुग्धा—	...
विविहगुण	संठाविद्दुण रुवं	...
विसजंतकूड	सण्णाणतिसं	...
विसयाणं विस—	...	सण्णाणरासि	...
वीरमुहकमल	सण्णिम्म वार...	...
वीरियजुदमदि	सण्णी ओघं मिच्छे	...
वीसं वीसं पाहुड	...	सण्णी सण्णिप	...
वेगुव्वं पज्जेते	सत्ताणं उवममदां	...
वेगुव्विय आहारो	...	सत्ताणं पुटवीणं	...
वेगुव्विय उत्तल्यं	...	सत्तादिणा छम्मागा	...
वेगुव्वियवरसं—	...	सत्तामरिवदिमि	...
वेजणअत्थ	सत्तादी अइता	...
वेणुवपल्लेर—	...	सदमिवसंखो
वेदस्सुदीराण	...	संपुणं तु समगं	...
वेदादाहारोत्ति—	...	सद्दहाणासद्दहाणं	...
वेयणकसाय	सद्दभावमणो सच्चो	...
वेसदछापणं—	...	समओ हु वड्ढा	...
स	...	सम्मत्तंसपादि	...
संकमणे छद्दाणा	...	सम्मत्तदेस म—	...
संकमणं सद्धान	...	सम्मत्तमिच्छपरि—	...

आथा.	पृ. गा.	माथा.	पृ. गा.
गम्मतस्युण ...	१२०	मुकुरस समुखा-	१९६५४४
गम्मतपत्नीए ...	२९६६	मुहं दुगईमि	१९४२९४
समयत्तसंख्या	१०३२६४	मुत्तादो तं समं	१३२८
सम्मादश्री जीवो	१३२७	मुदकेवलं च पाणं	१४०३६८
सम्माभिच्छुदये	१०२१	मुहमणिगोद	३९९४
गव्यं अंगसंभव	१६३४४१	मुहमणिगोद	७०१७२
गव्यं च लोयणालि	१५९४३१	मुहमणिगोद	१२३३१९
सव्वसम्मी	२१८५९१	मुहमणिगोद	१२३३२०
सव्वसमाणे	११४२९६	मुहमणिगोद	१२३३२१
सव्वसमासो	१२६३२९	मुहमणिगोद	१४३३७७
सव्वसमुणं ओध	२६७७१६	मुहदुक्खमुवहु	१०९१२८१
सव्वावाहस एक्क	१५४१६१४	मुहमेसु संख	८४२०७
सव्वेपि पुव्वभंगा	१५३६	मुहमेदरगुण	४२१०१
सव्वेसि मुहमाणं	१७८१६७	मुहमणिवाते	४१९७
सव्वोदिति य क-	१५७४२२	मुहमो मुहम	२५४६८९
संगारी पंचक्खा	६३१५४	मुहो सुई अंगुल	६४१५६
गागारा उवजोगो	४१७	मुहो सुई पञ्च-	२२१५९९
गांतरणिंतरण	२१९१५९४	सुल्लमकिण्ठे	१९३२९२
गामणज्जीव	३३१७५	सुल्लमकिण्ठे	१९०२८४
गामण्णा गेरुया	६२१५२	सुल्लमकिण्ठे	१८६५१८
गामण्णा पंचिर्दा	६११४९	सुल्लमसयं चउ	२३१६२६
गामण्ण य एव	३७८८	गोवक्कमाणुक्कम	१०४२६५
गामण्णे निपंती	३४७८	सो संजमं ण गि-	११२३
गामण्णं पज्जत्त	२६४७०८	सोहम्मसाणा	२३५६३५
गामादयचउ	१४०३६६	सोहम्मादासा-	२३५६३६
गाहरणवादेरुगु	८५२१०	सोहम्मोसाणा	१६१४३४
गाहारणोदयण	७७१९०	सोल्लसय	१२८३३५
गाहारणमाहारो	७७१९१		
गाहियगहस्समेकं	४०१९५	हु	
गिस्खाकिरियु-	२४५६६०	हिदि होदि हु	२६३४४२
सिद्धमुदं	१११	हेट्ठिमउक्कस्सं	२२१६००
गिदाणार्तम	२२०१५९६	हेट्ठा जंसि	४७११२
गिद्धाणं सिद्धगर्द	२७२१७३०	हेट्ठिमछपुदवीणं	५३१२७
सिद्धपुद्वि	११०२८३	हेट्ठिमछपुदवीणं	६३१५३
सिल्लेखेणु	११२१२०	होति अणियट्ठिणो	२६५७
गीदी गशे तालं	५११२३	होति खवा इमि	२३३६२९
गीलेसि संपत्तो	२९६५	होदि अणंतिम	१४६३८८

श्रीरायचन्द्रजेनशास्त्रमालाके प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची ।

१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय—श्रीअमृतचन्द्रसुरिकृत मूल और पं० नाथुरामजी प्रेमीकृत सरल और विस्तृत भाषाटीका । इसमें आचकाचार और अहिंसाके स्वरूपका विशद वर्णन है । मू० सजिन्दका १।)

२ पंचास्तिकाय—(अप्राप्य) पुनः संशोधित होके छपेगी ।

३ ज्ञानार्णव—श्रीशुभचन्द्राचार्यकृत मूल, स्व० पं० जयचन्द्रजीकृत भाषाटीका, बोगके विषयका अपूर्व ग्रंथ है । महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रस्तावना भी है । मूल्य सजिन्दका ४)

४ सप्तभंगीतरंगिणी—श्रीविमलदासकृत मूल और स्व० पं० ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्याकरण-आचार्यकृत भाषाटीका । नव्यन्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है । मूल्य १)

५ बृहद्द्रव्यसंग्रह—(अप्राप्य) पुनः छपेगी ।

६ गोम्मटसार—कर्मकांड—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और भाषाटीका सहित । मूल्य सजिन्दका २॥)

७ गोम्मटसार—जीवकांड—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत संस्कृतछाया और भाषाटीका सहित । मू० सजिन्दका २॥)

८ लघिसार—श्रीनेमिचन्द्राचार्यकृत मूल गाथायें, और स्व० पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृतछाया और हिन्दीटीका सहित । मूल्य सजिन्दका १॥)

९ प्रवचनसार—श्रीभट्टकुन्दकुन्दाचार्यकृत मूल गाथायें, अमृतचन्द्रसुरि और जयनेनजी संस्कृत टीकायें, स्व० पांडे हेमराजजी हिन्दीटीका, डॉ० ए० एन० उपाध्यायजी अंग्रेजीटीका और अंग्रेजीमें महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है । सजिन्दका मूल्य ५)

१० परमात्मप्रकाश और योगसार—श्रीयोगीन्दुदेवकृत अपभ्रंश भाषाके दोहों, श्रीब्रह्मदेवसुरि-कृत संस्कृतटीका, स्व० पं० दोलतरामजीकृत भाषाटीका है । डॉ० ए० एन० उपाध्याय एम० ए०, बी० लिट्० की किछी महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना है, अंग्रेजी प्रस्तावनाका हिन्दी सार भी है । मू० सजिन्दका ४॥)

११ समयसार—(अप्राप्य) संशोधित होकर पुनः छपेगी ।

१२ द्रव्यानुयोगतर्कणा—श्रीभोजसागरकृत, अप्राप्य है ।

१३ स्याद्वादमंजरी—श्रीमल्लिषेणसुरिकृत मूल, और डॉ० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी० कृत हिन्दी अनुवाद सहित । न्यायका अपूर्व ग्रंथ है । बकी खोजते लिखे हुए ११ परिशिष्ट हैं । मूल्य सजिन्दका ४॥)

१४ सभाष्यतत्त्वार्थविमलसूत्र अर्थात् तत्त्वार्थसूत्र मोक्षशास्त्र—श्रीमत् उमास्वातिकृत मूल एवं और संस्कृतभाष्य, पं० खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका, मू० सजिन्दका ३)

१५ पुष्पमाला मोक्षमाला और भावनाबोध—श्रीमद्राजचन्द्रकृत, अनुवादकर्त्ता—पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी०, मूल्य ॥)

१६ उपदेशछाया और आत्मसिद्धि—श्रीमद्राजचन्द्रप्रणीत । अनुवादकर्त्ता—पं० जगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी०, मूल्य ॥)

१७ योगसार—अप्राप्य है ।

१८ श्रीयोगीन्दुदेव और परमात्मप्रकाश—डॉ० डॉ० ए० एन० उपाध्याय, अंग्रेजी ग्रंथ, मू० १)

१९ श्रीमद्राजचन्द्र—श्रीमद्राजचन्द्रजीके समस्त पत्रों, रचनाओं (ग्रन्थों) का अपूर्व संग्रह, अन्धात्मका अपूर्व और विद्याल ग्रंथ है । म० गौबीजीकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना है, अनुवादकर्त्ता डॉ० जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए०, पी० एच० डी०, छपसंख्या १०००, मूल्य सिर्फ ६)

आगे छपेबाके ग्रंथ—श्रीउमास्वातिकृत प्रशामरसिप्रकरण सं० टी०, भा० टी०, श्रीवसन्त-मद्राचार्यकृत आसमीभांसा सं० टी०, भा० टी०, स्वात्मिकार्थिकेयानुप्रेक्षा सं० टी०, भा० टी०, श्रीकुन्दकुन्दाचार्यकृत सप्त ग्रंथ अष्टषाड्ग, नियमसार, रयणसार आदि, मूल गाथायें, सं० टी० और नई हिन्दीटीका सहित छपानेकी व्यवस्था हो रही है ।

शुजयती ग्रंथ—१ श्रीमद्राजचन्द्र—तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ, महात्मा गांधीजीकी किछी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना सहित, अप्राप्य है । २ भावनाबोध—श्रीमद्राजचन्द्रकी अपूर्व रचना, मूल्य सजिन्दका सिर्फ १)

सिक्केका पता—परमकुलप्रभावकर्ममंडल (रायचन्द्रजेनशास्त्रमाला)

डि० लाराकुवा, जोहरीबाजार, बम्बई नं० २

श्रीरायचन्द्रजैनशास्त्रमालाके २ महत्त्वपूर्ण ग्रंथोंका नया प्रकाशन

१ न्यायायतनारः—समाद् विक्रमादित्यकी समाके १ रत्नोंमें से क्षपणक नामक रत्न कल्याणमन्दिरस्तोत्र, सम्प्रतिर्तक आदि महान् ग्रंथोंके रचयिता श्रीसिद्धसेन-दिवाकर इस ग्रंथके मूलकर्ता हैं। सिद्धार्थिगणिकी संस्कृतटीकाका सरल हिन्दी अनुवाद जैनदर्शनाचार्य पं. विजयमूर्ति एम्. ए. ने किया है। न्याय-शास्त्रका मुख्य ग्रंथ है। इसमें न्यायशास्त्रके प्रमाण, लक्षण, नव और उनके भेद, आदि मुख्य मुख्य विषयोंका विशद विवेचन है। पृष्ठसंख्या १४४. मूल्य सजिन्द प्रयका ५) पो. १)

२ प्रशमरतिप्रकरणः—मोक्षशास्त्र-तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता श्रीउमास्वामी-कृत मूलश्लोक, हरिभेदसूत्रिकृत संस्कृतटीका और साहिष्वाचार्य पं. राजकुमारजी शास्त्री कृत सरल हिन्दीटीका। वैराग्य-अध्यात्मका सुन्दर सरल स्पष्ट विवेचन इसमें है। पोष्ठबंध, कषाय, रागादि, आठ कर्म, पंचोन्द्रिय विषय, आठ मदस्थान, आचार, भावना, दशाविधि धर्म, धर्मकथा, नवतत्त्व, उपयोग, भाव, पद्मव्यय, चारित्र्य, शक्ति, ध्यान क्षपकश्रेणी, समुद्रवात, योगनिरोध, मोक्ष-गमन आदि विषयोंका हृदय प्राप्ति वर्षन इसमें है। जिस पढ़कर हृदय गद्गद हो जाता है। पृष्ठसंख्या २४०. मूल्य सजिन्दका ६) पोष्ठेज १=)

सूचना.—उस तरह छपे हुए ग्रंथोंका मूल्य अत्यधिक महँगाईके कारण बढ़ गया है। उनका मूल्य और पोष्ठेज इस प्रकार हैः—

नं ३ का ६) पो. ॥ नं ६ का १) पो. ॥ नं ७ का १) पो. ॥ नं १० का ६) पो. ॥ नं १२ का ६) पो. ॥ नं. १४ का १) पो. ॥ नं. १५ का १०) पो. १)

जिन ग्रंथोंका मूल्य नहीं लिखा है। वे समाप्त हो गये हैं। पुनः छपनेपर मिलेंगे. उनमेंसे कई छप रहे हैं और कईकी छपानेकी व्यवस्था हो रही है। ग्रंथोंका मूल्य पोष्ठेज और रजिस्ट्रीके १)। आनेपर ग्रंथ भेजे जायेंगे। बी. पी. से नहीं। रेल्के मैगानेवाले चौधार्ह दाम पेसगी भेजें। अधिक मूल्यके ग्रंथ मैगानेवाले, प्रभावनाथ वितरण करनेवाले पत्रव्यवहार करके तै कर लें। हम उन्हें पूरी सुविधा देंगे।

पताः--परमशुभप्रसाधकमंडल

रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला

नौकरी केन्द्र, जयपुर

जोडपुराजयपुरमंडल सं. २

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय
L.B.S. National Academy of Administration, Library

मसूरी
MUSSOORIE

यह पुस्तक निर्म्मांकित तारीख तक वापिस करनी है ।
This book is to be returned on the date last stamped

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.

GL H 294.482
SID



120842
LBSNAA

५१
 २७५०५८२ अवाप्ति सं०
 १३७२३ ACC. No.....
 वर्ग सं. पुस्तक सं.
 Class No..... Book No.....
 लेखक
 Author.....
 शीर्षक
 Title.....

H 294.482 LIBRARY 13723
सिद्धान्त LAL BHADUR SHASTRI
National Academy of Administration
MUSSOORIE

Accession No. _____

1. Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
2. An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.
3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
4. Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
5. Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving